सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : सात

शंखध्वनि शशि की तरी समाधिता आस्था
सत्यकाम गीत-अगीत संक्रान्ति

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

अनुक्रम

आस्था २१३-३०२

गीत

अगीत

शंखध्वनि

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७१]

मित्रवर
ई० चेलिशेव को
सस्नेह

भूमिका

'शंखध्वनि' के अन्तर्गत मेरी इधर की नवीन रचनाएँ संगृहीत हैं। इन रचनाओं में मुख्यतः नये जागरण के स्वरों को तथा विश्व जीवन के भीतर उदय हो रहे नये मनुष्यत्व की रूपरेखाओं को अभिव्यक्ति मिली है। कुछ रचनाओं में वर्तमान युग जीवन की विसंगतियों के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रियाएँ तथा कुछ में मेरे व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुगूँजों को भी वाणी मिली है।

यह संग्रह मैंने मित्रवर ई० चेलिशेव को समर्पित किया है। अपनी पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता' में उन्होंने मेरे काव्य का जिस आन्तरिक सहानुभूति के साथ गम्भीर आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, उसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों की तुलना में उनकी दृष्टि अधिक व्यापक, गम्भीर तथा सारग्राही पायी जाती है। उन्होंने भारतीय जीवन संघर्ष के सन्दर्भ में प्रगतिशीलता को जिस रूप में परिभाषित किया है और विदेशी होने पर भी भारतीय जागरण के आह्वान को जिस प्रकार समझने की चेष्टा की है वह उनकी अन्तर्दृष्टि तथा प्रतिभा का परिचायक है। यदि वे मेरी नवीन चेतनामूलक सांस्कृतिक रचनाओं का—जिन्हें आध्यात्मिक रचनाएँ भी कहा जाता है—यथोचित मूल्यांकन नहीं कर सके तो मैं इसे उनकी सीमा न कहकर मार्क्सवाद ही की सीमा कहूँगा, जिससे उनका मूल्यांकन एवं विचारात्मक दृष्टिकोण अनुप्राणित रहा है, एवं जिस वातावरण में उनके जीवन तथा मन का निर्माण हुआ है।

मार्क्सवाद में चेतना तथा पदार्थ अथवा आन्तर तथा वस्तुगत दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में वहीं से एक प्रकार का उलझाव पैदा हो जाता है जहाँ से मार्क्स हीगल के सिर के बल खड़े दर्शन को पैरों के बल खड़ा करना चाहते हैं। इससे तब का पश्चिमी आदर्शवाद—जो हीगल में शिखर पर पहुँचा मिलता है—भले ही पैरों के बल खड़ा हो सका हो पर भारतीय चैतन्यमूलक दृष्टिबिन्दु में—जो 'पदभ्यां पृथ्वी' के अनुरूप सदैव ही पैरों के बल खड़ा रहा है—कोई सैद्धान्तिक या व्यावहारिक अन्तर उपस्थित नहीं होता। भारत में जीवन बोध तथा नैतिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ परिस्थितियों के अधीन न रहकर सदैव ही उनसे ऊपर,

आत्मबोध की व्यापक दृष्टि से अनुप्राणित रही हैं। भारतीय संस्कृति में जीवन मूल्य, चाहे वे व्यक्तिगत हों या सामाजिक, मानवीय मूल्यों के आश्रित रहे हैं और वे मानवीय मूल्य निरन्तर आध्यात्मिक आन्तर मूल्यों पर आधारित रहे हैं।

मूल्य सम्बन्धी इन जटिल एवं गूढ़ समस्याओं को तर्कों के आधार पर सुलझाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। आगामी कुछ दशकों के भीतर विश्व जीवन जो दिशा ग्रहण करेगा उसकी वैचारिक अनुभूति ही मूल्य सम्बन्धी इस भ्रान्ति का निराकरण कर सकेगी। इस युग का मूल्यांकन-संघर्ष इतिहास के लिए भी अनेक दृष्टियों से निर्णायक होगा। तभी मेरी रचनाओं में इस चेतनात्मक संघर्ष के पद-चिह्नों का मूल्यांकन भी सम्भव हो सकेगा। यह सब मुझे इसलिए लिखना पड़ रहा है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आधारित आलोचना का मेरी पिछले तीन-चार दशकों की रचनाओं से विशेष सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में 'उत्तरा' की भूमिका में भी मैं विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत कर चुका हूँ।

मार्क्सवाद केवल मनुष्य के ऐतिहासिक विकास को ही उसका सम्पूर्ण विकास मानता है और उसमें भी उसके ऐतिहासिक भौतिक विकास को, जिस पर उसके अनुसार मानवीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों की श्रेणी निर्भर रहती है। मेरी दृष्टि में ऐतिहासिक विकास, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं इस युग का प्रमुख संचरण होने पर भी, मनुष्य के समदिक् तथा राशिवाचक विकास ही का द्योतक है। सर्वांगीण मानवीय मूल्यों के विकास के लिए अन्य प्रकार के उतने ही महत्त्वपूर्ण ऊर्ध्व-दृष्टि उच्च संचरण भी आवश्यक हैं।

जिस प्रकार मध्ययुगीन भारतीय अध्यात्म, जीवन के अन्य स्तरों की उपेक्षा कर, आध्यात्मिक विकास को ही मानव विकास का सर्वोपरि लक्ष्य मानता रहा उसी प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद सामूहिक भौतिक उन्नयन को ही मानव विकास का चरम लक्ष्य मानता है। भले ही भौतिक समृद्धि की आवश्यकता इस वैज्ञानिक युग में, विकासोन्मुख देशों के लिए, गौण नहीं समझी जा सकती हो, पर है यह एकांगी दृष्टि ही। मध्ययुगों के चिन्तकों ने, ऐतिहासिक संचरण एवं ऐतिहासिक कर्म की उपेक्षा कर, विचारों-भावों को इन्द्रियों से, आत्मा को देह से तथा आध्यात्मिकता को भौतिकता से वियुक्त कर दिया था; वर्तमान युग भी भौतिकता को अध्यात्म से, इन्द्रिय-जीवन को आन्तर मूल्यों से तथा देह को आत्मा या पदार्थ को चेतना से विच्छिन्न करने का प्रयत्न करता है। मूल्यगत दार्शनिक दृष्टियों की इस एकांगिता का समाधान केवल तर्कबुद्धि के बल पर नहीं किया जा सकता, वे काल की कसौटी में कसी जाने पर ही समग्र रूप से परखी जा सकती हैं।

यह निर्विवाद है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के इस युग में जन समूह के ऐतिहासिक विकास तथा ऐतिहासिक कर्म का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्व रखता है। क्योंकि इतिहास ही मनुष्य का निर्माता नहीं (हीगल), जीवित

शिक्षित जन-समाज भी इतिहास का निर्माता है (मार्क्स)। शिक्षक को शिक्षित तथा शिक्षित को शिक्षक बनना होता है। इस दृष्टि से क्रान्ति का भी इस युग में अपना महत्त्व है। किन्तु विश्व सभ्यता तथा विश्व जीवन अब जिस मोड़ पर पहुँच रहे हैं उसमें मानवीय विकास के लिए दोनों गुणात्मक तथा राशिवाचक, वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टियों की भिड़न्त अनिवार्य प्रतीत होती है, जो दृष्टियाँ अभी अर्ध सत्य ही का बाना पहने हुई हैं।

भारतीय अन्तर्दृष्टि अथवा औपनिषदिक दृष्टि हीगल के आदर्शवाद—जो पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन का शिखर है, और जो इतिहास की भी एक प्रकार से उपेक्षा नहीं करता,—तथा मार्क्स के भौतिकवाद एवं इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण—दोनों को ही अतिक्रम कर, मनुष्यत्व की पूर्णता एवं मनुष्य समाज के सर्वांगीण विकास के लिए सम्बोधि के उच्चतर अन्तरिक्षों के सूक्ष्मतम ऐश्वर्यों की ओर भी ध्यान आकर्षित करती है, जहाँ किसी प्रकार की एकांगिता के लिए स्थान नहीं रहता और जो सम्पूर्ण मानव-जीवन के विकास का लक्ष्य है। आज की शब्दावली में, मनुष्य अन्ततः न पूँजीवादी व्यक्ति की इकाई है, न ऐतिहासिक भौतिकवादी समूह की इकाई। वह उस पूर्ण चैतन्य की इकाई है, व्यक्ति और समाज तथा उन दोनों का विकास जिसके अविच्छिन्न अंग हैं। मनुष्य-जीवन सम्बन्धी ऐसे सर्वांगीण तात्त्विक सत्यों को बूर्ज्वा विचारों के साथ प्रतिक्रियावादी कूड़े की टोकरी में डालने का प्रयत्न कर हम उनके प्रति केवल अपने अज्ञान ही का प्रदर्शन करते हैं।

मुझे पश्चिम के उन आधुनिकतम दार्शनिकों का चिन्तन-दर्शन भी अधूरा प्रतीत होता है जिन्होंने ऐतिहासिक कर्म की महत्ता को भुला दिया है और जिनमें पाजीटिविस्ट्स, स्ट्रक्च्युरलिस्ट्स, रिवीजनिस्ट्स, इकजिस्टनशियलिस्ट्स आदि, रूडाल्फ स्टेमलर से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित, सभी प्रकार के मध्यवर्गीय विचारक तथा बौद्धिक सम्मिलित हैं। ऐतिहासिक विकास कर्म अत्यन्त आवश्यक है, पर ऐतिहासिक संचरण ही को मानव विकास के समग्र सत्य का दर्पण नहीं माना जा सकता, वह केवल मानव विकास के लिए सामूहिक पीठिका भर प्रस्तुत करता है।

भारतीय चैतन्य सम्बन्धी दृष्टिकोण अभी अछूता ही है, वह अभी पश्चिमी सभ्यता तथा वैज्ञानिक युग की कसौटी में नहीं कसा जा सका है। अभी तो हीगल के आदर्शवाद तथा मार्क्स-एंगिल्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का ही युग के जीवन तथा विचार जगत् में संघर्ष चल रहा है। अब संसार के देश जब परस्पर निकट आने एवं एक पूर्ण संयोजित विश्व जीवन तथा मानव संस्कृति का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे हैं और भौतिकवाद अपनी अति स्पर्धा के कारण ध्वंसात्मक तथा अतियान्त्रिकता के कारण सहज मानवीय विकास का बाधक बनता जा रहा है, भारतीय चैतन्य सम्बन्धी मांगलिक दृष्टि निकट भविष्य में, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, विश्व जीवन में अवतरित होकर उसका अनिवार्य

एवं अभिन्न अंग बन सकेगी। आज के भयंकर विश्व विनाशक ध्वंसास्त्र इसी सम्भावना की ओर इंगित करते हैं। सत्य-अहिंसा के प्रतीक-मूल्यों का उदय भी जो भविष्य में विश्व जीवन के स्तर पर सार्थकता प्राप्त कर सकेगा—इसी की सम्पुष्टि करता है।

मित्रवर चेलिशेव को मेरी रचनाओं में अभिव्यक्त आदर्श और यथार्थ का समन्वय असम्भव प्रतीत होता है। पर मैं देखता हूँ कि आज के महान् संक्रान्ति के युग में विश्व जीवन धीरे-धीरे इसी महत् संयोजन की ओर अग्रसर हो रहा है, आगामी दशकों में यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो जायेगी। वैसे भारतीय दृष्टि से यह समन्वय कोई नयी वस्तु नहीं है। सभी महान् विचारक और कवि विभिन्न युगों में इस प्रकार के सांस्कृतिक समन्वय की ओर प्रेरित हुए हैं। तुलसी और कबीर के युग भी इसी के उदाहरण हैं। आदर्श और यथार्थ एक ही सत्य के दो पक्ष, एक ही मुद्रा के दो मुख हैं। जिस प्रकार कली स्वभावतः फूल में विकसित होती है उसी प्रकार यथार्थ को आदर्श में परिणत होना होता है। जो सम्बन्ध एक प्रबुद्ध सन्तुलित समाज में वर्तमान का भविष्य से होता है, वही यथार्थ का आदर्श से भी है। ऐतिहासिक यथार्थ का संचरण भी, जो जीवित दीक्षित व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है, लक्ष्योन्मुख अथवा आदर्शोन्मुख ही होता है।

फिर भी डा० चेलिशेव की पुस्तक से, सब मिलाकर, मेरी रचनाओं को समझने में पाठकों को अधिक सहायता मिलेगी। हमारे प्रगतिशील आलोचकों को मेरी रचनाओं का समस्त भावदर्शन जो केवल प्रतिक्रियात्मक ही दिखायी देता है उसका बहुत बड़ा भाग मि० चेलिशेव को भारतीय जीवन संघर्ष के सन्दर्भ में प्रगतिशील प्रतीत होता है। मेरा भाव-दर्शन मार्क्सवाद का खण्डन न कर उसकी पूर्ति करता है और मेरे काव्य में उस पूर्ति का रूप मेरी चेतनात्मक रचनाओं में मिलता है। इन रचनाओं के सम्बन्ध में चेलिशेव के दृष्टिकोण की दुहाई देकर हिन्दी के कुछ प्रगतिशील तोता-पण्डितों ने उनके प्रतिक्रियात्मक होने की दुन्दुभी नये सिरे से पीटनी शुरू कर दी है। त्रैमासिक 'आलोचना' के १३वें अंक में 'लेनिन जन्म शती का एक आलोचनात्मक उपहार' शीर्षक लेख इसका एक उदाहरण है।

यद्यपि प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं का चेलिशेव की पुस्तक से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है फिर भी उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर उनकी व्यापक संवेदनापूर्ण दृष्टि के लिए उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

१८/बी-७, के० जी मार्ग, इलाहाबाद — सुमित्रानंदन पंत

२५.१२.७०

वह अनगढ़ पाषाण खण्ड था—
मैंने तपकर, खँटकर,
भीतर कहीं सिमट कर,
उसका रूप निखारा,
तद्वत् भाव उतारा,
शशिमुख का
सौन्दर्य
लोग उसे सँवारा !
निज मुख बतलाते,
देख देख कर नहीं अघाते,—
वह तो प्रेम,
तुम्हारा श्रीमुख
तन्मय अन्तर को देता सुख !

१६७१

सूर्य मुकुट बीसवीं शती के बन दिग् भास्वर
आओ हे नव वर्ष, अवतरण करो धरा पर !
खोलो विकसित राष्ट्रों के जड़ता के बन्धन,
मनुष्यत्व में जो जन-भू पर सब से निर्धन !
दानवीय ध्वंसास्त्रों का कर जो नित संचय,
वैज्ञानिक कौशल का करते घोर अपव्यय !
तोड़ो कटु शृंखला दैन्य जर्जर सृजन की,
सुलभ न जिनको सुविधा अन्न वसन आँगन की !
प्राप्त नहीं शिक्षा संस्कृति के साधन विकसित—
क्षुधित अविकसित देश तुम्हारे प्रति आशान्वित !
सृजन शंख फूँको हे, अन्तःस्वर से मुखरित,
नव जीवन उन्मेषों से जन-मन हो प्रेरित !
शान्त धरा देशों के हों स्पर्धा-संघर्षण,
राग-द्वेष के भरें हृदय के रक्त स्रवित व्रण !
काल दूत, विज्ञान ज्ञान में भरो सन्तुलन,
नयी चेतना का प्रतीक हो जन-भू प्रांगण !

देवोत्थान

अर्धशती से
हम मानव में
दानव को करते आये
अभिषेकित !
गहन मनोवैज्ञानिक स्तर पर
पशु प्रवृत्तियों को
जन जन के जीवन मन में
करते आये स्थापित!
अगले कई दशक सम्भवतः
बीतेंगे अब
देवों से फिर
मानव अन्तर को करने में मण्डित—

मानवीय जीवन को
भावी धरा स्वर्ग में
करने पूर्ण प्रतिष्ठित !
कितना कार्य अभी करना है—
सोच सोच कर
विस्मय से अभिभूत कभी
हो उठता अन्तर !
सुन्दर बाह्य प्रकृति जग,—
इससे भी सुन्दरतर
मानव का अन्तर्जग—
सूक्ष्म विभव से भास्वर !
अन्तर्मुख हो हमें खोजना
आत्मिक वैभव—
उसे अवतरित करना
भू जीवन में अभिनव !
उर में अन्तर्हित
शोभा के भुवन अगोचर
इन्द्रलोक की सम्पद् भी
जिन पर न्योछावर !
इन्द्रचाप पुल पर चलतीं
अप्सरा मनोहर
सृजन चेतना नभ में
स्वप्निल नूपुर ध्वनि कर !
मूक अचेतन उपचेतन
लोकों के गह्वर
जाग गुह्य तन्द्रा से
मन में भरते मर्मर !
देवों का हो स्वर्ग महत्—
पर जन धरणी पर
रचना हमको मानवीय
नव स्वर्ग महत्तर—
मन के पशु को,
दानव को कर शनैः उन्नमित—
आओ, भूजन,
करें विश्व जीवन नव निर्मित !

संक्रान्ति

पीले पत्तों में लपेट दी तुमने पाण्डुर
विश्व प्रकृति की देह—धूल से सँजो क्षितिज मुख !

मुक्त दिगम्बर अन्तरिक्ष दिखता चिन्तन रत,
सुन्दर लगता मौन दृश्य संहार सृजन का !
यह शिव का ही महा श्मशान—शून्य, भस्मावृत,
जहाँ जगत-जीवन लेता नव जन्म निरन्तर—
वरद अष्टमुख तत्वों की पावन छाया में !
गर्भित विश्व प्रकृति—भावी की स्वर्णिम कोंपल
जाग रहीं स्वप्निल तन्द्रा से, युग चेतन हो !
मानव के अन्तर्जग में भी गूढ़ अगोचर
महा क्रान्ति अब मची हुई—चेतना विटप में
नग्न ह्रास विघटन का पतझर छाया दारुण !
अन्ध धुन्ध में देख न पातीं मन की आँखें—
अन्धकार ही भाव-मूल्य बनता जाता अब !
मृत्यु त्रास संशय-हिम जर्जर, आस्था विरहित
देख न पाते लोग ओट में दिग् विनाश की
नया मनुज ले रहा जन्म अब नये विश्व में !

चाँद

मुझे नहीं अच्छा लगता कि चाँद में जाकर
चन्द्र पटल को खोद, क्रूर भू-मानव नोचे
शशि का चाँदी के दर्पण-सा हँसमुख आनन,—
घायल कर उसका कोमल उर लोह नखों से !
आज पूर्णिमा का, सरोज सा फुल्ल, सुधाकर
कितना सुन्दर लगता, राजहंस सा तिरता
रजत नील सलिलों में—स्वप्नों के सुरधनु-पर
खोले स्वर्णिम अन्तरिक्ष की शरद-विभा में !
सम्भव, दूरी के कारण ही, उसके विक्षत
गौर अंग में लगी खरोंच नहीं दिखती हो !
वह स्वर्गिक सौन्दर्य कलश सा, उसी भाव से
स्नेह सुधा रस वृष्टि कर रहा भू-अंचल में,—
भुला रक्त-प्रिय बर्बर नर के उत्पातों को !—
जो धरती को दैन्य दुःख का नरक बना अब
चन्द्र लोक में नीड़ बसाने का साहस कर
स्पर्धा का अभियान वहाँ ले जाता गर्वित !

अति यान्त्रिकता

निर्मल अब आकाश ! धरा दिग् ज्योति स्नात सी
सुन्दर लगती ! बीत गये झड़ झंझा के दिन !
निखर उठी अब सृष्टि सद्य जन्मे नव शिशु सी !
शान्त समीरण—श्वास रोक एकाग्र समाधित !

पत्र अकम्पित, नम्र क्षितिज, हरिताभ धुले तरु—
ऐसा उज्ज्वल स्पर्श विश्व का मिला न पहिले !
सम्भव, आँधी पानी दुर्दिन से पीड़ित जग
ऐसी सौम्य पवित्र मनःस्थिति अनुभव करता !
वर्तमान झड़ अन्धड़ तूफानों का युग भी
रौंद रहा अब मनुज जगत् को—अपनी यान्त्रिक
लौह भयंकरता से—ध्वंसात्मक टापों से !
अट्टहास करता कंकाल खड़ा यन्त्रों का !
परिवर्तित हो रही पीठिका—भू जीवन की—
उद्वेलित चेतना !—चतुर्दिक् उथल-पुथल सी
मचती जाती,—जड़ यान्त्रिकता का आडम्बर
बढ़ता जाता ! सिमट रहा जन-जगत् विवश हो,
सर्पों की ऐंठी रस्सी सा ! देश विषैले
पाशों में कसते जाते हैं, भौतिकता के
जड़ विद्युत् दंशों से प्रेरित !—कहाँ आज जग,
किधर मनुजता, क्या ध्रुव लक्ष्य!—न समझ पा रहा
मनुज बुद्धि-हत !...दानव-से संगणक यन्त्र ही
संचालित कर पायेंगे सम्भव भविष्य में
मनुज नियति को, जग जीवन को ! स्वयं मनुज
बन रहा यन्त्र प्राविधिक तन्त्र कौशल में दीक्षित !

कम्प्यूटर ही कम्प्यूटर अब रह जायेंगे
कल के जड़ जग में—विस्थापित कर मनुष्य को !
वही सिन्धु आन्दोलित, जटिल, परस्पर गुम्फित
महत् विश्व जीवन को स्यात् धरें सुव्यवस्थित,—
बहिर्भ्रान्ति-नर कृमि सा रेंगेगा तब भू पर !
या सम्भव, नर आत्म-बोध से अभिप्रेरित हो
अन्ध धुन्ध से ऊब यन्त्र युग की झंझा के,
विचरण करे नये क्षितिजों की निर्मलता में
यान्त्रिकता के धूमों से उन्मुक्त विश्व में
मनुष्यत्व को यन्त्रों के ऊपर स्थापित कर-!
और, तड़ित् अणु के अश्वों की रश्मि खींचकर
खोजे अन्तर्मुख जीवन-सौन्दर्य, शान्ति, सुख !

सृष्टि तत्व

आज 'जीन' की सफल प्राप्ति से जीवन का वह
गुह्य सूत्र मिल गया दिव्य प्रतिनिधि मानव को,
जिससे वह स्रष्टा बन सकता अपना भी अब !
भले अभी प्रारम्भिक हो उपलब्धि तत्व की,
वैज्ञानिक उसके विकास के प्रति आशान्वित !

महत् जैविकी सिद्धि धरा पर होगी तब वह,
तडित् आणविक आदि क्रान्तियों को अतिक्रम कर
जैवी क्रान्ति महत्तर होगी लोक विधायक !
जीव जातियों को दे जन्म विविध पृथ्वी पर,
मनुजों का निर्माण कर सकेगी वह बहु विधि !
निश्चय, घोर भयंकर दुःस्थिति भी आ सकती—
शुम्भ निशुम्भों की रचना कर मनुज-ब्रह्म तब
ध्वंस धरा पर ढा सकता—स्वार्थों से प्रेरित !
ऐसी स्थिति में, नैतिकता, आध्यात्मिकता का
मूल्य और भी बढ़ जायेगा भू-मंगल हित !
नहीं, उभय अनिवार्य सत्य तब बन जाएँगे !
क्या होगा नव रूप धर्म या नैतिकता,
आध्यात्मिकता का ? वे न बँटे रह जायेंगे तब
जाति-वर्ग या सम्प्रदाय-गत संस्कृतियों में !
निखिल विश्व ही होगा तब ईश्वर का मन्दिर—
भू के रचना कर्म सभी होंगे प्रभु पूजन !
निराकार साकार रूप धर मनुष्यत्व में
धरा-स्वर्ग आँगन में होगा मूर्तिमान तब !
एक मनुज परिवार, एक नव मनु की सन्तति
विचरेगी भू पर—मण्डित हो सूक्ष्म विभव,
आनन्द, ज्योति, सौन्दर्य से अमित अधिमानस के !
शान्ति निवास करेगी जन के रोम रोम में !
सृष्टि प्रयोजन विधि का सार्थक हो पाएगा—
शिव से शिवतर, सुन्दर से सुन्दरतर पथ पर
सत्य स्वयं विकसित होगा, मिथ्या-रज विरहित !
प्रभु, विज्ञान मनुज को लाये निकट तुम्हारे !
शुभ दिन आये शीघ्र,—धरा की लौह नियति हो
श्री-सुख स्वर्णिम—अमृत चेतना स्पर्शों से
आलोक मंजरित !

स्थित प्रज्ञ

अब सम्भव स्थित प्रज्ञ हो गया मेरा अन्तर—
बुद्धि देख लेती मन में उठते भावों को,
और सहज ही मूल्यांकन कर, निर्णय अपना
दे देती—वे विश्वकर्म में परिणत हों या
रहें उपेक्षित ! इससे कर्मों के बन्धन में
चित्त नहीं फँसता, सत्कर्मों में रत रहता !
पर, इससे प्रसन्न हूँ क्या मैं ? नहीं, मुझे
जीवन का क्षेत्र अधिक भाता मन की स्थिरता से !

प्राणों का स्मित विभव, इन्द्रधनुषी प्रसार, गति,
श्री शोभा के स्पर्श, स्पृहाओं के रस-दंशन
मुझे कहीं प्रिय हैं मन के इस स्फटिक बोध से !
कमल पत्रवत् जल से ऊपर ही ऊपर
रहने के बदले—जीवन की हँसमुख लहरों से
क्रीड़ा करते तिरना मुझे सुहाता सचमुच
जग जीवन सागर में !—पंख खोल स्वप्नों के,
भर अज्ञात उड़ान अदृश्य रहस्य लोक में,
बहिर्जगत् की श्री शोभा से विस्मित होना !—
मन के स्थिर शिखरों से निस्तल जीवन सागर
मेरे मन को अधिक डुबाता, अधिक लुभाता !

हनुमत्

बेटे सा मैं तुम्हें मानता यद्यपि हनुमत् !
किन्तु तुम्हारी महिमा से मेरा उर अवगत !
देख मूर्ति मन में वात्सल्य उमड़ता अविदित—
शैशव सा साकार तुम्हारा श्रीवपु शोभित !
प्राण तत्व तुम व्याप्त विश्व में, पुरुष सनातन,
मरुतों के प्रतिनिधि, जिनको रख साथ शत्रुहन्
इन्द्र सदा विजयी होता आया असुरों पर
वैदिक युग में,—वज्रायुध, वृत्रारि, पुरन्दर !
तुम्हीं ऊर्ध्वमुख चेतस के सौन्दर्य अतन्द्रित,
इन्द्रधनुषप्रभ बोधों के वैभव से मण्डित !
मेरे आँगन को करने आये श्री-पावन
कांधे पर धर विजय गदा, साधे वीरासन !
प्रिय किशोर छवि, स्फारित लोचन, शौर्य-पुष्ट तन,
शिला खण्ड धर रूप तुम्हारा लगता चेतन !
त्रेता में हेमाभ-शैल तुम रामदूत बन
सीताजी को खोज, मनोजव, लाये तत्क्षण !
मध्ययुगों में तुम तुलसी के पथ-दर्शक बन
सौंप गये भूमंगल हित जन को रामायण !
आज विश्व जीवन में आता नव परिवर्तन
भू रचना श्री सौष्ठव के वन जीवित दर्पण—
चिदैश्वर्य वितरित करते तुम, प्राण-शक्ति-घन,
जीवन के स्तर पर उतारकर ऊर्ध्व-प्राण मन !
विविध धर्म संस्कृतियों को कर विश्व समन्वित
नव ऐश्वर्यों से आत्मा को कर सम्पोषित—
प्राणों से मन, मन से कर आत्मिक आरोहण
जन भू जीवन स्तर पर करते पूर्ण अवतरण !
हे मारुति, चेतस गति, हे चैतन्य परात्पर,
परम, सच्चिदानन्द, तुम्हीं में सृष्टि चराचर !

पवित्रता

एक वृहत् आयाम प्रकृति की श्री सुपमा का
पवित्रता भी है निःसंशय—तृण तरु पत्ते,
धूप शीत, वर्षा पतझर हो, हिम वसन्त या—
सभी वस्तुओं, सभी वृत्तियों में निसर्ग की
पवित्रता का पुलक-स्पर्श मिलता अन्तर को !—
धरती की भगवत् पद रज भी रहित न उससे !
जब मन असफल इच्छाओं से कुण्ठित रहता,
या जब सुहृद् अकारण ही वैरी बन जाता
जिससे आप अपेक्षा रखते सहृदयता की—
नीरस जीवन भार-रूप तब लगता दुःसह !
कट जाता मन किसी महत् केन्द्रीय सत्य से
जो मेरी सत्ता का पोषण करता अविदित !
शनैः, स्वतः ही हो संयुक्त प्रकृति के जग से
मैं बन जाता अंग विश्व जीवन का व्यापक—
स्थूल वनस्पति पशु पक्षी जग को अतिक्रम कर
प्रकृति, मनुज जग में बन सूक्ष्म, जटिल, निगूढ़तर,
प्रकट हुई है जीवन मन के दिव्य विभव से
भूषित होकर !—देव भाव की प्रत्याशी बन !
किन्तु, एक अज्ञेय सत्य जो व्याप्त चतुर्दिक्
मिलता मुझे निसर्ग जगत् में,—अभिव्यक्त सम्भवतः
नहीं हुआ मनुष्य में ! वह है भूमा का विराट्
सौन्दर्य अनामय ! जो पावक स्पर्शों से छूकर
मनुज प्रकृति को तीर्थ स्नात, तन्मय, अन्तःकेन्द्रित
कर देता—निज असीमता की पवित्रता में
सद्यःस्मित !—वही शुभ्र सौन्दर्य मुझे
करता आकर्षित,—मौन समाधित !
सम्भव, इस सामूहिक संस्कारों के युग में
उस विराट्ता से वंचित न रहे मानव जग !

कला की सार्थकता

कैक्टस युग अब विद्यमान साहित्य, कला में,—
अभिवादन करता मन ! संवेदना बह रही
उपेक्षितों, दलितों, विकृतों के प्रति—असंख्य जो !
वांछनीय यह सभी भांति—भू की कुरूपता
मिटे, हटे दारिद्र्य, छँटें दुर्दिन के बादल !
कैक्टस प्रमुख प्रतीक आज विकलांग जगत् का !
देख सके सौन्दर्य असुन्दरता में भी मन,
क्योंकि असुन्दरता केवल संकीर्ण दृष्टि भर !
कैक्टस हो कर्दम—सब कुछ ही सुन्दर जग में !

विकसित हो भू-मन, व्यापक सौन्दर्य-बोध हो,
कला दृष्टि नव रूप करे निर्माण विश्व का—
सभी समान,—वहे जग में न विषमता का विष!
पर, गुलाब का मूल्य न इससे कम हो सकता!—
गुण विशिष्टता सदा समादृत होगी जग में!
सौकुमार्य, सौन्दर्य, सुरुचि, संस्कार-सूक्ष्मतम
क्रम विकास के शाश्वत श्रेष्ठ प्रतीक रहेंगे
जगत् चक्र में! साधारणता की शोभा में
अवगाहन कर—मूल्य समझ पायेगा हृदय
अधिक सत्तम का,—जो विकास का लक्ष्य निरन्तर!
अतः कैक्टसों की बहुमत की जन-युग भू पर
आभिजात्य गरिमा, अन्तःशोभा के कारण,
गौरव मिलता सदा रहेगा गुण विशिष्टता को—
विभूति जो!
गुण वैशिष्ट्य अल्पमत होने पर भी विजयी
होगा सन्तत,—सृजन-कला की सार्थकता जो!

दीप्त भावना

आज भावना बुद्धि-किरण से आलोकित हो
परिणत होती नयी चेतना में जीवन की,—
जीव प्रकृति की लघु सीमाओं को अतिक्रम कर!
प्राणभावना, गत जीवन की रुचियों, संस्कारों से प्रेरित,
भले सहज अभिभूत हृदय करती हो जन का,
कला मुकुर में अतिरंजित हो—और लोकप्रिय भी
प्रतीत हो;—मनुष्यत्व का परिष्कार कर
नये मनुज को जन्म नहीं दे सकती वह: व्यक्तिगत
अहंता, रागद्वेष, सुख दुःख, मानसिक जीव प्रक्रिया
अभिव्यक्त भर करती वह, जो गौण सत्य हैं!
विरह मिलन संवेग, प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ ही
मुखरित होतीं उसमें,—बासी भाव-मूल्य जो!
बुद्धि-स्पर्श से ही चिद्दीपित राग भावना
नयी पीठिका प्रस्तुत कर सकती जीवन की—
भू-विकास के लिए परम अनिवार्य चरण जो!—
आज विश्व मन को होना सर्वांग समन्वित!

शिशु और जगत्

शिशु समान लगते हों,—किन्तु पृथक् स्वभाव ले
पैदा होते वे!—अबोध, हाँ, भले सभी हों!
निज रुचि-गुण अनुरूप स्पर्श पा बाह्य जगत् का
विविध रूप से मूल्यांकन करते वे उसका—
भिन्न धारणा बना विश्व के प्रति अनुभव से!

संघर्षण करते अविरत वे जग जीवन से—
उसे बदलना कठिन जानकर स्वयं बदलते,
निज स्वभाव रुचि का भी मूल्य समझ इस क्रम में !
शनैः छोड़नी पड़तीं उनको वे सब स्थितियाँ
बहिरन्तर कीं—जो दुर्गम पथ बाधा बनतीं !—
जिन्हें हटाना सम्भव नहीं व्यक्ति के बल पर !
स्वर्ग दया भी नहीं सहायक होती ! उसको
बाह्य भोग से आत्म योग समधिक श्रेयस्कर !
कहीं छिपा साक्षी अन्तर में उनको चुपके
आत्म अनात्म, असत् सत् की पहचान बताता,—
सूक्ष्म बोध दे व्यक्ति विश्व के संग ईश्वर का !
शेष सम्पदा अनुभव पक्व वृद्ध शिशु उर में
रह जाती जो,—वह असंग चैतन्य सत्य की,
जो उसका चिर साथी रहता अन्तिम क्षण तक !

ऊहापोह

ऐसी भी होती मन की स्थिति कभी किसी दिन
जब कि विरोधी दृष्टिकोण दो उभर चित्त में
गूढ़ समस्या बन, करते आक्रान्त बुद्धि को !
मंगल शनि हों खड़े सामने क्रूर परस्पर !
ऐसे दुःक्षण में सम्यक् कर्त्तव्य समझना
सहज नहीं होता ! दुविधा में पड़ जाता मन !
बड़ा कठिन होता अपना विश्लेषण करना !
यह स्वभाव की सीमा होती और शक्ति भी,
जब कि गहन मन्थन करता मन—भू जीवन के
द्वन्द्वों में उलझा—प्रकाश पाने को नूतन !
समाधान मिलता न सदा ही आत्म-तुष्टिकर !
सुधी गतागत पर न सोच करते—गीता की
सूक्ति सान्त्वना देने में जब सफल न होती—
तुम पर देता छोड़ समस्या का निदान मैं !
मौन प्रतीक्षा करता हृदय प्रपन्न बोध की,
चित्त शान्त हो, स्वयं प्रश्न का बनता उत्तर !

भूख

मैं मुग्धा गेहूँ की बाली
हर्ष हरित, रोमांचित !
धरती से रज देह सींच कर
सूर्य किरण से शक्ति खींच कर
मैं होती वर्धित, रस पोषित !

एक बात बतला दूँ गोपन—
पृथ्वी सूर्य-प्रभा से भले
ग्रहण करती मैं पोषण,—
अपने ही अस्तित्व बोध से
मैं उन्मेषित,
अपने ही भीतर से रहती
सहज उल्लसित !
घुटनों घुटनों पहुँच मनुज के
जब अल्हड़ युवती सी करती
ताक झांक मैं बाहर—
मुझे सुनायी पड़ता—दुस्तर
उदर···उदर···हा उदर !
सोच मग्न, विस्मित सी होकर
कहती मैं मन ही मन—ईश्वर !
यह मैं कैसा करती अनुभव
जीव धारियों का किरीट जो मानव
जिसने रचे समाज, सभ्यता, संस्कृति,—
महत् विश्व इतिहास
शिल्प साहित्य कला जिसकी कृति,—
धर्म, ज्ञान, विज्ञान
मनुज गौरव उद्घोषक,
अन्तरिक्ष अभियान
साहसिकता का द्योतक !—
क्षुद्र पेट के बल
वह कृमि सा रेंग धरा पर
प्रणत गिड़गिड़ाता, घिघियाता
नंगा पेट दिखा कर !
तृप्त विश्व के सभी चराचर
सदियों से केवल भूखा नर !
हम मानव के संवर्धन हित
करतीं अपना जीवन अर्पित—
शस्य श्यामला धरा उर्वरा
उपजाती नित अन्न अपरिमित !
फिर भी पेट नहीं भरता
मानव का भूखा—
पशु पक्षी रहते प्रसन्न
खा रूखा सूखा !
खाद्य पदार्थ जगत में अगणित
भूख नहीं मिटती मानव की किंचित् !
कुछ रहस्य होगा ही इसका गोपन—
खाद्य समस्या पर मैं तब से
करती आयी चिन्तन !

मुझको लगता—
मात्र पेट की भूख नहीं यह निश्चय,
उसको मनुज तृप्त कर सकता
उपजा भू से अमित अन्न
भण्डारों में कर संचय!
चिर अतृप्त पर पेट स्वार्थ का
वह न कभी भर सकता,
अति भोगी रे उदर लोभ का
जो न अघाते थकता!
दोनों क्षुधा अचेतन मन की,
क्या कर सकती धरती,
जीवन की तृष्णा अथाह
वह नहीं किसी से भरती!
दानवीय उर दैन्य
न त्रिभुवन की लक्ष्मी हर सकती,
नारकीय तम गर्त
न अमरों की सम्पद् तर सकती!
भू मंगल के हित
तन मन—दोनों ही की
खेती आवश्यक,
अन्न उगाएँ—
साथ निराएँ
मन से तृष्णा के खर कंटक!
वितरित हो
जन में श्रम फल
धरती की मिटे विषमता,
विकसित हो
आत्मिक बल,—
सित संयम से आती समता!
मैं मुग्धा सोने की बाली
प्राण हरित, रोमांचित—
कहती—
निज जीवन कर अर्पित—
बहिरन्तर सम्पन्न मनुज हो
आत्म बोध से प्रेरित!

शुभ क्षण

घायल सब जग, घायल अब भय से जन का मन
छाये हैं दारुण विनाश के दानव दिग् घन!
क्या तोपें तलवारें व्यर्थ करेंगी लड़कर?
सुलग रही विद्रोह वह्नि अब भीतर बाहर!

अन्धकार-घन उगल रहे उग सूरज के कर
बदल गयी युग दृष्टि—मूल्य भी गये सब बिखर!
उदय हो रही अभिनव संवेदना हृदय में—
मिलता सूक्ष्म प्रकाश नया उसके आशय में!
शस्त्रों का बल स्वयं पराजित—जानें निश्चय,
सम्भव भले विनाश, न उनसे सम्भव दिग्जय!
जन्म ले रही नयी शक्ति ज्योतित कर अन्तर,
मानवीय जो, नम्र,—सूक्ष्म प्रज्ञा की सित-वर!
अहंकार से मुक्त, दर्प दर्शन से विरहित,
मनुष्यत्व के शाश्वत मूल्यों से संयोजित,—
सहज बोध से समझ रही वह जन जन का मन,
आलिंगन में बाँध समग्र धरा का जीवन!
खोल अँधेरे में प्रकाश का नव वातायन
मनुज नियति को देती वह सार्थकता नूतन!
घायल जग, घायल आशंका से जन का मन,
नव प्रभात के सूर्योदय का भी यह शुभ क्षण!

शंख नाद

मेरी वीणा
स्फटिक
शंख
बन गयी अगोचर,
झंकारें फूटतीं नाद बन
उर के भीतर!
वह न स्पर्श से बजती,
जीवन श्वास चाहिए,
सोया मन जग सके
नया विश्वास चाहिए!—
सृजन हर्ष अकुलाता उसमें
बन दिगन्त स्वर!
उसे न कुछ तोड़ना—
लाँघ कर जीर्ण विश्व मन
प्राणों में भरना
अक्षय आस्था का यौवन!—
नये मूल्य के प्रति
श्रद्धार्पित कर जन अन्तर!
शब्द नहीं वह, अन्तर्ध्वनि,
मुखरित भू-अम्बर!
खुलते अर्थों के अनन्त
स्तर पर निगूढ़ स्तर!
वह प्रतीक भर,—नाद मूर्त
निःशब्द दिगन्तर!

ओंकार ही शंख
विश्व सागर से निःसृत,
शत ध्वनि वर्णों भावों में
नव जीवन मुखरित,—
शुभ्र जागरण का आह्वान
सुनो नव स्त्री नर!

धूप का टुकड़ा

एक धूप का हँसमुख टुकड़ा
तरु के हरे झरोखे से झर
अलसाया है धरा धूल पर—
चिड़िया के सुफ़ेद बच्चे-सा!

उसे प्यार है भू रज से
लेटा है चुपके!
वह उड़ कर
किरणों के रोमिल पंख खोल
तरु पर चढ़
ओझल हो सकता फिर अमित नील में!
लोग समझते
मैं उसको व्यक्तित्व दे रहा
कला स्पर्श से!
मुझको लगता
वही कला को देता निज व्यक्तित्व
स्वयं व्यक्तित्ववान्
ज्योतिर्मय जो!
भू-रज में लिपटा
श्री शुभ्र धूप का टुकड़ा
वह रे स्वयंप्रकाश
अखण्ड प्रकाशवान्!

भारत भू

युग युग की आस्था मन की डगमगा रही अब,
धरती सा धीरज भी भूजन खोते अपना,
रक्त-नखर-दंष्ट्रा निर्मम यथार्थ के सम्मुख
मानवीय आदर्शवाद सब लगता सपना!
औंधे मुँह गिर पश्चिम के जगमग प्रभाव में
अन्ध अनुकरण करते नव शिक्षित पग पग पर,
भूल गयी भू अपना अन्तर-आलोकित मुख,
जीवन स्थितियाँ होतीं जातीं प्रतिदिन दुस्तर!

लोग न परिचित निज भू की संस्कृत आत्मा से,
मध्ययुगी कीचड़ में लिपटे रूढ़िग्रस्त जन,
हीन भावना पीड़ित इस दिग् भ्रान्त देश का
ईश्वर ही रक्षक ! विघटित होता प्रतिक्षण मन !
तोड़ रही दम मृत्यु-शान्ति छायी अन्तर में
कभी घुमड़ आये भू पर घिर अन्ध ववण्डर—
रक्त स्नान कर घृणित विषमताएँ जीवन की
सम्भव, नव रचना समत्व में बँधें परस्पर !
मुझे महत् आशा भारत भू के भविष्य में—
जो अन्तर्मुख आत्म-सत्य की साधक निश्चित,
मानवीय ऐसा पदार्थ दुर्लभ जगती में—
जागेगा यह देश—करेगा जग-[illegible]

पूर्ण क्षण

एक गीत लघु ओस,—हँसी का, आँसू का भी;
काँप रहा पत्ते के करतल में गिर थर-थर !
उसे देखता रहा एकटक मैं [illegible]
भाव सिन्धु सा मिला मूक उसके उर-भीतर !
छोटा सा वह, एक किरण से स्मित-मुख दीपित,
एक मूक क्षण, एक सत्यकण उसमें जीवित !
छोड़ पत्र-करतल, चिर मौन, विचार मग्न सा
वह खो गया गगन में बनकर वाष्प अलक्षित !
वह खो गया ? नहीं,—विश्वास न होता मन को
वह अनन्त का यात्री, वह तृण कण का सहचर !
आता जाता रहता वह उड़ कभी व्योम में
कभी उतर भू-पर फिर हँसता-रोता क्षण भर !
मूर्त अमूर्त सहज होता वह भाव उल्लसित,
सृजन कला का गूढ़ रहस्य बिन्दु सा गोपन !—
उस पर श्री सौन्दर्य समस्त सृष्टि का केन्द्रित,
वह न हिमालय से छोटा—वह क्षुद्र तुहिन कण !
लघु हिम कण या गीत-पंक्ति रचना क्या सम्भव
यदि न आत्म तन्मयता में हो कला निछावर ?
कहाँ खोजते शाश्वत में, अव्यय, अनन्त में—
एक ओस कण, एक पूर्ण क्षण में भी, ईश्वर !

कविधर्म

सच कहना ही जग में कवि का धर्म है,
उसे नहीं कोई माने या पहचाने,
बाहर का जन-घोष नहीं कवि की वाणी,
भीतर स्वर जगने पर वह लगता गाने !

वह यथार्थ के माप तोल की तुला नहीं,—
भाव बदलता रहता जिसका दिन प्रतिदिन,
मानव आत्मा की गरिमा का ज्ञान उसे
जिससे सार्थक होते जीवन के पल छिन !
शब्द नहीं हैं जहाँ, भाव भी मूक जहाँ,
वह अवाक् नीरवता को देता वाणी,—
सोयी रहती जग के कोलाहल में जो
निराकार की प्रतिमा गढ़ता कल्याणी !
आन्दोलित जन सागर जब भरता गर्जन
ध्यान मौन सुनता युग परिवर्तन के स्वर,
सौम्य चन्द्र सा सूक्ष्म ज्योति बरसाता वह
जन धरणी को नव जीवन ज्वारों से भर !
निखिल विषमताएँ स्वर-लय में बँध जातीं
बनता युग-संगीत जगत् का संघर्षण,
कटु यथार्थ ढल नये विश्व आदर्शों में
मंगल घन बन बरसाता नव भाव-सुमन !
वह महानता में लघु, लघुता में महान्,
वह विशिष्टिता से विशिष्ट भी साधारण,
रक्त, मांस पेशियाँ, अस्थियाँ गातीं सब
रचना-शुभ प्रति निखिल शक्ति उसकी अर्पण !

संक्रमण

विस्तृत लगतीं रुद्ध दिशा, आश्चर्य चकित सा अम्बर,
सदियों का दारिद्र्य दैत्य अब जगता अँगड़ाई भर !
करवट लेता जन-भू-जीवन, मनः सिन्धु आन्दोलित,
अन्धकार की गुहा धरा की अब धीरे आलोकित !
प्राणों में रस ज्वार, चेतना में प्रभात का स्पन्दन,
नयी एकता में बँधने को मानव का खण्डित मन !
नव सौन्दर्योन्मेष मनोनयनों को रखता विस्मित,
निखर रहा मानव का मुख नव गरिमा रेखा मण्डित !
खोल दिये उपचेतन निश्चेतन ने गोपन गह्वर
रुकी हुई थी विश्व प्रकृति कब हो उसका रूपान्तर !
अनगढ़ पाषाणों से मणि रत्नों को छाँट सँजोकर
नव मूल्यों के वैभव से गढ़ना मानव का अन्तर !
यह महान् संक्रान्ति काल सुनता मैं फिर डमरु स्वन,
परिवर्तन खेलता फाग, युग करता ताण्डव नर्तन !
खड़े सामने जन्म मृत्यु, विष अमृत, भीम औ' सुन्दर,
विजय पराजय, ह्रास प्रगति का रूपक ! दृश्य भयंकर !
जीवन संघर्षण को देती नयी दिशा लोकोत्तर
सृजन चेतना के सुनता मैं दिङ् मादन वंशी स्वर !

युग रमणी

आज सभी क्षेत्रों में स्त्री नेतृत्व ग्रहण कर
आगे बढ़ती—लाँघ देहरी घर आँगन की !—
डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक वह
पुरुष वर्ग से होड़ ले रही युग-जीवन की !
पर्वतरोही, सैनिक, कुशल यान चालक वह,
युग-प्रबुद्ध, शिक्षित, समाज निर्माता नारी,
वह स्वतन्त्र, नर की समकक्षी, नेता, मन्त्री,
अबला अब सबला कहलाने की अधिकारी !
पुरुषों के गुण आत्मसात् करती वह प्रतिदिन,
यन्त्र सभ्यता की भी माँग यही निःसंशय,
किन्तु कहाँ वह सुघर शील सुषमा की प्रतिमा
अन्तश्चेतन गरिमा उर में भरती विस्मय !
फूल चाँद, पिक मृग, चलोर्मि झप—निखिल प्रकृति के
श्री शोभा उपकरण प्रणत थे जिसके सम्मुख—
कहाँ अनिर्वचनीय नील सा उर रहस्यमय,
मर्यादा का मधुर मुकुर स्मित लाज मौन मुख !
निखिल सभ्यता बनी प्रसाधन युग रमणी की,
पर अन्तः सौन्दर्य खो गया—प्रमुख विभूषण,
भोग तल्प वह मात्र—न श्रद्धा पात्र प्रीति की–
हृदय-सत्य ही साध्य—सभ्यता-संस्कृति साधन !

वस्तु बोध

वस्तु जगत् चाहिए सभ्य नर को अब,
भाव गीत से ऊब गया उसका मन !
अब रवीन्द्र संगीत न भाता उर को
बहरे हृदयों को न हिलाता गायन,
सूक्ष्म कल्पना की उड़ान पर हँसते,
उन्हें स्थूल भंगुर के प्रति आकर्षण !
कला तुच्छ कुत्सित यथार्थ की सेवक,
काव्य न अब सौन्दर्य बोध का दर्पण,
यौन गन्ध प्रति अन्ध प्राण मन प्रेरित
त्रास, अनास्था, संशय के उर में व्रण !
परिवर्तन युग : गुह्य अचेतन से जग
घृणित विकृतियाँ उमड़ रहीं मन में छन,
विघटित मूल्यों के ह्रासोन्मुख युग में
स्पर्धा कुत्सा का उर में चलता रण !
भाव भूमि नव उदय हृदय में होकर
अन्तर में सन्तुलन भरेगी नूतन,

नये सत्य का ज्योति स्पर्श पा जन मन
मनुष्यत्व के प्रति होगा नव चेतन !
वस्तु जगत् की सीमाएँ अतिक्रम कर
भाव बोध नव भरता उर में स्पन्दन !

विकास क्रम

मानवीय संवेदन शून्य धरा जीवन अब !—
निखिल यन्त्र सभ्यता, विश्व की अतुल सम्पदा
पूर्ति नहीं कर सकती इस दारुण अभाव की !
एक ओर भू के असंख्य जन गण का जीवन
विगत युगों की रूढ़ि रीतियों में पथराया
मनुज चेतना के विकास पथ का अवरोधक !
और दूसरी ओर आसुरी भौतिक युग के
विपुल विभव, सुख सुविधा का आकांक्षी मानव
भोगवाद के पीछे पागल, बहिर्भ्रान्त हो,
भूल गया—बहुविधि स्थापित स्वार्थों से जर्जर,
वह प्रतिनिधि भावी नव भू जीवन विकास का—
कटु स्पर्धा से दंशित क्रय-विक्रय के जग में !
मनुष्यत्व से विरहित नर-पशु विचरण करता
भग्न धरा पर,—अन्तर्मूल्यों से वियुक्त कर
इन्द्रिय जीवन का भंगुर सुख ! मध्य युगों में
ज्यों विभक्त था भाव-बोध इन्द्रिय जीवन से !
लौह यान्त्रिकी की सन्तति रोबॉट, संकलक
स्थान ग्रहण कर रहे मुक्त मानव आत्मा का-
निर्मित कर परिवेश जटिल कृत्रिम स्थितियों का,
जकड़ मनुज जीवन को यन्त्रों के पंजों में !—
ईश्वर ही रक्षक अब हृदयहीन मानव का !
भीम भयंकर मोड़ ले रही मनुज सभ्यता
दुर्बल हृदय न तनिक कल्पना भी कर सकता
जीवन की उस नयी भूमिका का—गत सीमित
अभ्यासों में बँधा मनुज-मन अक्षम उसके !
पिघल मोम से जायेंगे जग के विधान सब
भाव ऊष्णिमा में वह नव प्राणिक जीवन की—
महत् ज्वार उठ विश्व चेतना के समुद्र में
प्लावित कर देगा सैकत तट विगत युगों के !—
महत् सौख्य सौभाग्य मनुज के लिए सुरक्षित !

लाठी का घोड़ा

छुटपन में मुझको प्रिय था लाठी का घोड़ा
उसने तब से मेरा साथ नहीं ही छोड़ा !

उसको कभी लगाना पड़ा न कस कर कोड़ा
आँगन में भागता स्वयं वह ढीठ निगोड़ा !
घोड़ा कहिए, वायुयान या उसको हाथी
ऊपर नीचे मुझे घुमाता जीवन साथी !
घुसता वह मुझको ले मन के गहन वनों में,
संघर्षों के खन्दक करता पार क्षणों में !
रजत प्रसारों में आत्मा के मुझे उड़ाता,—
शोभा का वैभव मेरे उर में भर जाता !
वह अनिन्द्य सुन्दरी कभी बन नव यौवन में
आता चुपके प्राणों के अपलक आँगन में !
सारे जग में मिली न वह नव युवती सुन्दर,
क्वारा ही मैं रहा, खोजता उसे निरन्तर !
स्वर्गिक ऐश्वर्यों का मन में भर सम्मोहन
खोले उसने कितने चिन्तन के वातायन !
कहाँ कहाँ मैं नहीं गया हूँ उस पर चढ़कर
विद्युद् गामी पंखों से कर पार दिगन्तर !
बचपन से वह रहा सदा मेरा प्रिय सहचर
उच्च चेतना शिखरों का रोही दिग् भास्वर !
उसी मनोगति से वह अब भी उड़ता निःस्वर
स्वर्ग सम्पदा भू पर बरसाने को तत्पर !
जन मन के दारिद्र्य दुःख में कर अवगाहन
निज उर के शोणित से धोता भू का आनन !
इन्द्रधनुष बन छूता जीवन के दिगन्त स्मित
धरा-स्वर्ग रचना के प्रति निष्ठा से प्रेरित !
नया क्षितिज खोलता मुग्ध आँखों के सम्मुख
नव प्रकाश, उल्लास, प्रीति के प्रति कर उन्मुख !
वह शैशव का चेतक, लाठी का प्रिय घोड़ा
नयी दिशाओं को उसने मेरा मन मोड़ा !

अभीप्सा

सौन्दर्यों की सौरभ में मन को नहलाओ,
सूक्ष्म भाव-ऐश्वर्य-गगन में मुझे उड़ाओ,—
ओ मेरे प्रेमी, पावनता की लपटों में
मेरे तन्मय तन-मन प्राणों को लिपटाओ !
कौन भूमि वह ? स्वप्नों के पाँवड़े बिछाकर
जहाँ विचरते तुम अन्तर के तद्गत क्षण में—
जहाँ कला कल्पना तूलि से सृजन सत्य को
सतत सँवारा करती स्रष्टा के दर्पण में !
मुझको नव चैतन्य विभूति बना रस अकलुष
नव मानव के मन प्राणों में सहज रमाओ !

सौ सौ रूपों में अमूर्त श्री शोभा होती
स्वयं जहाँ साकार समाधित उर चिन्तन में,
अभिव्यक्ति की इन्द्रधनुष रत्नच्छायाएँ
लोटा सी करतीं उन्मेषित उर-आँगन में—
मुझे प्रेरणाओं, उन्मेषों के उस जग में
नव प्रहर्ष की सित बाँहों में भर ले जाओ!
स्वर्ग सुधा के घट पर घट पीते न अघाता
जहाँ युगों से प्यासा निश्चेतन उपचेतन,
तृप्त नहीं होता तुमसे सर्वस्व दान पा
जन भू के प्राणों का अक्षय आकुल यौवन!
जहाँ प्रतीक्षा में रत प्रेम, मनुज भावी के
अन्तर्मुख मणि सोपानों पर मुझे उठाओ!
ओ मेरे साथी, पावनता की आभा में
मेरे तन मन प्राणों को अहरह लिपटाओ!

अनुपमा

बाल भवन में तुम्हें देखकर आज अनुपमे,
आत्म पराजित अनुभव करता मैं निज मन में—
कैसे तुम्हें उबारूँ?—मार्ग न मुझे सूझता!
अह, कैसी दयनीय मलिन स्थिति में रहती तुम
छोटे बच्चों की संस्था में पड़ी उपेक्षित—
मानव उर की निर्ममता का नरक द्वार जो!
तुम्हें गोद लेने को आतुर तब से मेरा
हृदय तड़पता—तुम निरीह सुकुमार बालिका,
हिम निपात अभि हत प्राणों की कलिका कोमल!
तुम हो कुछ अस्वस्थ, चिकित्सक कहते मुझसे
एक पैर की हड्डी में सूजन है सम्भव;—
मैं इसका उपचार कराऊँगा, निष्ठा से
पालन पोषण का दायित्व सँभाल तुम्हारा
सार्थक समझूँगा अपना जीवन, प्रिय दुहिते!
तुमसे सुन्दर कन्या मुझको नहीं चाहिए!
तुम सुन्दर बन सको हृदय से—पा अनुकूल
परिस्थिति, रुचिकर शिक्षा दीक्षा,—उन्नत संस्कृत
शील-सौम्य संस्कार ग्रहण कर सको निरन्तर,—
मन का ही सौन्दर्य चाहता हूँ मैं तुमसे!

स्तुति के प्रति

एक किरण उतरी आँगन में मैं उसको कहता स्तुति
मनः कक्ष में छायी नीरव उसकी स्मित शैशव द्युति!
धरा प्रार्थना सी वह पावन उठकर धीरे ऊपर
ईश्वर का मुख देख सके अनिमेष हृदय में छवि भर!

उत्तर वस्त्र गा देह-बोध छाया-सा गिर चरणों पर
अपने ही में उसे अनावृत स्थित रख सके निरन्तर !

दूल फूल की जीवन वीथी में विचरे वह निर्भय,
जग के द्वन्द्वों से हो परिचित, भू-जन के प्रति सहृदय !
चरण चिह्न जो धरती की रज में हों उसके अंकित
दीपित हो उनसे युग का पथ—नयी लीक हो निर्मित !

रचना की शक्तियाँ प्रेरणा पाएँ उसके मुख से,
निज सुख में हो अविच्छिन्न संयुक्त अन्य के दुख से !
मन से सुन्दर हो वह, अपने कर्मों में सुन्दरतर,
युग प्रबुद्ध हो बुद्धि, सरस उर जीवन-ईश्वर का घर !

देश देश की भाव विभव, सुषमा से हो वह मण्डित,
शोभा प्रतिमा को करता मैं भू-मंगल प्रति अर्पित !

दीपशिखा बालिका गेह जो मेरा करती दीपित
पूर्ण यौवना ऊषा बन वह करे विश्व पथ ज्योतित !

पावन अबोधता

मुझको लिखता देख, हाथ से कलम छीनकर,
मेरी पोती ने टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ

कागज पर कुछ खींच, मोड़ अपनी प्रिय ग्रीवा,
देखा मेरी ओर, दर्प से स्फीत दृष्टि से ! ...

उन निर्मल नीले नयनों से झाँक रहा था
विस्मय का आकाश, अमित विश्वास से भरा,
आत्म विजय के स्मित प्रकाश से विस्फारित सा !

मुग्ध भाव से पीता रहा सरल प्रसन्नता
मैं अपलक चितवन की—मन में लगा सोचने
बचपन की पावन अबोधता कैसी अद्भुत,
मधुर, कल्पना प्रिय होती है !

सहसा मेरा

ध्यान गया अपने ऊपर ! ...कुछ सीधे टेढ़े
आखर कागज पर लिख, उनको गीत छन्द कह,
मैं भी सम्भवतः सर्वज्ञ समझता हूँ अब
अपने को, गौरव से फूला ! क्या मनुष्य में
शाश्वत शैशव कहीं छिपा रहता, अन्तस की
भाव-मूक गोपन खोहों में ?

कितना थोड़ा
मनुज जान पाता आजीवन विद्यार्जन कर !
सदा अगम्य रहेगा ज्ञान, मनुज अबोध शिशु !
पोती की विस्मित चितवन में सत्य था महत् !

यथार्थ और आदर्श

ज्यों ज्यों मैं देखता
निकट से मुख यथार्थ का
आदर्शों का ही प्रेमी बनता जाता मन !
कर्दम की सार्थकता इसमें
वह पंकज को
देता जन्म—
ऊर्ध्वमुख लोचन !
लक्ष्य विना ज्यों मार्ग व्यर्थ ही,
त्यों आदर्श बिना यथार्थ का प्रांगण,
मानवीय आदर्श साध्य—
अनगढ़ यथार्थ जड़,
आत्म प्रगति के कंटक-पथ का साधन !
बहिर्भ्रान्त युग
भोगवाद के पीछे पागल,
खो मानव आत्मा का
चिर अर्जित गौरव धन !—
नग्न यौन शोभा में लिपटा
जड़ यथार्थ को
चित्ताकर्षक देता वह विज्ञापन !
जीवन संघर्षण की
करुण दुहाई देकर
नारकीय खल कर्मों में रत भू-जन—
राल टपकती मुंह से
धन की बातें सुनकर,
ये निरीह का करते शोषण दोहन !
समझौता करते रहते
आत्मा से प्रतिक्षण,
घोषित कर विकसित यथार्थ का दर्शन,—
कर्दम कृमि ये
कर्दम जग ही भाता इनको
कुत्सित घृणित
विकृत के प्रति ही
करते आत्म समर्पण !
वे यथार्थ का भी तो
मूल्य भला क्या जानें ?—
उल्लू सीधा करना जिनको प्रतिक्षण,
प्रथम पंक्ति में सभ्य जनों की
स्वयं प्रतिष्ठित—
मनुष्यता से वंचित जिनका जीवन !

अतः, देखता जब
यथार्थ के पक्षधरों को,
आदर्शों के प्रति
समधिक अर्पित होता मन—
मूल्य यही जीवन यथार्थ का
मानवीय आदर्शों का
बन सके प्रणत सिंहासन !

मेरा जग

कवि, किस दुनिया में रहते तुम ?—पूछा करते मुझसे सब जन,
तुम कोकिल चातक के स्वर में गाते रहते किसके गायन ?
नहीं देखते, कैसा तीखा अब भू पर जीवन संघर्षण,
प्रतिदिन दुष्कर होता जाता जग में जीवन करना धारण !
धँसने को मानवता का रथ अब भौतिक कर्दम में दुर्गम,
प्राणों का दुर्दम मत्त वृषभ तोड़ता रास, पथ कर अतिक्रम !
हा, कहाँ गया जीवन सारथि, मच रही पुकार सकल जग में,
अब दिशा हीन भागती बुद्धि, गहरे खाई खन्दक मग में !
दारिद्र्य दुःख का ढो पर्वत जन-कृमि अब जीवन-मृत, हत-मन,
हो विश्व विषमता से आहत विध्वंस गरजने को भीषण !
अन्धा सा भटक रहा विवेक शतमुख पन्थों में लक्ष्य-हीन,
दिशि रहित ह्रास विघटन तम में प्रज्ञा प्रदीप लौ हुई क्षीण !
सबके भीतर अब मूक रुदन, सबके उर में नैराश्य घोर,
आशाऽकांक्षाएँ धूम-शेष, दीखता विपद् का नहीं छोर !—
मैं चुप रहता, कहता मन में सब ज्ञात मुझे भय का कारण,
शस्त्रों से समधिक शब्दों से कवि लड़ता जग जीवन का रण !
अपने 'मैं, अपने जग में रत संघर्षण का कर विज्ञापन
तुम लाभ उठाते जगती से जीवन का कर शोषण दोहन !
मैं स्रष्टा के जग में रहता अब सृजन भूमि मेरा आँगन,
उपकरण जुटाता रहता नित जग में आये नव संयोजन !
कृमि-मानव भी मानव की कृति, युग-जीवन उसका ही दर्पण,—
मैं लाँघ स्वयं को, निज युग की जन सृष्टि रच रहा हूँ नूतन !
निर्मित करता नव मानव मैं युग सीमाओं से उठ ऊपर,
जो नव प्रबुद्ध मानवता को दे सके जन्म रस की भू पर !
मैं जिस भू पर रहता, उसमें कल तुमको भी करना विचरण,
मेरे प्रिय कोयल पी-खग भी उस भू का ही करते कीर्तन !
मुझसे चिढ़ते बन मित्र शत्रु—मैं हूँ अचेत युग संकट प्रति,
बाँसुरी बजा मन के वन में खोजा करता नव स्वर-संगति !
उनको न सूक्ष्म का तनिक बोध, वे दबे स्थूल के पर्वत से,
मैं एक साँस में उड़ा उसे पाता हूँ शक्ति अनागत से !
कवि रे भविष्य की क्रान्त दृष्टि, देखता जगत् के आर-पार,
स्वर स्पर्श सुधा से जन मन का जीवन का हरता व्यथा-भार !

वह बाँध विसंगति को, लय में, अन्तर्जग की कर नयी शोध—
गाता—शुक रोर डुबा जग का, दे बुद्धिभ्रान्ति को लक्ष्य-बोध !

मुखर

प्रातः आँख खुलीं तो
खिड़की से आ-आकर
चिड़ियों के कलरव ने
अलस उनींदे मन को
मोह सा लिया !
आँख मूँद
मैं लगा देखने,
झुण्ड झुण्ड सतबहिनी
जुट मेरे आँगन में
चहक रही हैं
फुदक फुदक कर
हर्ष भरे, सैकड़ों स्वरों में !—
वाद्यवृन्द बजता हो
कल कोमल कण्ठों का !
अँगड़ाई ले,
मैं निसर्ग की स्वर ध्वनियों का
रस लेता जाता था-मन में…
लेटा, लेटा !
इतने ही में
सतबहिनों की मधुर सभा में
एक काक आ गया कहीं से !—
सम्भवतः यह सोच
कि चारा वहाँ पड़ा है !
और चीखने लगा
गले को फाड़ काक वह,—
काँव काँव कर, काँव काँव,
कटु काँव काँव !
उसका मुखर निमन्त्रण था—वह
वायस कुल को !
काँव काँव के
उन अनमेल स्वरों से कुढ़कर
बहिनें धीरे लगीं खिसकने !…
अब कटु कर्कश
क्रूर कण्ठ का एकाकी स्वर
मेरे उर को लगा बेधने
तीक्ष्ण नोंक से !

मैं उठ बैठा—
लगा सोचने—
ढीठ मुखरता ही क्या
विजयी होती जग में ?
मनुज हृदय की
मधुर सूक्ष्म स्वर संगतियों को
छिन्न भिन्न कर,
आज काक युग मुखर हुआ
भू के आंगन में !
संस्कृत सौम्य सुयोग्य
सुरुचि के लिए उपेक्षित
पीछे हटते जाते,
हटते जाते, उपरत,
मन के वन में !
कटु कदर्य निर्मम कठोर
जंगली काक
कर्कश कंठ स्वर में
बर्बर विज्ञापन कर
निज आसुरी शक्ति का,—
मुखरित करते
अनगढ़ जग के लोक मंच को,
आत्मकथा गढ़
लज्जानग्न दर्प से दंशित !
विश्व जयी वे निश्चय अब—
पर आत्म पराजित !

संकेत

क्या ऐसा हो सकता ?
जो मैं कहना चाहूँ
उसे न लिख कर,
शब्द दूसरे ही लिख दूँ
कोमल करतल पर !—
और समझ जाओ
तुम मेरे मन का आशय ?
तुम्हें ज्ञात है,
और मुझे भी;—
जो कुछ कहना मुझे
वही क्या तुमसे कहता ?
या जो तुमको कहना हो
क्या तुम वह कहती ?

शब्द खोखले
स्थूल मनः स्थितियों के द्योतक !
सूक्ष्म भाव अनकहे
समझ में आ जाते नित !
उन्हें चाहने पर भी
नहीं कहा जा सकता !
तब वे अपना स्पर्श
मर्म या मूल्य
सभी कुछ खो देते हैं !
मेधा, प्रवचन
असफल होते
सब क्षेत्रों में—
सब स्थितियों में !
इसीलिए
निःस्वर संकेत
सबल है !
जीवनप्रद, प्रेरक है
मुखर शब्द से !

प्रेम

मुझे स्मरण है—
बचपन में—तब मैं किशोर था—
स्फटिक चाँदनी में बैठा
पर्वत प्रदेश की—
सोचा करता
डूब प्रेम के बारे में मैं !
कहीं सुना था,
प्रेम बड़ा अद्‌भुत होता है !
कोई युवती, परी, किशोरी
जो पहिले परिचित भी न हो—
अचानक आकर
फूल स्पर्श पा मधुर प्रेम का
अर्पित कर देती निज जीवन !
या दोनों जन
एक दूसरे के प्रति खिंचकर
कर देते सर्वस्व निछावर
प्रेम शक्ति से प्रेरित !
उन्हें मनुज क्या
यम भी नहीं छुड़ा सकता फिर !
पुनर्जन्म लेकर भी
वे प्रेमी ही बनते !

तन्मय हो जाता तन मन तब
अमर प्रेम के स्वप्न लोक में—
तारे भी कुछ नीरव स्वर में
ऐसी ही बातें-सी कहते,
मुक्त नील भी
करता सस्मित
मौन समर्थन !
धीरे धीरे
तरुण हुआ मैं !
अगणित ग्रन्थों में की खोज
अजेय प्रेम की !

देश विदेशों में भी घूमा,
मिलीं अनेक युवतियाँ भी
सुन्दरियाँ—परियाँ—
भावों का आदान-प्रदान
हुआ भी कुछ से !
किन्तु, दूसरी ही अनुभूति
हुई कवि मन को !

आत्म समर्पण करनेवाला
सर्वत्यागी रूप प्रेम का
कहीं नहीं ही दिखा मुझे !
बस मूक व्यथा,
वेदना, निराशा,
अश्रु, तप्त निःश्वास
मिले उपहार रूप में—
आत्म पराजय
और ग्लानि भी !
छायावादी कवियों ने
जिस दुख की महिमा
गायी अस्फुट स्वर में
छिन्न हृदय तन्त्री में !—

सुज्ञ प्रौढ़ मन
बोला मन ही मन अपने से—
प्रेम कल्पना है
किशोर मन की, यौवन की !—
हाँ, स्वर्गिक कल्पना !
किन्तु, वह इस धरती पर
कभी उतर
साकार नहीं होती !…
मन वृद्ध हुआ अब !
वह कहता, कल्पना भले हो,

सत्य वही है,
मनुज हृदय को प्रिय भी!
कहता आत्म बोध
तन्मय हो—
हाँ, प्रेमी प्रेमिका युगल भी
वही प्रेम है!

ईश्वर को अर्पित अब,—
भू पर होगा मूर्तित!
तभी स्वर्ग भी सार्थक होगा
जन धरणी पर!

मन का साथी

कभी सोचता हूँ जब मन में :
क्या मैं
एकाकी ही आया जग में?—
शूलों फूलों के भू-मग में!—
तो, तोता-मति करती घोषण
गुरु गभीर बन,—
कहाँ अकेले आये हो तुम?
पूर्व जन्म के कर्मों का फल
अपने सँग में लाये हो तुम!
इस जीवन में
पूर्व जन्म ही का फल फलता
कर्म विपाक निरन्तर चलता!
रटी रटाई बातें सुनकर
मेरा मन कुढ़ देता उत्तर—
पूर्व जन्म का यह अनचाहा
बोझ भले ही मैं सँग लाया,—
पर जिस पर है गर्व मुझे
जिससे रहता मैं जीवित
जिसके प्रति मैं अर्पित—
वह न पाप पुण्यों का फल
—वह भले हो सबल—
जन्मजात आनन्द
सहज जो बहता
उर में प्रतिपल
वही हृदय का सम्बल!
सुख दुख के कटु दंश भुलाकर,
राग द्वेष स्पर्धा के क्षत भर,

मुक्त हृदय
जो जीवन का करता अभिवादन,
रँगता नित नव श्री शोभा से
विश्व प्रकृति का आनन !
मुझको मन से ले जा बाहर
भूमा का रस लेता जो
भावों की बाँहों में भर,—
तदाकार हो निःस्वर !
अन्तर-तन्मय
गूँज प्राण मधुकर उठते
जीवन-मधु करने संचय !
नहीं अकेला आया मैं
निः संशय,
बँधा सूक्ष्म आनन्द सूत्र में
जग को भी
अपने ही सँग
लाया हूँ निश्चय !

युग गाथा

इस अबोधता पर जन युग की
हँसता मेरा कवि-मन !
नर यथार्थ के पीछे पागल
खोता जाता आन्तर सम्बल,
देख बिम्ब निज जग दर्पण में
भूल गया अपनापन !
स्थितियाँ अब उसकी निर्माता
जो स्थितियों में नहीं समाता,
विजयी स्थितियाँ, स्वयं विजित वह,
भ्रान्त बहिर्मुख जीवन !
भोगवाद के प्रति वह अर्पित
आदर्शों को गिनता कल्पित,
मृगतृष्णा से जीवन कुण्ठित
उर में कटु स्पर्धा रण !
सामूहिकता का वह प्रतिनिधि
भूल गया मणि दीप आत्म निधि,
यन्त्र चक्र बनना उसकी विधि
भौतिक सुख अवलम्बन !
अपना दास, जगत् का नेता,
वह दुःखान्त रंग अभिनेता,
आत्म अन्ध, बनता युग वेत्ता,
जयी साध्य पर साधन !

शस्त्रास्त्रों की होड़ शिखर पर:
महानाश के हित नर तत्पर—
भस्मासुर सिर पर न धरे कर,
आत्म परीक्षा का क्षण !
भू जीवन यथार्थ का आँगन,
धोना मुझको उसका आनन,—
मानवीय भर उर में स्पन्दन
जड़ को करना चेतन !

जीवन मुक्त

मैं धरती की धूल झाड़कर
खड़ा मुक्त जीवन के तट पर !
मिट्टी के जड़ मूक खिलौने
ये मुझको अब सभी सँजोने,
नयी चेतना फूंक रहा मैं
इनमें नव जीवन - स्पन्दन भर !
इनमें नहीं मनुष्य सभी जन
पशु भी, कृमि भी, अहि भी विष फन,
देख सृष्टि वैचित्र्य बहुमुखी,
नया बोध जगता उर भीतर !
चाक चलाकर, मैं मन ही मन
मनुज मूर्ति गढ़ता नव चेतन,—
अन्तर का दर्पण ही बाहर
बाह्य विकृति भर बने न अन्तर !
सागर लहरें युग-आन्दोलित
अन्तर को करतीं उद्वेलित,
फेनों के शिखरों पर चढ़ मैं
युग वंशी में भरता नव स्वर !
जग की सीमाओं में बँधकर
मनुज न उठ पायेगा ऊपर,
जन-भू जीवन का स्रष्टा वह
नव दीपित हो दृष्टि दिगन्तर !
मानवीय बन सके धरा-तल
नयी चेतना का पा सम्बल,
मेरी नव स्वप्नों की तरणी
पार लगाये तुम्हें डुबोकर !

मध्य स्थिति

मैंने चुना अधर अपने हित,
यही मध्य स्थिति सबसे सुन्दर !

जी करता, होता ऊपर लय,
भू पर विचरण करता निर्भय,
अन्तर तुम में रहता तन्मय—
आता जाता बाहर भीतर!
हृदय कमल में स्थित तुम मेरे
जग जीवन नित रहता घेरे,
मुझे चीन्हते स्नेही चेरे
भव विकास अवलम्बित जिन पर!
मैं साधारण से साधारण
उर में लिये धरा जन के व्रण,
मुझे हिमालय प्रति हिम का कण,
सत्य अखण्ड, अखण्ड चराचर!
बद्ध नहीं मैं, मुक्त नहीं मैं,
तुम से चिर संयुक्त कहीं मैं!
तुम्हें देखता सदा यहीं मैं
मनुजों में तुम मनुज अनश्वर!
आत्म-नम्र रखते तुम मन को,
शाश्वत-गर्भित जीवन-क्षण को,
भरते करुणा से भू-व्रण को,—
मिटा आत्म-पर के लघु अन्तर!
दूर निकट आता जाता नित,
जड़ नव चित्-स्पर्शों से प्रेरित,
उर को तुम नित रखते विस्मित
खोल दृष्टि में नया दिगन्तर!

फूल फल

"निर्निमेष सौन्दर्य, रूप संयोजन श्री हरती मन,
दीप्त वर्ण सुन्दर भावों के ज्यों प्रतीक हों गोपन!
सौरभ-साँसों से भर देते जन भू उर का आँगन,—
सुघर फूल, सौन्दर्य कला के तुम हो जग में दर्पण!"

"फूलों से क्या होगा, कवि, अपलक भर रखते लोचन,
रंगों गन्धों से हो सकता क्या जीवन का पोषण?
फल हैं स्तुत्य,—झुकी तरु डालें भू प्रति किये समर्पण,
निरुपम वन निधि वे, रस करता सहज स्वास्थ्य संवर्धन!"

"फूल फूल है, फल फल हैं, तुलना सदैव ही घातक,
सुन्दर को सुन्दर के लिए न वरना दारुण पातक!
तन के भोजन के सँग मन का भोजन भी आवश्यक,
सुन्दरता आत्मा की पोषक, भू मांगल्य विधायक!

"कला पूर्ण यदि अपने में, वह होगी जन अभिभावक,
सुन्दरता रस-सार सृष्टि की, सूक्ष्म भाव उन्नायक!

प्रेम शक्ति की प्रेरक वह, जन जीवन अभिमत दायक,
सृजन कर्म संचालक, मधु के फूलों की मृदु सायक !"

अन्तर्जग

जब मेरी हृत्तन्त्री में जगता रस स्पन्दन
नव स्वर संगति में-से बँध जाते जड़ चेतन !
भर-से जाते क्रूर विषमताओं के भू-व्रण,
निखिल विश्व में आ जाता आन्तरिक सन्तुलन !

अर्घ खुले दिग् वातायन में सद्यः जागृत
नव प्रभात मुख दिखलाता किरणों से मण्डित,—
मसृण रेशमी आभा-अंचल से हो आवृत
अंग अंग धरती के लगने लगते शोभित !

गा उठते खग वृन्द, मत्त नाचता समीरण,
डुबा कूल, सागर लहरें उठ करतीं नर्तन,
मौन मन्त्रणा-से करते रवि शशि तारागण
मानव जीवन का करते नव पर्यालोचन !

निःसंशय हो जाता तब मेरा अन्तर्मन—
ये प्रकाश, आनन्द, शान्ति, सौन्दर्य के भुवन
कहीं मनुज के अन्तर्जग ही में चिर गोपन,—
प्रेम प्रतीक्षा करता जिनकी पथ में प्रतिक्षण !

मृत्यु

यह जीवन कितना महान् है ! इसके सिर पर
विधि ने नीरव नीलमणि जड़ित मृत्यु मुकुट धर
गौरव उसे दिया है,—जीवन प्रति हो सहृदय,—
वह फिर से नव जन्म ग्रहण कर सकता निर्भय !

नव यौवन की मांसल शोभा से हो वेष्टित
विचरण कर सकता भू पर प्राणों से मण्डित !
जन्म मरण की आँख मिचौनी से चिर परिचित
जीवन रे अविजेय सत्य जन-भू पर निश्चित !

उदय कभी होते कृतान्त आँखों के सम्मुख
देख वज्र दृढ़ नील गात्र मन को मिलता सुख !
न्याय यष्टि कर में, करुणा से आर्द्र नयन मन,
जीवन संरक्षक-से लगते वे चिर गोपन !

मृत्यु लोक की दारुण स्थिति दुख देती मन को
देख मृतक के हित सन्तप्त विलखते जन को !
आँसू की मुक्ता लड़ियों की माला अनगिन
मृत्यु देव के वक्षःस्थल में पड़ती प्रतिदिन !

खलता अपनों का बिछोह,—भावों का बन्धन
सहज न होता छिन्न, दुःख के लगते दंशन!
पर गरिमा से सहना उसको लगता शोभन,
मृत को दें सम्मान, मृत्यु को निःस्वर पूजन!
भू-जीवन में गौरव-सुन्दर मृत्यु असंशय,
उसका गुरु व्यक्तित्व गभीर, पवित्र, अनामय!
मृत्यु पार भी मुझे दिखायी देता जीवन,
स्वप्न द्वार भर मृत्यु,—करें जन सहज सन्तरण!

यन्त्र नगर

भगवन्, ऐसा कभी न हो इस भारत-भू में
जब घर पर घर, मंजिल पर सौ मंजिल उठकर
औद्योगिक देशों नगरों - सा दारुण दुर्गम
ईंट पत्थरों का निर्मम गढ़ इसे बना दें,—
टेढ़े मेढ़े सर्पीले मार्गों से गुम्फित!
जहाँ देखने को न मिलें फूलों के प्रिय मुख,
मुखर झरोखों से आ-जाकर चिड़ियाँ फर-फर
गीतों के पंखों में मन की व्यथा अजाने
उड़ा न ले जा सकें! जहाँ खिड़की से झर-झर
चाँदी के थक्के सी धूप न हँसे फ़र्श पर!
जहाँ मुक्त-व्यक्तित्व नहीं खो जाय प्रकृति का
घनी साज सज्जाओं में आधुनिक गृहों की—
हरा भरा मृदु दूबड़ बिछा न हो आँगन में
पग पग पर उठता दबता मखमली तल्प सा!
ढका न हो उन्मुक्त नील धूमों के घन से
आँखों में कड़ुआता, साँसों में चुभता सा!
भटक न जाये ज्योत्स्ना बिजली के प्रकाश में
स्वप्नों के अंचल में मन को रहे लपेटे!
मुक्त प्राणप्रद बहे न वायु—वनों की सद्यः
सौरभ-साँसों से जीवन मन का विषाद हर!
तारों का नभ झुका न हो भीतरी सहन में
निःस्वर सम्भाषण सा करता शरद निशा में!
षड्ऋतु पोषित श्री सुन्दर निरुपम निसर्ग को
प्रभु, न कभी विच्छिन्न मनुज से होने देना!

चिड़ियों की सभा

चिड़ियों की उस बृहत् सभा ने मुझको चुना सभापति,—
मैं भी मन से उड़ता, गाता, भाई उनकी संगति!
कभी बैठ मेरी गोदी में, कन्धों पर, फिर सिर पर,
करने लगीं मधुर कूजन वे—भाव मुग्ध स्वर-सहचर!

मिला मनुज साथी था उनको वे थीं मन में हर्षित,
मेरे भी मणि-वर्ण कल्पना-पंख फड़कते पुलकित !
सुनता सहज स्फुरित गायन मैं, सुनता निःस्वर अम्बर,
चटुल समीरण, मुखर दिशाएँ स्वर पर हुईं निछावर !
निखिल प्रकृति करताली देती, तरुवन भरते मर्मर,
घुल जाता उर का विषाद, लय में लवलीन चराचर !
पूछा मैंने, कैसे गातीं तुम रस तन्मय गायन,
रुक सा जाता काल मूल गति, मोहित हो उठते क्षण !
बोले खग, कुछ क्षण नीरव रह, नहीं जानते कारण,
क्यों उन्मेषित होता अन्तर—स्वतः फूटते गायन !
तुम्हीं बताओ, कवि हो तुम, क्या गीत शब्द-स्वर साधन ?—
रहा सोचता जाने कब तक मैं कर आत्म निरीक्षण !
जान न पाया मैं भी कुछ भी सृजन रहस्य अगोचर—
विहग उड़ गये थे सब कब के मुझको देख निरुत्तर !
नहीं जानता, क्यों गाते खग, गन्ध कुसुम क्यों निःस्वर,—
मूक मुखर—दोनों क्या कहते इसे जानता अन्तर !

भाव सिद्धि

फूलों की आत्मा से सहसा मेरी भेंट हुई निर्जन में—
उसकी अपलक श्री शोभा से विस्मय-मूढ़ हुआ मैं क्षण में !
वर्णों की किरणों से गुम्फित तन पर साड़ी थी त्वच-कोमल,
केसर-पावक की मधु अलकें शोभित थीं स्मित मुख पर निश्चल !
सौरभ की उन्मद साँसों से प्राण हो उठे मेरे पुलकित,
फूलों ने छू मुझे डँस लिया प्रीति तड़ित् से कर तन वेष्टित !
मैं न सह सका दीप्त स्पर्श सुख हुआ अंक में उनके मूर्छित,
कौन पचा सकता शोभा-विष शक्ति पात के सुख से दंशित !
बोली पुष्पात्मा, तुम मूर्छित जग के प्रति, मेरे प्रति जागृत,
शोभा की साधना तुम्हारी पूर्ण हुई,—मैं सिद्धि अवतरित !
हृदय चेतना थी वह निर्मल स्वर्गिक भाव विभव से कल्पित,
तीर्थ स्नान सा कर मेरा मन देह-मुक्त हो उठा उल्लसित !
मुझे देख रस-तन्मय स्थिति में बोली वह, स्मृति पुलकित मन में,
कहाँ समाधित होते ? मुझको स्थापित करो धरा आँगन में !
सोचा, जग के प्रति विरक्त रह मैं न पूर्ण हो सकता निश्चित
जग जीवन से भाव-सिद्धि को करना होगा मुझे समन्वित !
तब से विश्व विसंगतियों में अन्तः शोभा कर संयोजित
नव भू जीवन रचना के प्रति सृजन हर्ष से हूँ मैं प्रेरित !

पत्थर में फूल

दो पाषाण खण्ड
सुहृदों-से सटे परस्पर,
लेटे हैं वन के अंचल में !

छायाएँ जब कँपतीं तन पर
लगता दोनों साँस ले रहे,
या आपस में चुपके से
फुसफुसा रहे कुछ !
षड्ऋतुएँ आतीं
पर उनमें
कोई भी परिवर्तन
नहीं दिखायी पड़ता !
कोयल गाती,
शरद पूर्णिमा भाती,
फाल्गुन की उन्मद बयार
वन में सौरभ बिखराती—
उन पर तनिक प्रभाव न पड़ता,
कभी न दिल ही उछल मचलता,—
रक्त दौड़ना दूर रहा
उन्मत्त शिराओं के भीतर !
हाँ, गर्मी में
वृद्ध गृद्ध कुछ देर के लिए
वहाँ ठहरता थककर क्षण भर !
सावन भादों में
अलबत्ता
कुछ काई सी जम जाती
खुरदुरे बदन पर !
शेष सनातन जीवन उनका
गुह्य मौन में बन्दी रहता !
आज अचानक
एक जंगली फूल
फोड़ उनकी दरार को
साहस कर, उनके सीने से फूट
निकल आया लो बाहर !
निज विस्फारित चकित दृष्टि से
देख रहा वह
यमज अनमने पाषाणों को
सोए तदाकार तन्द्रा में !
प्रतनु वृन्त पर
नाच रहा वह मन्द पवन में—
निज उर का उल्लास
थिरक, उन पर उडेलने !
दोनों मित्र
स्वयं भी कुछ विस्मय विमूढ़-से
निर्विकार नयनों से
देख रहे उसका मुख !

मन ही मन
ज्यों सोच रहे हों—
हाय विधाता,
पत्थर उर में
फूल खिलाना था क्या तुमको!

समाधान

समाधान क्या सम्भव मन के स्तर पर?—
जब कि बदलना निखिल विश्व-जीवन को!
बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित जन-जीवन,
छिड़ा विगत में मूक-अनागत में संघर्षण,—
स्वाभाविक अब आर्थिक सामाजिक परिवर्तन!—
स्वर्ग प्रतीक्षा रत—वह करे धरा पर विचरण!
समाधान सम्भव है अब भी मन के स्तर पर
यदि प्रबुद्ध मन निज कर में लें भू शासन को!
या फिर कटु संघर्षण, रण, विनाश भी सम्भव,
दो दृढ़ शिविरों में विभक्त सम्प्रति बल वैभव,
पर विश्वास मुझे, न ध्वंस ढायेगा मानव,—
विश्व सभ्यता का समस्त जो दारुण परिभव!
आस्था ईश्वर पर मुझको,—उससे सब सम्भव,
वही बदल सकता बहिरन्तर जीवन मन को,—
काल सृष्टि का साक्षी—प्रगति विकास प्रवर्तक,
ईश्वर-गर्भित जानो उसके शाश्वत-क्षण को!

पंखड़ियाँ

फूल फूल हैं!
ये केवल पंखड़ियाँ कोमल,
नहीं पुष्प का सा श्री सौष्ठव,—
रंग गन्ध रज के मुरझे दल!
बिखर गयी स्वर्गिक स्वर संगति
रहा न वह अन्तः संयोजन,
अब न पूर्णता के ये दर्पण,
पृथक् पृथक् जीवन क्षण निष्फल!
मधुरस कोष नहीं अब अन्तर,
अनिमिष दृष्टि न छूती अम्बर,
कहाँ झुलाता अब मलयानिल?
वृन्तच्युत, घायल अन्तस्तल!
मधुपों से न अधर रस चुम्बित,
साँसों से न समीरण सुरभित,
केसर अलक न हिम जल गुम्फित,
तार तार शोभा का अंचल!

अब ये फूल न बन पायेंगी,
मिट्टी में झर मिल जायेंगी,—
पंखड़ियों से फूल न बनते,
फूलों के ही पंखड़ि-करतल !
फिर भी ये हो सकतीं सार्थक
मधुर प्रतीक्षा में रत अपलक,
नव मधु पथ में पलक पाँवड़े
बिछा,—फूल बन सकतीं अविकल !
ये प्रसून पंखड़ियाँ कोमल !

एकं सत्

कवि के मन को जिस प्रकार छूता जग जीवन
वह उसमें संगति भर स्वर-बिम्बित कर देता,
शब्दों को वह सौंप जगत् की व्यापक पीड़ा
अपने मन की गोपन व्यथा सहन कर लेता !
हृदय शिराओं में बहता जो जीवन शोणित
उसको साँसें आ जा शोधित करती रहतीं,
भाव-व्यथा प्रेरणा-किरण पा गीत-स्पर्श की
लोकोत्तर सुख बन जन जन के मन में बहतीं !
केन्द्र परिधि दोनों ही अविकल अंग वृत्त के,
आस्था केन्द्र, परिधि जग-जीवन मानव मन की,
बहिर्भ्रान्ति खो जाए नहीं जगत् मरु में नर
आवश्यकता उसको आत्मिक अवलम्बन की !
अमृत स्रोत रस-आत्मा, जिसकी अक्षय धारा
जीवन संघर्षण में भरती नव संजीवन,
जग प्रिय हो, जन प्रिय हों, भू जीवन भी प्रिय हो
सब से प्रियतर हो आत्मा का सत् चित् आनन !
सखे, एक ही स्वर में गाता अब मेरा मन,
निखिल स्वरों का स्वर जो, निखिल स्वरों का आशय,
स्वर्ग मर्त्य संगीत स्रोत झंकृत जिस स्वर में,
जिसके बिना जगत् जीवन दारुण भय संशय !

आत्म धुरी

छोटी मिट्टी के लट्टू सी धरती
नाचा करती
दिशि के करतल में नित,
आत्म सूर्य की परिक्रमा करती !
देखा करता मैं उसका यौवन
श्यामल हास्य स्मित,

देखा करता भाव प्रवण मन
सागर सा आन्दोलित !
देखा करता रजत किरीट
हिमालय-से शिखरों को,
देखा करता
अन्धकार से भरे
अचेतन प्राण गह्वरों को !
मिट्टी के लट्टू सी धरती
अंक गणित के क्षुद्र बिन्दु सी
पर अपने में गहन सिन्धु सी,
उसका भी रे अपना जीवन
विधि जिसका करता संचालन !
वृष्टि अवर्षण
झंझा उल्का
भूमि कम्प आ
रक्त अस्थि नित करते मन्थन,—
अपने उर में
कोटि चराचर
अग जग उर्वर
करती धारण !

वह तटस्थ हो इन सबसे—
लट्टू सी नाचा करती नित
अपनी ही गति में—
बँध
भूमा की स्वर संगति में !
देख मुझे भव भय से
जर्जर कातर,
नृत्यपरा धरती दिग् हर्षित
शस्य हरित आँचल सँभालकर
कहती—
जग जीवन धारा अनादि से बहती !
तुमको यदि अपना जीवन दे
कुसुमित जग को करना
औरों का दुख हरना—
आत्म धुरी में रहो सहज स्थित,
जग जीवन को भी
अपने में करो समन्वित,—
तभी जगत् को तुम यत्किंचित्
अपनी उर-निधि दे पाओगे !—
अपने जीवन में भी इससे
सार्थकता पाओगे !

आत्मच्युत हो
अग जग से निगले जाकर तुम
निश्चय मन में पछताओगे!

अन्तर्यात्रा

खोल दिये तुमने कपाट
अन्तः शोभा के
इस युग में सौन्दर्य लोक का
मैं एकाकी यात्री निर्जन!
शीतल बतलाता हूँ जब
भव अंगारों को—
मुझ पर तब विश्वास नहीं
करता युग का मन!
इस जग के भीतर नव जग
प्रस्फुटित हो रहा निःस्वर,
फिरता अभिनव भाव भूमि में
मन स्वप्नों के पग धर—
दोष न दूंगा,
जो अमूर्त है अभी
न उसको यदि मानें जन!
जब अदृश्य निज मुख दिखलाता
शेष न तब संशय रह जाता,—
स्वप्न सत्य औ' सत्य स्वप्न बन
बोध हृदय में भरता नूतन!
भाव - मूल्य होते परिवर्तित
नव रचना प्रति जीवन अर्पित,—
मिटता जग का लेखा जोखा
उर अलक्ष्य का बनता दर्पण!
आने को अब वह अविदित क्षण
छँट जायेंगे भव संशय घन,
विश्व क्षितिज पर दीखेगा स्मित
ज्योतिर्मय भावी का आनन!

आत्म परिचय

बदल रहा भू-मानव अन्तर,
बदल रहा अब विश्व दिगन्तर,
अपने में स्थित
नव समाज-रचना में रत
मैं प्रतिक्षण!

सीमित जग, कंटकित धरा मग,
मोह पंक में डूबे जन पग,
जग के बाहर-से लाता
रचना सामग्री गोपन !
अन्धकार में चलता अनुक्षण
बल पाता भय संकट से मन,
खुला हृदय में प्रीति-स्पर्श से
ज्योति -- नयन वातायन !
मैं अनन्त प्रतिनिधि, गत बन्धन,
कालहीन आलोकित लघु क्षण,
जन्म मरण जीवन से पर—
शाश्वत-मुख का सित दर्पण !
सूक्ष्म वस्तुओं से चुन चुन स्वर
संयोजित कर उन्हें निरन्तर,
मैं कबीर-पन्थी कवि
भू जीवन पट बुनता नूतन !

आत्म दर्प

मेरी रचना चुभतीं कुछ को
सूक्ष्म कार्य वे करतीं अपना,
असन्दिग्ध ध्रुव मेरा अन्तर
एक सत्य स्वर मुझको जपना !
मुझे छेड़ते जब, वंशी सा
गा उठता मेरा तन्मय मन,
विश्व विसंगति में नव संगति
भरता मैं—जग के प्रति चेतन !
सृजन कर्म मैं रोक न सकता
वह मेरे स्वभाव का दर्पण,
मैं हँसता—जब कहते सुनता,
लिये हुए मैं उनका आसन !
शत्रु, मित्र का हो स्पर्धा वश
बनता नर अपना ही भक्षक,
विमुख प्रेम के होता जो जन
उसका ईश्वर ही रे रक्षक !
साक्ष्य सत्य का जिसको

अहं दर्प मद का प्रक्षेपण
नहीं मनुजता का शुभ लक्षण,
क्षुद्र अहंता सदा चाहती
बृहद् बिम्ब दिखलाये दर्पण!

सत्य कथन का रिक्त दर्प ही
पग पग करता मिथ्या भाषण,
सौम्य, विनम्र, उदार चरित का
मानव मन करता अभिवादन!

विद्युत् युग

आज अचानक
बिजली चली गयी जब
मुझको
शरण मोमबत्ती की लेनी पड़ी
विवश हो!
तन्वी लौ का
स्वर्णिम सौम्य प्रकाश भर गया
चुपके मन में!
स्वप्नों का संसार सहज
साकार हो उठा नीरव क्षण में!
मुग्ध शलभ का प्रेम,
दग्ध जीवन आकांक्षा,
आत्म समर्पण,
नाच उठा आँखों के सम्मुख
मृत्यु शयन को उन्मुख!
प्रेम त्याग ही का हो दर्पण!

सहज शीलमय
मानवीय सी लगी मुझे लौ,—
कनक किरण मण्डल ने
घेर लिया था स्मित मुख!
मैं उन्मन सा रहा सोचता—
क्यों भाती दुबली पतली लौ
बिजली की जगमग फुहार से—
स्त्री सी नत मुख
खड़ी सामने,
लाज लता सी,
कम्पित तन मन
स्नेह सने!

क्या बिजली के
दिक् प्रशस्त
व्यापक प्रकाश से

श्रेष्ठ मोमबत्ती
या दीपशिखा हो सकती ?
भू मानव की पथ दर्शक
बन सकती जग में ?
काँटों के भू जीवन मग में ?
नहीं, नहीं,—
यह मोह मात्र
अभ्यासी मन का—
जपता रहा रूढ़ि का मनका !
विद्युत् का हीरक प्रकाश ही
ज्योति दूत जन-भावी जग का,
वही सभ्यता का भी प्रतिनिधि,
आत्म प्रबुद्ध प्रतीक
महत् वैज्ञानिक युग का !

दीपक का युग गया !
मोह उसका स्वाभाविक,
पर, विवेक करता न समर्थन
दीप शिखा का,—
शयन कक्ष में
कम्पित वक्ष, विनत सिर
शोभा दे वह अब भी !
विद्युत् किरणों से दीपित अब
सभ्य जगत् की निशा—
वही अन्ध तम का मुख धोती,
स्पर्श मात्र से उसके
अग जग में उजियाली होती !—

यन्त्र शिराओं में बहता अब
उसका अति गति शोणित,—
पार लगाता तिमिर सिन्धु में
जन जीवन का बोहित !

प्राण शक्ति की प्रतिनिधि विद्युत्
द्रुत से द्रुत,
वह मिटा सकेगी भूत निशा ?
वह स्थूल शक्ति,
क्या मानवता को
सुझा सकेगी नयी दिशा ?
मुझे नहीं सन्देह
सहायक होगी वह भौतिक विकास में—
मनुष्यत्व खोजा जा सकता
—ज्ञात मुझे—
अन्तर्मुख आत्मा के प्रकाश में !

स्त्री

मुझको लोहे का तार बनाया स्रष्टा ने
तुमको झंकार बनाया मेरे अन्तर की,
मैं समझ नहीं पाता था अपनी सार्थकता
तुम देह सहज धर लायी भाव मधुर स्वर की !
मैं बाँध न पाया तुम्हें पूर्ण स्वर-संगति में,
मेरी अक्षमता,—मन मुझसे कहता निश्चय,
झंकार मात्र तुम रही हृदय की चिर अमूर्त,
बन पायीं नहीं प्रणय प्रतिमा शोभा-तन्मय !
संगीत नहीं फूटा, उर को कर रस विभोर,
स्वर रहा समाया प्राणों ही में भाव-मौन,
गूँजता रहा कलियों को घेर हृदय-मधुकर
चुन पाया सलज नहीं उनमें प्रेयसी कौन !
श्री शोभा लतिका तुम, मुझको अस्पृश्य रहीं,
वंशी की रस-अवयव मांसल लय सी कोमल,
नव भाव रूप धर छूतीं स्वप्नों के उर को
हो उठते प्राण अदृश्य स्पर्श पाकर चंचल !
तुम वाद्य मधुर होतीं—मन के तारों को छू
मैं अपनी लय में उन्हें बाँध लेता सुखमय,
कल्पना स्वप्न भी होतीं, परिचित मैं उनसे
प्राणों से कर लेता उनका अक्षय परिणय !
तुम मलय अनिल सी आ, रोमांचित कर जातीं
साँसों की सौरभ से छू आकुल अन्तस्तल,
ज्योत्स्ना सी छिपकर स्वप्नों में नहला जाती
फहरा सुषमा की शीतल लपटों का अंचल !
सुन्दर स्त्री भी है जग में, मन पुलकित रहता,
घेरे रहती स्मृति छायाएँ उर को अनुक्षण,
तुम सृजन हर्ष के पंख खोल गाती चुपके
भावी के श्री सुख स्वप्नों से भर जाता मन !

अर्पित जीवन

सध जाता जब तार हृदय का
रस तन्मय हो
गाने लगते प्राण स्वयं ही
नीरव स्वर में !
जग जीवन के कोलाहल को
लाँघ मौन से
सूक्ष्म स्वप्न-झंकार
फूट पड़ती अन्तर में !

काल-मुक्त से हो उठते क्षण
नभ सा विस्तृत राग-रुद्ध मन,
हार विजय सी
विजय हार सी
लगती जग जीवन-संगर में !
दूर न कुछ भी लगता मग में,
निकट सभी के मैं अब जग में,
मन अपने में डूब
तैरता निर्भय
सुख दुख के सागर में !
आस्था से पा नव संजीवन
श्रद्धा के पथ पर चलते क्षण,
अर्पित मन जीवन के हित
अब भेद न कुछ
बाहर भीतर में !

आयें, आयें विश्व चराचर
फूलों-से मुखड़े ले सुन्दर—
जग के जन-वन में
खोया भी
रहता मन अपने ही घर में !
सुख दुख उर में आते जाते
धूपछाँह दोनों ही भाते,—
मैं हूँ सुखी
तुम्हारे नाते,
किसमें क्या मानूँ अन्तर में !

जीवन उल्लास

चिड़ियाँ गातीं मधु कलरव भर
छाया गाती कँप कँप निःस्वर,
रवि किरणें ज्योति स्पर्शों से
गातीं मन को छूकर !
सभी वस्तुएँ गातीं निश्चय,
क्या तुमको सुन होता विस्मय ?
सब जग में कहने को आकुल
क्यों रस आतुर अन्तर !
मर्मर करते रहते तरुदल,
गन्ध अनिल फिरती स्मृति चंचल,
गूढ़ सृजन उल्लास सिहरता
सबके उर में थर् थर् !
आओ, हम तुम भी मिल गाएँ,
अपने मन के भेद भुलाएँ,

पृथक् रहें हम, एक साथ भी,
प्रेम प्रतीक चराचर!
मुझे मौन नीलिमा डुबाती,
ज्योत्स्ना स्वप्नों में नहलाती,
मैं सबसे ही परिचित जग में—
एक सत्य के सौ स्वर!

सृजन दायित्व

कोयल जब गाती वसन्त में
नया फूल या
खिल उठता उपवन में—
विश्व प्रकृति तब
सृजनोल्लास
प्रकट करती उस क्षण में!
कलाकार साहित्यकार का
क्या दायित्व भला हो सकता
इससे सुन्दर?—
शोभा की अंगुलि से छूकर
वह संगीत पिरोता जन-भू मन में!

खोल परिस्थितियों के बन्धन
वह रस-मुक्त चेतना करता तत्क्षण,
अतिक्रम कर युग की सीमाएँ,
अतिक्रम कर जग जीवन!
वह सौन्दर्य, प्रकाश, प्रेम,
आनन्द लोक के द्वार खोलकर
आत्मा से साक्षात् कराता
निखिल क्षुद्रताओं से ऊपर,
सुख दुख के सागर तर!

सहज बोध से उन्मेषित वह
तर्क बुद्धि के क्षितिज लाँघ
उड़ता वाणी के राजहंस सा
छू चैतन्य दिगन्तर—
मानव आत्मा
भूजीवन को लाकर
नित्य निकटतर!
और कौन दायित्व लादता
जग उसके कन्धों पर?—
मनुष्यत्व का प्रतिनिधि बन
देता समग्र वह दृष्टि विश्व को,

राजनीति या अर्थशास्त्र
या सामाजिकता में भी
नयी प्रेरणाएँ भर!
कोकिल जब गाती मधुवन में,
नया फूल या
खिलता धरती के आँगन में—
स्रष्टा तब रस मग्न
निखिल दायित्व मुक्त हो,
शाश्वत को बाँधता
सृजन के क्षण में,—
भू जीवन में,
मन में!

भविष्य वाणी

मैं छाया में बैठा उस दिन
धरती पर कुछ आड़ी तिरछी
रेखाएँ अंगुली से यों ही खींच रहा था—
और, सोचता सा कुछ मन में
बीच बीच में आँखें चुपके मींच रहा था!
इतने में कानों में सहसा
नूपुर की ध्वनि पड़ी मनोहर—
आँखें खोल, सामने देखा
एक किशोरी को आते श्री सुन्दर!
अर्ध अगुण्ठित, शीश झुकाये,
रक्तिम आनन, सहज लजाये,
स्वर्ण तृण हरित साड़ी पहने
अंगों में फूलों के गहने—
बैठ गयी वह मेरे निकट
हाथ धर कर में,—
भौंहों में संकेत,
सलज स्मिति मधुर अधर में!—
कहती हो,
बाँचो तो पण्डित, मेरा करतल!
सत्य हस्त रेखा विद्या
या केवल वाग्छल?
सुनती हूँ,
तुम सामुद्रिक हो,
मन्त्र सिद्ध हो,
अपने मित्रों में प्रसिद्ध हो!

मैं हूँ धरती,
सूर्यदेव की
परिक्रमा नित करती!

मेरा भाग्य पढ़ो,
भविष्य बतलाओ मेरा,—
दुर्गम विषम परिस्थितियों ने
मुझको घेरा!
मन को कातर स्वर न छुआ,
हृदय विद्रवित हुआ!
वयःसन्धि से शोभित प्रिय तन,
खिंच जाते थे सहज नयन मन!

फूलों का करतल
मैं थामे रहा देर तक,
उसको निरखा परखा मैंने
घण्टों अपलक!
जन-भू जीवन का विकास
नाचा आँखों में
विश्व सभ्यता का इतिहास
हृदय में छाया,
उड़ स्मृति के पाँखों में!
बोला, मैं तुम पर हूँ मोहित!—
कहा, हटो, मत छेड़ो मुझको,—
गालों में द्रुत दौड़ा शोणित!
मैं बोला, यों मत सकुचाओ,
तुम हो जनगण मन की प्यारी,
प्राणों की प्रिय शोभा प्रतिमा,
मुग्ध किशोरी नारी!
मैं करतल पढ़ चुका ध्यान से,
सुनो, भविष्य बताता हूँ
निज गुह्य ज्ञान से!
अभी तीन रेखाएँ
कर में निकलीं केवल,
अन्न प्राण मन की द्योतक
जन जीवन सम्बल!
आयु, बुद्धि भावना नाम भी
इनके निश्चय,
भू जीवन
इनके ही चिर सुख दुख का
विनिमय!
एक और रेखा
प्रकोष्ठ से ऊपर उठकर

अभी सूर्य अँगुली छूयेगी—
दीर्घ, ऊर्ध्वतर !
भू जीवन को कर
शाश्वत सौन्दर्य प्रेममय
कीर्ति तुम्हें देगी—
आनन्द, प्रकाश अनामय !
अन्तः स्थित होगी तुम
अधिक बहिर्मुख विस्तृत,
यही तुम्हारी भाग्य रेख
बतलाती निश्चित !
सार्थक होगी
सूर्य देव की प्रिय परिक्रमा,
स्वर्ग शिखर चुम्बी होगी
भू मानवता की महिमा !
बोली प्रमुदित—
बाह्य क्षितिज भर छुआ
अभी मानव ने निश्चित
अन्तरिक्ष युग कर
भू मन में नव उद्घाटित !
तुम कहते,
अन्त: शिखरों पर भी विचरण कर
स्वर्ग विभव बरसायेगा
भू पर प्रबुद्ध नर !
धन्यवाद करती मैं नत सिर
आऊँगी तुमसे मिलने फिर !

मधु पंखड़ियाँ

जो बिखर गयी मधु पंखड़ियाँ
वे बन पायेंगी फूल न अब
बँध वृन्त-मूल से—मारुत में
हँस हँस पायेंगी झूल न अब !
सौन्दर्य-वृत्त में संयोजित
वे दृग न करेंगी आकर्षित,
निज उर-सौरभ भू-नभ में भर
हो पायेंगी न स्वयं उपकृत !
मधुपात्र न बन सकते करतल,
अलि को क्या देंगी आमन्त्रण ?
उड़ जायेंगे प्रिय रूप रंग,
कुम्हलायेगा कृमि सा रज तन !
स्वर संगति से विच्छिन्न विकृत
अस्तित्व किसे लगता शोभन,

सन्तुलन चित्त जब खो देता
प्रतिकूल उसे लगता जीवन !
फिर भी वे चाहें तो सार्थक
हों पतित उपेक्षित जीवन क्षण—
बन पलक पाँवड़े बिछें प्रणत,
जीवन नव मधु को कर अर्पण !

सूर्य बोध

मैं जब छोटा था, किशोर,
तब देख प्रकृति मुख
अनजाने
हो उठता था सुख से विभोर !
आँगन से, तरु शिखरों पर से
मन उड़ता चुपके अम्बर में,
मैं मौन शान्ति में खो जाता
तिर रहस नीलिमा के सर में !
कोमल पंखों का स्वप्न नीड़
प्रिय नील शून्य था मन का घर !
विस्मृत हो जाता बाह्य विश्व
नामों रूपों का वस्तु जगत्—
मन मुक्त नील में होता लय,
वह भी करता मेरा स्वागत !
मैं मूल प्रकृति से शक्ति खींचता
नील शान्ति से प्राण खींचता,—
मेरे मन का सूर्य
देखता बाह्य सूर्य को
अपलक लोचन !—
उर में भर जाता नव जीवन
अग जग की
आत्मा का यौवन !
अब भी कुछ ऐसे क्षण आते
ज्योति पान करता मेरा मन !
जग में केवल सुहृद सूर्य
औ' मैं रह जाते !—
ध्यान लीन,
तन्मय, नव चेतन !
रोम रोम तब लेता साँस
अजाने प्रतिक्षण
स्वच्छ, प्राणप्रद,
उच्च वायुओं में उन्मेषित—

विश्वात्मा संग
सहज ऐक्य हो जाता स्थापित !
यही वास्तविक जग है निश्चय,
जो प्रकाश से भरता अन्तर,
सूर्यात्मा का आलय !
नाम रूप के जग से घिर मन
दबा दबा रहता निःसंशय,
डूब नील में,
सूर्य लोक से
नव गति-जय वह करता संचय—
निर्भय, तन्मय !

सूक्ष्म बोध

मैं बाँध न पाऊँगा तुमको
शब्दों की वेणी कर गुम्फित,
साकार नहीं कर पाऊँगा
अन्तर के तारों में झंकृत !
शत भावों बिम्बों में न कभी
अँट पायेगी सुषमा अतुलित,
छवि बिन्दु समा पाएगा क्या
जग जीवन सागर में विस्तृत ?
फट पड़ता बादल अंचल जब
तुम विद्युत् गति करती नर्तन,
करवट लेती रस ऊर्जा जब
गिरि वन भू में जगता कम्पन !
भ्रू इंगित भर से गुह्य व्यथा
गीतों में हो उठती छन्दित,
मधु स्पर्श मात्र से मर्म कथा
पा जाती स्वर लय गति अकथित !
सौन्दर्य अनावृत हो जाये
यदि कला करे तुमको अंकित,
वह डूब लाज में तुममें ही
हो जाये निस्तल अन्तर्हित !
तुम उर के वातायन पर आ
दिखला जाओ गुण्ठित आनन,
कृतकार्य सहज इतने ही में
हो जायेगा जग का जीवन !
तुम हो, इसका ही सूक्ष्म बोध
बनता उर का अक्षय सम्बल,
भू जीवन संघर्षण में भी
बजती रहती अश्रुत पायल !

स्मृति भी न जान पाती अब तो
हो उठता अन्तस्तल तन्मय,
उर नम्र, आत्म रक्षा के हित
तुमको अर्पित—इससे निर्भय !

जयनाद

शुभ्र शंख बन गयी
बोध के हाथों में अब
मेरी वीणा
दुःसह सात्विक मन्यु से भरी !
वह न मधुर भावों की मुरली
अधर श्वास-मधु पीने वाली
प्राणों के बाँसों की हरी !—
हृदय चीर कर फूट निकलती
उससे रहस वेदना गहरी,
क्या न नाद सुन जाग उठेगी
सोयी लोक चेतना बहरी !
मेघों में विद्युत् सी पागल
व्यथा ज्वाल प्राणों में लहरी—
ओ शंख ध्वनि, हृदय खोल कर
अपनी बात जगत् से कह री !
प्रतिध्वनित हो वन पर्वत से
अम्बर का प्रसार तू गह री,
बन अकूल, जीवन सागर की
अतल गहनताओं में बह री !
लाँघ पन्थ के अवरोधों को
जग की क्रुद्ध चुनौती सह री,
देखें जन, युग-ध्वंस ढूह पर
विजय वैजयन्ती नव फहरी !

नम्र

तृण का क्या कर लेगी आँधी ?
हहराती आयेगी कुछ क्षण
फुंकारेगी पटक धुन्ध फण,
गहरे मूल जमाये पादप
ढह जायेंगे ! काँपेगा वन !
सब का मुँह भर देगी आँधी !
सौ सौ अहि लोटेंगे भू पर
रस्सी से बट बट दिग् धूसर,
मन्थित होंगे फेन-जिह्व जल,
उखड़ जाँय सम्भव उड़ भूधर,
अम्बर-पथ तर लेगी आँधी !

लघु तृण झुक जायेगा सम्मुख
पथ पर बिछ जाने को उन्मुख,
भयवश नहीं, शीलवश लज्जित,
शक्ति दर्प प्रति फेर सौम्य मुख,—
उसका क्या धर लेगी आँधी!
भव संकट में रह वह अक्षत,
हरा-भरा, पहिले से उन्नत,
शक्ति प्रदर्शन से अपराजित
रहा नम्र, आत्मस्थित, उद्यत,—
यही कह गये ईसा गांधी!
युग भव बल-शिविरों में खण्डित,
अस्त्र शस्त्र करने में अर्जित,
शक्ति शक्ति से विजित न होगी,
मानवीय ब्रह्मास्त्र अपरिचित!
तिनके ने तब हिम्मत बाँधी!

आकांक्षा

मुझे ताजगी,
नव जीवन उल्लास चाहिए,
जड़ यथार्थ की टहनी में
चेतन स्वप्नों का वास चाहिए!
अतिक्रम करता रहता नित
यथार्थ अपने को,
मूर्तिमान करता
अमूर्त मन के सपने को!
मुझे स्फूर्ति,
मन प्राणों में अभिलाष चाहिए—
विश्व ह्रास विघटन में
नया विकास चाहिए!
कौन सत्य है, कौन स्वप्न
पीछे जानोगे,
क्या यथार्थ आदर्श
शनैः ही पहचानोगे!
मुझे सत्य शिव सुन्दर,
शान्ति, प्रकाश चाहिए,
पतझर वन में हँसता
नव मधुमास चाहिए!
भोग त्याग में
मुझे त्यागमय भोग चाहिए,
कार्य व्यस्तता में
ध्यानस्थित योग चाहिए!

युग के भौतिक पिंजड़े में
बन्दी जग का मन—
मुझे चाहिए
आध्यात्मिक नव लोक जागरण !
भंगुर जग में
ईश्वर का अधिवास चाहिए,
शाश्वत का सित स्पर्श,
शक्ति, विश्वास चाहिए !

प्रतीक

कैसे रंग उभरते ये
आँखों के सम्मुख—
रंगों के धक्के
प्रतीक भर
दृग लेते हर,—
कहीं न इनके
आँख कान मुख !
केवल हँसते रंग
हृदय को करते मोहित !
कौन चेतना
अभिव्यक्त करती अपने को !
मैं कैसे समझूँ
रहस्यमय
मन के इस जाग्रत् सपने को !
इन रंगों में शब्द न अर्थ
भाव भर केवल—
ये करते मन प्राण उल्लसित !
खोज रहा मैं
वह प्रकाश की किरण
मोहती जो मेरा मन,—
रंगों में जो कहती प्रतिक्षण
मुझसे संकेतों में गोपन
उर की बातें अकथित !

कश्मीर

धरा स्वर्ग कश्मीर, प्रकृति का सद्यः सौन्दर्यस्थल,
इन्द्रनील नभ, मरकत हरित धरित्री शस्य श्यामल !
गाता सर सरिता झरनों में गिरि का गीत-मुखर जल,
फूलों के रंगों की घाटी,—हँसता मुक्त दिगंचल !

केसर की रोमांचित खेती अपलक रखती लोचन,
साँसों में बहता अनाम गन्धों से गुँथा समीरण!
पहलगाँव, गुलमर्ग मोहते मुग्ध यात्रियों के मन,
निश्चय ही उन्मुक्त प्रकृति का यह प्रिय क्रीड़ा प्रांगण!
बाँहों में सा धरा उठाये नील नयन अम्बर को,
ध्यानावस्थित रखते निर्जन गिरि तन्मय अन्तर को!
शोभा से दिग् विस्मित हृदय नमन करता ईश्वर को,
मन देता धिक्कार नरक कृमि-से दरिद्र हत नर को!
मुझे स्मरण आती फिर ग्राम्या : प्रकृति धाम यह जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे अभिशापित, जीवन-मृत!
भू विकास युग : सम्भव, नव जीवन मूल्यों से प्रेरित
धरा-स्वर्ग के योग्य यहाँ नव मानवता हो विकसित!

सौन्दर्य स्पर्श

सौन्दर्य लोक का वासी मन गूँथा करता शोभा वेणी
शोभा आत्मा की सार सुधा, शोभा भू-स्वर्ग सलभ श्रेणी!
जो धर्म न दर्शन दे सकता कवि देता वह रस सत्य अमर,
चैतन्य अमृत, प्राणों का मधु शब्दों के दोनों में भर भर!
पहुँचाता शोभा का प्रकाश वह पर्ण कुटी, घर आँगन में,
उर का पावक वितरण करता रस अंजुलि भर जन के मन में!
निज अमर-स्वरों के स्पर्शों से भरता जग-जीवन के कटु व्रण,
दीपित करता अवसाद तमस प्रेरणा किरण से छू नूतन!
स्वर्गिक सम्पद् के खोल रुद्ध वह जन भू उर के वातायन
भावों के शोणित से करता जड़ता के शव को नव चेतन!
सौन्दर्य साधना कृच्छ्र महत् जीवन के विष को बना अमृत,
सह घृणा दंश, दे सहज प्रेम, पशु को करना होता संस्कृत!

संयुक्त

वासी लग सकते भला कभी
ये फूल पात, तृण तरु श्यामल,
ये सूर्य चाँद तारे—
सरिता का कल कल गाता बहता जल!
जो स्फूर्ति समीरण की गति में,
जो शान्ति नील नभ में निर्मल—
वास्तविक जगत् वह, शेष सकल
यान्त्रिक मृत तथ्यों का जंगल!
प्राणों का सागर लहराता
विद्युत्स्पर्शी चल रजतोज्वल
पीओ रोओं के कूपों से,
संचित नव करो हृदय में बल!

नव नवता नित जग जीवन की
करती मन प्राणों को मोहित,
जड़ जग का मुख भी सृजन शक्ति
नव भावों से करती अंकित !
इस नाम रूप जग में रहना
उठ नाम रूप से ऊपर नित
अन्तः स्थित रखता मानव को
आनन्द केन्द्र से संयोजित !
तृण तरुओं के जग के मुझको
सन्देश नित्य करते प्रेरित
खग-मृग मुझसे बातें करते,
सबके आशय से उर परिचित !

संगीत एक ही व्याप्त मौन
तृण तरु जीवों के अन्तर में
वस्तुएँ सभी पातीं निःस्वर
अभिव्यक्ति उसी अविदित स्वर में !

वासी पड़ सकता जगत् नहीं
मुख सृजन चेतना का बिम्बित,
सद्यः स्फुट सा लगता प्रतिकण
अविरत शाश्वत के प्रति अर्पित !

उर केन्द्र-शक्ति से भाव-युक्त
बहु का भी करता आस्वादन,
बहु में खोये मानव मन को
दुष्कर होता जीवन यापन !

आत्म मोह

विष पी, युग सागर का विष पी,
जीवन के प्यासे मन,
शस्य श्यामला सुधा वृष्टि से
तुझे सींचने मरुकण !
अन्तर्नभ की उच्च वायुओं की
श्वासा पी पावन
विष प्रभाव से मूर्छित मन में
भर फिर नव संजीवन !

सुरसा सा मुँह फाड़ व्यक्ति
जो करते निज विज्ञापन
मसक रूप धर, मोह सिन्धु तर
गोपदवत् तू अनुक्षण !

आत्म मोह बढ़, दैत्य रूप जब
धरता दारुण भीषण
निज अवगुण भी गुण लगते तब
पर के गुण भी दूषण !

केसर की रोमांचित खेती अपलक रखती लोचन,
सांसों में बहता अनाम गन्धों से गुंथा समीरण!
पहलगाँव, गुलमर्ग मोहते मुग्ध यात्रियों के मन,
निश्चय ही उन्मुक्त प्रकृति का यह प्रिय क्रीड़ा प्रांगण!
बाँहों में सा धरा उठाये नील नयन अम्बर को,
ध्यानावस्थित रखते निर्जन गिरि तन्मय अन्तर को!
शोभा से दिग् विस्मित हृदय नमन करता ईश्वर को,
मन देता धिक्कार नरक कृमि-से दरिद्र हत नर को!
मुझे स्मरण आती फिर ग्राम्या : प्रकृति धाम यह जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे अभिशापित, जीवन-मृत!
भू विकास युग : सम्भव, नव जीवन मूल्यों से प्रेरित
धरा-स्वर्ग के योग्य यहाँ नव मानवता हो विकसित!

सौन्दर्य स्पर्श

सौन्दर्य लोक का वासी मन गूँथा करता शोभा वेणी
शोभा आत्मा की सार सुधा, शोभा भू-स्वर्ग सलभ श्रेणी!
जो धर्म न दर्शन दे सकता कवि देता वह रस सत्य अमर,
चैतन्य अमृत, प्राणों का मधु शब्दों के दोनों में भर भर!
पहुँचाता शोभा का प्रकाश वह पर्ण कुटी, घर आँगन में,
उर का पावक वितरण करता रस अंजुलि भर जन के मन में!
निज अमर-स्वरों के स्पर्शों से भरता जग-जीवन के कटु व्रण,
दीपित करता अवसाद तमस प्रेरणा किरण से छू नूतन!
स्वर्गिक सम्पद् के खोल रुद्ध वह जन भू उर के वातायन
भावों के शोणित से करता जड़ता के शव को नव चेतन!
सौन्दर्य साधना कृच्छ्र महत् जीवन के विष को बना अमृत,
सह घृणा दंश, दे सहज प्रेम, पशु को करना होता संस्कृत!

संयुक्त

वासी लग सकते भला कभी
ये फूल पात, तृण तरु श्यामल,
ये सूर्य चाँद तारे—
सरिता का कल कल गाता बहता जल!
जो स्फूर्ति समीरण की गति में,
जो शान्ति नील नभ में निर्मल—
वास्तविक जगत् वह, शेष सकल
यान्त्रिक मृत तथ्यों का जंगल!
प्राणों का सागर लहराता
विद्युत्स्पर्शी घन रजतोज्वल
पीओ रोमों के कूपों से,
संचित नव करो हृदय में बल!

नव नवता नित जग जीवन की
करती मन प्राणों को मोहित,
जड़ जग का मुख भी सृजन शक्ति
नव भावों से करती अंकित !
इस नाम रूप जग में रहना
उठ नाम रूप से ऊपर नित
अन्तः स्थित रखता मानव को
आनन्द केन्द्र से संयोजित !
तृण तरुओं के जग के मुझको
सन्देश नित्य करते प्रेरित
खग-मृग मुझसे बातें करते,
सबके आशय से उर परिचित !
संगीत एक ही व्याप्त मौन
तृण तरु जीवों के अन्तर में
वस्तुएँ सभी पातीं निःस्वर
अभिव्यक्ति उसी अविदित स्वर में !
बासी पड़ सकता जगत् नहीं
मुख सृजन चेतना का बिम्बित,
सद्यः स्फुट सा लगता प्रतिकण
अविरत शाश्वत के प्रति अर्पित !
उर केन्द्र-शक्ति से भाव-युक्त
बहु का भी करता आस्वादन,
बहु में खोये मानव मन को
दुष्कर होता जीवन यापन !

आत्म मोह

विष पी, युग सागर का विष पी,
जीवन के प्यासे मन,
शस्य श्यामला सुधा वृष्टि से
तुझे सींचने मरुकण !
अन्तर्नभ की उच्च वायुओं की
श्वासा पी पावन
विष प्रभाव से मूर्छित मन में
भर फिर नव संजीवन !
सुरसा सा मुँह फाड़ व्यक्ति
जो करते निज विज्ञापन
मसक रूप धर, मोह सिन्धु तर
गोपदवत् तू अनुक्षण !
आत्म मोह बढ़, दैत्य रूप जब
धरता दारुण भीषण
निज अवगुण भी गुण लगते तब
पर के गुण भी दूषण !

गाल बजा नर अपने ही से
होता गर्व - पराजित,
अपने को गौरव देने में
खोता गौरव अर्जित !
यश लिप्सा भरमाती,
कुण्ठाएँ फट पड़तीं बाहर,
मुट्ठी जब तक बन्द तभी तक
नर के हित श्रेयस्कर !

आत्मदर्प से स्फीत
उसे लगते जग में सब वामन,
वाह वाह करते मुख पर
हँसते मन ही मन सब जन !
खुल पड़ता वस्त्रावृत
खूसट हाड़ मांस का पंजर,
रिक्त आत्मश्लाघा में लिपटा
व्यंग्य चित्र अपना नर !

भग्न अहंता पीड़ित बौद्धिक
स्नायु पिण्ड श्लथ केवल,
अहंभाव से जर्जर,
बाहर से भी भीतर दुर्बल !
दे यथार्थ की सतत दुहाई
रोता वह जग वंचक,
अन्धकार का मौन उपासक
बन प्रकाश का निन्दक !

नास्तिक बतला अपने को
बनता आधुनिक निरन्तर,
दकियानूसी आस्तिक भीतर
पूजा करता पत्थर !
जटिल जगत्, मानव स्वभाव
उससे भी जटिल असंशय,
सत्-समृद्ध, विद्या विनम्र बन—
जग जीवन प्रति सहृदय !

मेरी वीणा

मेरी वीणा भाव पु[illegible]
मृदु झंकार प्रबुद्ध नाद [illegible]
मैं मया [illegible]
प्राते
मुझे देख [illegible]
उसको स[illegible]

ज्यों असाध्य रोगी जी उठता पाकर रस ओषधि संजीवन
मरणोन्मुख सभ्यता माँगती मुझसे चित्पंखी नव दर्शन !
बहिर्भ्रान्त जग को देता मैं अन्त: केन्द्र—स्वत: आलोकित,
नयी दिशा देता चेतस को नये मूल्य से कर अभिषेकित !
भले सैकड़ों दादुर ध्वनियों से मुखरित हो युग का आँगन,
मन्द्र मेघ गर्जन सुनकर ही भाव पल्लवित होता जन वन !
किसकी प्रतिछवि—नहीं जानता, मेरा मन नव युग का दर्पण,
जन भू मानवता को मिलता इसमें बिम्बित भावी आनन !
वह कोरा परिहास मात्र भंगुर गुटधर्मी नव लेखन का,
बिना स्पर्श पाये शाश्वत का आँचल पकड़े मिटते क्षण का !
विश्व ह्रास विघटन के युग में अस्वीकृति ही उसको भाती,
जग विकास का पथ, मिटना ही इसमें विघटन की क्षण थाती!
मेरी वीणा जीवन रण का शंख बन गयी मेरे कर में—
मानव उर फिर रण क्षेत्र, गाता मन नव गीता के स्वर में !

सुपर्ण

जग जीवन का स्वप्न छूटता जाता मेरा प्रतिक्षण,
अपने में स्थित अब मेरा मन बाह्य विश्व प्रति उन्मन !
जगत् ज्वार ने मुझे उठाकर पटक दिया जिस तट पर
वहाँ असीम अखण्ड शान्ति का मेरा मन अब सहचर !
जिसको मेरी दुर्बलता बतलाते बहिर्मुखी जन
वह मेरी क्षमता का पर्वत—मौन, नम्र, दृढ़, पावन !
पथ बाधक वह नहीं उच्च सोपान जगत् जीवन हित,
मूल धरा में उसके गहरे शिखर रश्मि छवि चुम्बित !
मैं स्वतन्त्र चेता, युग वेत्ता, सृजन चेतना प्रेरित,
नव निर्माण धरा पर चलता जीवन मन आन्दोलित !
यह यथार्थवादी युग हँसता मैं जिस पर मन ही मन—
अश्रु स्वेद श्रम का संघर्षण बतलाते दुर्बल जन !
तिल का ताड़ बना वे करते अहं दर्प विज्ञापित,
जग का हो दायित्व अखिल उनके कन्धों पर स्थापित !
भव यथार्थ आदर्श उभय जीवन-द्रष्टा के रे कर,
दोनों को संचालित करता वह उनसे रह ऊपर !
जग जीवन का स्वप्न छूटता जाता मन से प्रतिक्षण,
कवि ऋषि दृष्टि सुपर्ण अनश्नन—जगत् भोग रस साधन !

नव चेतन

आत्म तुष्ट मन करता सर्जन !
नव चेतन हो गाने लगते
धरती में बिखरे शत तृण कण !

सुन पड़ती रस चाप तुम्हारी
जब तुम तन्मय करतीं नर्तन,
श्री शोभा से सहसा मण्डित
हो उठता जन भू का प्रांगण !
मन के नयन श्रवण खुल पड़ते
दृश्य शब्द बन जाते निःस्वन,
वस्तु जगत् के मुख से उठता
साधारणता का अवगुण्ठन !
क्षितिजों में चित्रित हो उठते
रश्मि तूल वर्णों के गायन,
अन्तरिक्ष के पार मौन तुम
विद्युत् इंगित करती गोपन !
सत्य मुझे जीवन पदार्थ में
दिखलायी देता सब नूतन
जब पद अर्थ खोलती तुम नव
सूक्ष्म हृदय में भर संवेदन !
बहिर्जगत शव, स्पर्श तुम्हारा पा
जी उठता बन नव चेतन,
मृत्यु चिता लपटों में सुनता
नव जीवन स्फुलिंग का स्पन्दन !

आत्मकथा

रश्मितूलि से धूपछाँह स्मित
इन्द्रधनुष वर्णों में चित्रित
मेरी ही आत्मा का वैभव
जीवन सुन्दरता में सज्जित !
ध्यान मौन पर्वत श्रृंगों पर
मूर्तिमान मेरा दृढ़ चिन्तन
सागर स्तर के उद्वेलन में
मेरे अन्तर का संघर्षण !
रजत समीरण मेरी साँसों की
आकुल सौरभ से स्पन्दित,
नदियों की चंचल गति में
मेरे प्राणों की कल ध्वनि छन्दित !
अन्तर्नादित शान्त नील में
मेरी आत्मा का नीरवपन,
जिसमें बनते मिटते रहते
विश्व वेदना के जिलाद्रं घन !
ओसों के वन में हँस उठते
मेरे अन्तःसुख के सित क्षण,

विजन निशा-पट में खुल पड़ते
तारों-से मेरे दुख के व्रण !
निखिल विश्व में लगता मुझको
मेरी ही लघु सत्ता प्रसरित,
दर्पण भर यह बाहर का जग
जिसमें मैं नखशिख प्रतिबिम्बित !
मेरी संवेदना चन्द्र बन
भू का तम करती आलोकित,
आकांक्षाएँ जुगनूँ सी उड़
पन्थ खोजतीं नित्य अपरिचित !

तीर्थ स्नान मैं रागद्वेष की
ज्वाला में करता जीवन की,
अग्नि परीक्षा देता नित
आक्रोश वह्नि में तप जन मन की !
आत्म कथा मेरी मेघों के
दया विद्रवित उर में अंकित,
युग समुद्र मन्थन से ये घन
उमड़े मनोगगन में निश्चित !
मुझको रे प्रिय जन भू जीवन
जन मानवता होगी विकसित,
आत्मकथा का उपसंहार
सुखद आशाप्रद तुम्हें समर्पित !

जीवन बोध

यह जग जीवन का मन्दिर—
हम करने आये पूजन,
आत्मा इसकी गहन नींव,
स्मित कलश उच्च विकसित मन !
यह विकास कामी—इसमें
होते रहते परिवर्तन,
मृत्यु द्वार कर पार
रूप धरता अमर्त्य फिर नूतन !
जीवन ही भव रंग मंच,
नेपथ्य मृत्यु गोपन भर,
कर्म पात्र—रो-गाकर अभिनय
करते निखिल चराचर !
विविध भूमिकाओं में हो
अवतीर्ण विश्व नारी नर
सुख दुःखान्त सृष्टि रूपक को
देते प्रगति निरन्तर !

सृजन चेतना के विकास का
जग चिर साक्षी दर्पण,
भावों, बोधों, लक्ष्यों का
चलता रहता संघर्षण !
इसमें डूबो, पात्र डूबता
जैसे निज अभिनय में—
दर्शक रहो तटस्थ साथ ही—
चुभे न शूल हृदय में !
सत्य जगत् जीवन निश्चय,
शाश्वत विकास का प्रांगण,
ईश्वर प्रति आस्था यदि—
जग जीवन को करो समर्पण !

शंख ध्वनि

मन के वन में आग लगाती
यह गभीर शंख ध्वनि मेरी,
युद्धोन्मुख हृत जगत के लिए
इसे न जन समझें रण भेरी !
कहाँ खो गया वस्तु जगत् के
जंगल में मानव—लगता दुख,
बाहर के उजियाले तम में
कहाँ खोजता वह अपना सुख !

वस्तु जगत में अपनी ही
आभा की छाया देख प्रतिफलित
दौड़ रहा वह कस्तूरी मृग सा
अपने ही से हो वंचित !
मनुज सभ्यता अनति दूर
लेगी नव मोड़—न मुझको संशय,
घृणा द्वेष की नहीं,
विश्व में दया क्षमा ही की होती जय !
संघर्षण के चक्रों को
स्नेहाक्त स्नेह से करना निश्चय,
अपनी ही भीषणता से अब
स्वयं पराजित अणु-बल का भय !
खोलो उर के द्वार मनुज,
विस्तार वहाँ भुवनों का अगणित,
चरण धरेगी मनुज सभ्यता
नयी भूमि पर अन्तर्दीपित !
जीवन का मुख सहज सँवारो
राग द्वेष रज से उठ ऊपर—

मनुष्यत्व का प्रतिनिधि हो वह,
शिव-सुन्दर से शिव-सुन्दरतर !
अश्रु स्वेद के संघर्षण को
आत्म दर्प से दे नव गौरव
स्वर्ग न व्यर्थ बताओ उसको—
अहम्मन्यता का जो रौरव !
प्यार करो धरती को निश्चय,
किन्तु न तृष्णा-कर्दम में सन,
आदर दो जन भू जीवन को
रह विशिष्टता में साधारण !

क्रान्ति युग

बहिर्भ्रान्त मानव मन को
निश्चय ही अन्तःकेन्द्र चाहिए,
तभी सभ्यता उठ पायेगी
संस्कृति के सित सोपानों पर !
आत्म सन्तुलन आ पायेगा
विविध परिस्थितियों में जग की,
मनुष्यत्व की परिधि बहिर्जग,
केन्द्र प्रबुद्ध-हृदय के भीतर !
सामाजिकता वृहद् बिम्ब
पृथु-उदर जगत्-दर्पण में बिम्बित,
मनुज सत्य का,—आत्मा जिसकी
सारभूत सित प्रतिनिधि निश्चित !
सरल नहीं अन्तःकेन्द्रित होना
जन साधारण के स्तर पर,
विजयी होती आत्मबोध पर
वहिर्मुखी जन-प्रकृति निरन्तर !
आज ध्वंस हिंसा संघर्षण के
समुद्र में रक्त स्नान कर
जन मानवता नव समत्व में
बँधती, क्षुद्र विषमताएँ तर !—
आत्मतुष्ट अब मनः संगठन
गत युग के मानव का बर्बर,
नयी एकता स्थापित करता
युग, समत्व की सुदृढ़ भित्ति पर !
महत् क्रान्ति युग : मनुज जगत्
होता आमूल चूल परिवर्तित,
जीवन के स्तर पर अमूर्त
आत्मा होगी गुण-मूर्त प्रतिष्ठित !

वस्तु जगत् भी मानव आत्मा ही का
प्रतिबिम्बित मुख दर्पण,
भाव वस्तु या जड़ चेतन,
ईश्वर के सृष्टि साध्य औ' साधन !

भारत भू

रूढ़ि रीतियों में पथराया
जन भारत भू का जीवन
रेती का सागर !
ज्वार नहीं उठते प्राणों में
शोभा के शशि मुख से प्रेरित,
शक्ति न उर में, जीर्ण पुरातन
पद्धति के तट करे निमज्जित,—
ऊब डूब करता दुर्बल मन
भीतर ही भीतर उद्वेलित !
धर्म विधानों में जकड़ा
जन भारत का मन
पाप पुण्य भय संशय जर्जर !
विकृत काल के कंकालों के
पद चिह्नों से तट रेखांकित,
रिक्त मतों, मृत विश्वासों की
अन्ध दरारों में भू खण्डित,—
शिक्षित नहीं, प्रबुद्ध नहीं नर
शास्त्र पुराणों के शुक पण्डित,
सम्प्रदाय, प्रान्तों से कवलित
एक राष्ट्र जीवन की आशा लगती दुष्कर !'
वर्तमान भारत का जीवन
हीन भावना से उत्पीड़ित,
विपुल विदेशों के वैभव से
बौद्धिक वर्ग स्तब्ध, आतंकित,—
अपनी भाषा, अपनी संस्कृति
अपना सब कुछ यहाँ अवांछित—
वही सभ्य, भू आत्मा से अनभिज्ञ,
सभ्य पश्चिम की कोरी अनुकृति, अनुचर!
विघटित होता देश आज,
शत खण्ड भाग्य-हत बालू का तट,
दैन्य, विषमता, हिंसा बढ़ती
रुद्ध हृदय के मानवीय पट,
स्थापित-स्वार्थ ग्रसित, जन नेता,—
सुनता यह मैं कैसी आहट ?—
रक्त क्रान्ति क्या निकट गरजती ?—
शान्ति ! बचाये सत्य-काम तप-भू को ईश्वर !'

राजू

राजू छोटा सा था जब मेरे घर आया,
दस पन्द्रह दिन का हो सम्भव! बड़े प्यार से
पाला पोसा मैंने उसको,—सच यह, उसने
छीन लिया था प्यार, बिना जाने ही, मुझसे!

सभी जानते हैं बिल्ली का बच्चा कितना
क्रीड़ाप्रिय होता है! उसने मोह लिया था
सब का मन अपने विचित्र मौलिक खेलों से!
आँगन में चिड़िया की उड़ती परछाँई को
पंजा मारा करता था वह, उसे पकड़ने!
गति का अद्भुत प्रेमी था वह! उसके आगे
उँगली आप नचाएँ, वह कौतुक से पागल,
झपट हाथ पर, उँगली पंजों में दबोचकर,
उसे चबाता छोटे तीखे दाँत चुभा कर!
कभी उलटकर चिपट पाँव से जाता चुपके
अपनी चपल प्रकृति से प्रेरित—
मुझको चलता देख अजिर में!

एक बार छत पर सतवहनी को खाकर वह
लेटा था, छिप खिड़की की ऊँची मुंडेर पर,
घनी मालती लतिका के पत्तों से आवृत!
उसे नहीं देखता कभी जब बड़ी देर तक
मैं पुकारता राजू, राजू, पुसी पुसी की
बार बार रट लगा, (पड़ोसी हँसते मुझ पर)!
वह मुंडेर से बोला तृप्त उनींदे स्वर में—
छत पर से द्रुत, म्याउँ म्याउं कर,
अभिनय करने लगा कूदने का आँगन पर!
ऐसे अवसर पर, मैं उठा बेंत की कुर्सी
उसे उतारा करता छत से! हरि अनन्त
हरि कथा अनन्ता!—राजू के भी हैं असंख्य
लीला प्रसंग—जो मुझे, स्मरण हैं!

ऐसा कोई स्थान न था वह जहाँ न मिलता—
अलमारी में सोया, भाजी की डलिया में,
धोबी के कपड़ों की पेटी के अन्दर छिप!—
सभी मुंडेरें शयन-तल्प थीं उसकी गोपन!

मैं कागज की गेंद फेंकता उसके आगे
वह बिजली सा लपक, उछल द्रुत, उसे पकड़कर
पिछली टाँगों के बल खड़ा खेलता उससे,—
अंग भंगि दिखला चंचल, सौ सौ बल खाकर!
जब कोई बिल्ला घुस आता उसके घर में
बमक, पर्वताकार फुला लेता रोमिल तन,

डील डौल की उसकी भारी गुर्राहट सुन
नौ दो ग्यारह होता डरकर तुरत विपक्षी !
अगर गिलहरी चंचल लहरी जन्तु-जगत् की,
बिल्ली चटुल भँवर—जो कुछ न मिले तो अपनी
पूँछ पकड़कर, स्वयं नाच सकती पागल सी !

चूहे को वह जिस कौशल से मारा करता
उससे उसकी छलबल भरी चटोर प्रकृति का
बोध सहज हो जाता ! बड़ी कुशलता दिखला
विधि ने बिल्ली की रचना की सब जीवों में !
उस पर अपनी सृष्टि-कला अवसित कर सारी !
कैसी श्री सुकुमार लचीली देह उसे दी,
कितनी सुन्दर चित्र लिखी सी मुद्राओं में
सोने की प्रिय कला, स्वच्छ तन रखने की रुचि,—
दूध मलाई आदि व्यंजनों का प्रेमी वह !

एक बार वह अर्ध रात्रि को खाने आया,
तीन बजे होंगे, पन्द्रह फरवरी रही तब,
जाड़े के दिन, मैंने खोल किवाड़, उसे
कमरे के अन्दर गोश्त खिलाया,
दूध पिलाया,—सोचा अब वह कुर्सी पर
जाकर सोयेगा—बन्द कर दिये द्वार—किन्तु वह
बार बार गुर्रा कर, अपना रोष प्रकट कर
पंजे से खोलने लगा पट, म्याउँ म्याउँ कर !
मौत नाचती होगी उसके सिर पर !—मैंने
जाने दिया उसे ! वह बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति का
ढीठ किन्तु स्नेही बिल्ला था, औ' पड़ोस में
उसकी थी ससुराल बड़ी—वह बहु ब्याहा, चाहा
क्वारा था—गुह्य रात्रि जीवन का प्रेमी फ्रेंच मैन सा!
वह फिर तब से कभी नहीं लौटा अपने घर !
कई दिनों तक उसकी रही प्रतीक्षा सबको !
इधर उधर खोजा भी—कहीं न दिया दिखायी !
सारा घर सूना हो गया बिना राजू के !

बड़ा बुरा लगता अब ऐसे क्रीड़ा कुशल
सुघर जीवन साथी को खोकर ! अब भी मुझको
लेटा कभी दिखायी देता वह उपवन में
स्मृति की आँखों में बिम्बित हो !—मधुर स्वप्न सा
जहाँ जहाँ वह सोता छिपा लता कुंजों में
वहाँ कहीं उसकी छाया अब भी मँडराती,
फूलों की ढेरी सुफेद !—जब कभी करुण ध्वनि
स्पष्ट सुनायी देती आँगन से आती सी,
द्वार खोल मैं उसे खोजता—कहाँ गूँजता

यह अदृश्य स्वर ! पर वह छः वर्षों का साथी
प्यारा राजू चला सदा को गया स्वर्ग अब,
मुझे छोड़कर प्रिय स्मृतियों के कंटक वन में !
अब न कभी लौटेगा मूक सुघर स्नेही वह !!

संकट

ज्योति सूत्र सी कृश चेतना मनुज के भीतर,—
जिसे विरोधों के पर्वत का विकट सामना
करना पड़ता, इस विराट् जग में रहने को !
सहने पड़ते उसे क्रूर आघात अनेकों
जो पग पग मुँह बाये देते उसे चुनौती !—
अन्धकार को खाना गूढ़ नियति आत्मा की !

धीरज रखना ही विपत्ति में मात्र महोषधि;
जीवन की सब स्थितियों में विद्रोह न सम्भव !
बाहर की विपदाएँ होतीं कभी न दुर्जय,
यदि अन्तःस्थित हो चेतस, स्थिर निर्मल हो मति !
संकट सभी निवारण हो सकते यत्नों से
यदि तटस्थ रह, समझ सकें हम उनका कारण !
भीतर का संकट ही वास्तव में संकट है,
विचलित हो यदि चित्त, त्रस्त उर, मति में हो भ्रम,
डिग जाये यदि आस्था, अपने प्रति हो संशय,
जीवन के प्रति रहे प्रेम उत्साह न मन में,—
ऐसी स्थिति में ईश्वर ही रक्षा कर सकता,—
वह रक्षा करता भी है, यदि उसे पुकारें !

मनोभाव

मैंने बोये फूल, किन्तु उग आये काँटे !
बीज ठीक थे, धरती भी अच्छी उर्वर थी,
पर अनेक अज्ञात शक्तियाँ ऐसी होतीं
जो निश्चेतन से जगकर दूषित कर देतीं
चेतन के पाले पोसे मंगल विधान को !

मैं अब क्या काँटे बोऊँ ? तो क्या उनसे भी
फूलों की फसलें उग पायेंगी ? नहीं, नहीं,—
मैं फूलों को ही बोऊँगा जग के मग में !—

फूलों से काँटे नहीं उगे ! काँटों के भी
मूल रहे होंगे भू-रज में, जो फूलों से
पहिले उग आये, फूलों सँग सींचे जाकर !
फूलों में भी काँटे होते, द्वन्द्व जगत् यह !

पर, मैं फूलों को ही बोऊँगा भू-उर में,
काँटों के बिरवों की जड़ें उखाड़ फेंककर
फूलों के पाँवड़े बिछाऊँगा पलकों-से,
मानव भावी का पथ निष्कण्टक हो जिससे,—
विचर सको तुम भू पर नव स्वप्नों के पग धर!

प्यार

मुझसे चिढ़ते सुहृद्—लुटाता रहता हूँ मैं
भले बुरे पर प्यार! न मुझको बोध तनिक भी
भले बुरे का, पाप पुण्य का! मैं मन ही मन
विचलित हो उठता उनकी फटकारें सुनकर!

सोचा करता, क्या कीचड़ में प्यार फेंककर
दुरुपयोग या अपचय करता मैं अनजाने
दिव्य प्रेम का? मुझको लगता मुक्त प्यार का
अमृत स्पर्श पा, कीचड़ अपना गन्दापन
पहचान सकेगा, और खाद बनने का यत्न
करेगा, निधि पा अतुल प्रेम की! और प्रेम तो
अकलुष है ही! वह पंकज बन, सदुपयोग कर
तुच्छ पंक का, नया मूल्य दे सकेगा उसे!

निश्चय, कभी अपव्यय होता नहीं प्रेम का,
वह अव्यय है, सदा लुटाने से बढ़ता है!

सन्तुलन

बिखर गयी भू जीवन शोभा,
छन्द न बँधता नव स्वर लय में,
आस्था का प्रेरक प्रकाश
बुझ गया हृदय के भय संशय में!
अन्ध तृषा का भुजग रेंगता
अन्तर में क्षण क्षण बल खाता,
उसके फण में मणि,—प्रकाश
उसका जाने क्यों मन को भाता!
नया वस्तु आनन्द आज
अवतरित हो रहा इन्द्रिय पथ पर,
जो वर्जित को स्वीकृत करता,
बता विरूप विकृत को सुन्दर!

मूल्य न किंचित् मूल्यवान् अब,
मूल्य हीनता ही अमूल्य धन,
मुक्ति इसी में,—पाप पुण्य
सापेक्ष—व्यर्थ सब नैतिक बन्धन!

नयी सभ्यता जन्म ले रही
आज धरा के जन-प्रांगण में,
निकल मांद से पशु
निर्द्वन्द्व विचरता जग जीवन कानन में !
सामाजिकता से क्या करना ?
तुष्ट व्यक्ति स्वातन्त्र्य चाहिए,
अगर थाहना ही हो तो
अवचेतन गह्वर आप थाहिए !
अंश सत्य सब में है—
मन के तम को होना जीवन-पावन,
आज एक वहु, भोग त्याग में
पग पग पर चाहिए सन्तुलन !

व्यक्ति चेतना

स्वर्ग नरक का निर्माता विज्ञान धरा पर—
भू आँगन को उसने भले सँवारा सुन्दर
किन्तु मनुज रह गया मनुज का व्यंग्य चित्र भर,
स्पर्धाग्रस्त, कुरूप, नग्न स्वार्थों का पंजर !
नैतिक रीढ़ विहीन रेंगता वह जीवन-मृत,
बाह्य परिस्थितियों के क्रूर करों से कुण्ठित !
प्लास्टिक के रंगीन खिलौने सा प्रिय दर्शन,
हृदयहीन वह, आत्मिक गरिमा में भी निर्धन !
बहिर्भ्रान्त, व्यक्तित्व विमुख, जन कृमि साधारण,
भोग पंक में डूबा, उर में राग द्वेष व्रण !
अन्तर्जीवन शून्य, खोजता बाहर सुख क्षण,
बढ़ता ही जाता मृगजल जीवन संघर्षण !
व्यक्ति चेतना धारा बिना जगत् पथ निर्जन,
भंगुर सैकतवत् सामूहिक लोक संगठन !
आज शक्ति शिविरों के भीषण ध्वंस उपकरण
मानवता के आत्म पराजय के हत साधन !

सार्थकता

लहरों पर लिखता हूँ मैं
जब अपने मन के गाने
तारा पथ से उतर नदी में
हँसती तुम अनजाने !
क्षण के करतल पुट में
अघटित घटनाएँ बन्दी कर
सृजन कर्म का गूढ़ रहस्य
सुझाती तुम क्षण क्षण पर !

जो कागज की नाव छोड़ता
मैं समुद्र में प्रतिदिन
तुम उसको खेती हो
बिठा चराचर उसमें अनगिन !
खर तृण कण से चुनता मैं
उन्मेष भरे युग गायन,
पथ पर गुंजित स्वप्नों की
पद चापें सुनता गोपन !

सिन्धु ज्वार सामूहिक जीवन का
उठता जन-भू पर—
खड़ा शिखर पर मैं
गति लय में भरता नव चेतन स्वर !
पीला पतझर वन में झरता
कैसा लगता सुन्दर,
सृजन कला निज आदि रूप में
निश्चय पूर्ण दिगम्बर !

सूना नीला गगन,
ताकने में मिलता मन को सुख,
भाव बोध से परे कला का
शोभा में गुण्ठित मुख !

गूँगों बहरों को मैं गीत
सुनाता ध्वनि इंगित कर,
मन की अपलक आँखों में
अक्षय शोभा चित्रित कर !

अहंकार का ममता मणि फण
अहि न करे उर दंशित,
सार्थकता मानव जीवन की
तुमको हो चिर अर्पित !

निर्घोष

सृजन शंख,
नव स्वर ध्वनियों से
गर्भित हो अब जन भू का मन,
नये बोध के अंकुर फूटें
जगें रुधिर में नव संवेदन !
युग समुद्र मन्थन से निकला
कालकूट जो भीषण मादन—
उसकी मसि में डुबा लेखनी
सृजन अमृत मैं करता वर्षण !

श्वेत कृष्ण को
सुधा गरल को मिला
बना नव रस संजीवन,
मृत्यु मेघ को दुह-दुह मैं
बरसाता जन-भू पर नव जीवन !

ध्वंसास्त्रों से आज पराजित
असुर शक्तिबल संचय निश्चय,
दया क्षमा ही मानवीय बल—
मनुज मनुज के प्रति हो सहृदय !

युद्ध युद्ध से नहीं थमेंगे,
घृणा न मानव जीवन दर्शन,
हिंसा देगी शान्ति न जग को—
प्रेम-स्पर्धा ही भरता उर-व्रण !

सत् की करो समृद्धि—असत् का
सह निर्मम युग-भृगु पद-लांछन,
सत् संकल्प शक्ति सामूहिक
युग पथ संकट करे निवारण !

पुरस्कार

पुरस्कार भगवान् दिलाएँ नहीं किसी को !
मित्र शत्रु हो जाते इससे ! और प्रशंसक
कटु आलोचक बन, कृतित्व के साथ आपके
लघु चरित्र को बना दूषणों का पहाड़ पृथु
आत्म तुष्टि पाते हैं, तिल का ताड़ खड़ा कर !

पृष्ठ भूमि गढ़ नयी आपकी छिद्र भरी
दुर्बलताओं की, राग द्वेष की ! भले बाँट दें
आप उसे (वह बँट भी गया, सभी जानेंगे) !
पर स्पर्धा आक्रोश कभी मिट सकता इससे !

मुझे चुनौती मिलती : वे भी चाहें तो सब
पुरस्कार पदवियाँ स्वयं भी हथिया सकते—
किन्तु खुशामद करना उन्हें पसन्द नहीं है ! ...
पुरस्कार का दुरुपयोग भर खलता उनको—
कौन न्याय कर सकता, कौन बड़ा सर्जक है ?
पुरस्कार पा क्या लेखक महान् हो जाता ?"

मैं उनका अनुमोदन करता—पुरस्कार से
लेखक कभी महान् नहीं हो सकता निश्चित;
वर कृतित्व ही - शाश्वत कीर्ति स्तम्भ स्रष्टा का !
पुरस्कार से इनको भी भगवान् बचाये
इनको भी सुनना न पड़े यह सब औरों से !

मायाजाल

मेरे अपने बीच
खोखली झूठों का तुम
जाल तानती रही प्रतिक्षण,
लुप्त हो रहा अब
वह शोभा का सम्मोहन,
क्षीण तुम्हारे प्रति आकर्षण !

क्षण भंगुर सुख,
सम्भव, अनजाने ही तुम भी
हो जाओ अन्तर से ओझल,
उठ जाये सहसा मुख से
माया का झीना अंचल !
व्यर्थ सभी हों झूठे छलबल
बिना सत्य के
रहे न आस्था का भी सम्बल !

पूर्ण बोध

मैंने अपनी
क्षुद्र चेतना का लघु आँगन
झाड़-पोंछ कर दिया स्वच्छतर,
गत स्मृतियों के ढूह मिटाकर,
जीर्ण शीर्ण को
जीवन दे फिर नूतन !
अब वह दिग् दर्पण सा विस्तृत,
निखिल विश्व
जिसमें प्रतिबिम्बित !
आँगन नहीं, खेत वह उर्वर,
घास पात तृण छील
बीन खर कंटक दुष्कर,—
नव शोभा के शस्य
वहाँ मैंने रोपे स्मित,—
स्वर्णिम लपटें फूट रहीं
जिनसे सौन्दर्य प्ररोहित !
खेत नहीं, वह बीज भी स्वयं,
ऊर्ध्व प्राण अंकुरों में पुलकित—
नव चैतन्य क्षेत्र कर विकसित—
नव भावों बोधों की
मंजरियों में अब वह मुकुलित,—
प्रेम, तुम्हारे प्रति चिर अर्पित,
लोक भावना रंजित,
अन्तः सुरभित !

अतृप्ति

मलय समीरण के संदेशों में,
अधिक नहीं थी सुघराई,
रोमांचित भर देह हो उठी
स्पर्श — मंजरित अमराई !
उसकी साँसों को पीकर
तन मन हो उठे पुलक-विह्वल,
प्राणों का सुख दे न सका
उर को तन्मय आस्था-सम्बल !
बोली दक्षिण पवन—
नृत्य-रत रहता नित
मेरा यौवन,
अगणित साँसों में सुगन्ध
वितरित करती हूँ मैं प्रतिक्षण !
क्षण सौन्दर्य गवाक्ष
खोलती भर मैं
नयनों में अपलक,—
पूर्ण तृप्ति
आत्मानुभूति
दे सकती तुम्हें न
रस साधक !

पूर्ण समर्पण

कोरे तन को
प्यार नहीं करता मन,
जब तक हो सम्पूर्ण
न हृदय समर्पण !
क्वारी मांसलता के ऊपर
पशु भी होता नहीं निछावर,
प्राणों के भीतर
रस के स्तर
खोजा करता वह रति कातर !
क्षण में शाश्वत नहीं समाता
जब तक
तन्मय अन्तर है
प्रेम मुख
सम्भव नहीं
करे मन तन
खुल न सके
अन्तःपुर के पट गोपन !

प्रेम वह्नि ही में
प्रज्वलित प्रतिक्षण
दग्ध काम का ईंधन
होता पावन !
भव सीमा
नि:सीम न बनती जब तक
मर्त्य धरा
बनती न स्वर्ग का प्रांगण !

अविच्छिन्न

क्यों हँसते रहते फूल सदा कोई रहस्य क्या उन्हें ज्ञात ?
चुप्पी साधे आकाश, उसे कहनी वह कैसी गूढ़ बात ?
चंचल फिरता वातास, समा पाती न हृदय में भाव गन्ध,
गाता सरिता जल बह कल कल पथ तिरता बिना तरी अनन्त !
जलता रहता पावक अहरह लौ लगी दीप्त उर में विशेष,
पर्वत अन्त: केन्द्रित नीरव स्वर में देते गोपन सँदेश !
मैं भी संयुक्त निखिल जग से, अज्ञात हर्ष से आन्दोलित
गाते मेरे शोणित के कण भूमा के स्पर्शों से प्रेरित !

कर्तव्य

जीना अपने ही में एक महान् कर्म है,
जीने का हो सदुपयोग यह मनुज धर्म है !
अपने ही में रहना एक प्रबुद्ध कला है,
जग के सँग रहने में सब का सहज भला है !
स्त्री का प्यार मिले जन्मों के पुण्य चाहिए,
भव जीवन को प्रेम सिन्धु में डूब थाहिए !
ज्ञानी बन कर मत नीरस उपदेश दीजिए,
लोक-कर्म भव-सत्य, प्रथम सत्कर्म कीजिए !

मनोव्यथा

दु:खी रहता मैं मन ही मन !
ऐसी भारत-भू में जन्मा
जहाँ अतल दारिद्र्य सिन्धु में
डूबा जन का जीवन!
जहाँ व्यर्थ रे आत्मबोध
व्यर्थ ही ऊर्ध्व आरोहण !
लहरों से उठ कर
असंख्य-कर मुझे बुलाते
गर्जन भरते उदर,
न पानी

फेनों - से संकल्प
तटों से टकराते,
खिसियाते !
सृजक क्या करे ?
क्रान्ति ज्वार में
उमड़ क्रुद्ध जन
लांघ रुद्ध जीवन तट
मन की सीमा डुबा न पाते !
पद मद कामी बने नेता
विश्व त्रासदी के अभिनेता !—
अब भी नहीं लोक मन चेता !—
मूल्यों के विप्लव में
कवि ही
संस्कृति बोहित कैसे खेता ?
चिन्तातुर रहता मेरा मन
ऐसे युग में जन्मा हूँ मैं—
जब भू पर छाया जब विघटन
ह्रास, ध्वंस, भौतिक संघर्षण,
राजनीति की प्याली में जब
डूब रहे आदर्श चिरन्तन !
भोगवाद के पीछे पागल
जब चरित्र से हीन सभ्य जन !
सोच-सोच कहता मेरा मन,—
व्यर्थ सैन्य, शस्त्रास्त्र, बाहु बल,
राष्ट्रों की कटु स्पर्धा निष्फल,—
महाक्रान्ति का युग बहिरन्तर,
धैर्य चाहिए,
दृष्टि, मनोबल !
अन्तर्जीवन चेतना - शिशु,
चाहिए बोध शील
आत्मिक सम्बल !

प्रतिक्रिया

लो, स्वतन्त्र अब देश—
युगों का क्षुद्र दमित मन
बाहर उमड़ रहा अब प्रतिक्षण,
करता कटु आलोचन,
प्रत्यालोचन !
हीन भावना ग्रस्त
द्वेष से दग्ध
असंस्कृत लेखन

वमन कर रहा अब सँड़ाध
निज अवचेतन की गोपन !—
बुद्धि हीनता का कर नग्न प्रदर्शन,
प्रतिभा शिखरों का कर
नित अवमूल्यन !
छिद्रान्वेषी मूषक
छिपे अहंताओं के अन्ध विलों में
वन्द किलों में—
संग्रह किये तुच्छ उच्छिष्ट
जगत् जीवन का,
कुण्ठित मन का
अपनेपन का !
वे क्रुद्ध गाली बकते
जिसे नहीं लिख पाते—
घृणा उगल जो लिखते
उससे नहीं अघाते !
वेदों के, तुलसी युग के
दादुर वटु-ध्वनि कर
अब न मधुर रव भर
मन के कानों में गाते !—
अहंकार की घन वर्षा में
पेट फुला गज दम्भी मेंढ़क
दर्प मुखर
कर्कश स्वर में टर्राते !
क्षुद्र नदी नाले
टेढ़ी मेढ़ी गति में वह
युग के कूड़े कचरे से
भर-भर इतराते !
कला वोध, युग मूल्य निखिल
दुर्गन्ध से भरी
यौन भावना की घाटी में गिर
खो जाते !
मेरी आस्था
अपने पर हो उठती दृढ़तर,
और आत्म-विश्वास प्रवलतर,
लक्ष्यभ्रष्ट इन धनुर्धरों के
खा कुण्ठित शर !
निश्चय, प्रतिभा का विद्युत् कण
मेरे भीतर होगा मणिफल,
जिसके स्पर्श मात्र से दंशित
विचलित हो उठते
प्रतिस्पर्धी खा व्रण !

आत्म विजित
शत जिह्वाओं से
कटुता का विष करते वर्षण !

वियतनाम

शूरवीरता के अप्रतिम निदर्शन निश्चय,
पौरुष तेज प्रतीक, धन्य तुम वियतनाम जन !
निज स्वतन्त्रता की वेदी पर हँस-हँसकर तुम
करते सब आबालवृद्ध निर्भीक समर्पण !

अन्यायी आक्रामक से ले लोहा प्रतिक्षण
अडिग वज्र संकल्प शक्ति से प्रेरित होकर
तुमने, जन स्वातन्त्र्य चेतना के संरक्षक,
रौंद दिया साम्राज्यवाद का रण मद दुस्तर !

ठहर न सकता अत्याचारी सत्य युद्ध में
जन-भू का इतिहास युगों से इसका दर्पण,
सत्य जयी होता, अजेय जन शक्ति स्रोत जो
जन मन प्राणों में भरता वह जीवन नूतन !

अग्नि - शिखा-सी तेजस्विनी स्त्रियाँ वैरी का
मान भंग करतीं—विद्युत् असि सी कढ़ बाहर,
सार्थक स्त्रीत्व हुआ उनसे, जन-भू पथ पावन,
चण्डी फिर असुरों की बलि लेती भर खप्पर !

प्राणों से भी प्रिय स्वतन्त्रता वियतनाम को—
हो-ची-मिन्ह प्रेरणा भर गये शोणित कण में—
मृत्युंजय सन्देश समर में बन उर-सम्बल
प्रति हृत्स्पन्दन के सँग गाता जन गण मन में !

भू इतिहास नये युग में करता प्रवेश अब
औ अजेय नर सिंह, तुम्हीं उसके निर्माता,
अन्ध शक्ति को आँख मिल गयी तुम्हें वरण कर,
रक्त पूत भव मृत्यु क्षेत्र, कृतकाम विधाता !

जीवन के साधारण सत्यों को अतिक्रम कर
महाध्वंस के क्षण में जन-मन हो अतिचेतन,
महानाश के चरण तोड़, नव सृजन कर रहा,
वितरित जग में अमृत, कण्ठ में कर विष धारण !

लेनिन के प्रति

एक शती के बाद आज भी लगता मन को
महापुरुष अवतरित हुए तुम लोक धरा पर,
जन-गण की दारिद्र्य दुःख दासता निशा की
क्रूर निरंकुश युग-युग की बेड़ियाँ तोड़ने !

रुद्ध प्रगति, स्तम्भित थे युग इतिहास के चरण
प्रस्तर युग की रूढ़ि रीतियों में पथराये,—
आन्दोलित कर लोक चेतना सागर तुमने
मज्जित कीं गत सीमाएँ जन-मुक्ति ज्वार में !
दिग्व्यापी भू-कम्प सदृश तुम विचरे भू पर
छिन्न-भिन्न कर जीर्ण आततायी जन-बन्धन—
नया मोड़ दे यन्त्र-सभ्यता को जन युग की !
शतियों से पद दलित क्षुधित, शोषित असंख्य जन
वर्ग सभ्यता के खँडहर से जगकर सहसा
जीवन-मुक्त लगे बढ़ने पा नया दिशा-पथ
नव आशाऽकांक्षाओं के स्वप्नों से प्रेरित !
रक्तोज्वल मानव गरिमा के नये सूर्य-से
उदित हुए तुम विश्व क्षितिज पर महिमा मण्डित,
जन-भू के कोने-कोने का अन्धकार हर
दिक् प्रसन्न जीवन-प्रभात ला जन प्रांगण में !
धन्य महामानव, भू पर चरितार्थ कर गये
वैज्ञानिक युग को तुम—निखिल शक्ति का संचय,
यन्त्रों की सम्पद् वितरित कर जन-मंगल हित !
नवोन्मेष उर में, नयनों में सृजन-स्वप्न नव,
अगणित कर-पद सामूहिक श्रम-बल उन्मेषित
बढ़ते जन संस्कृति का नव प्रासाद सँजोने !
देख रहा मैं अनतिदूर, भावी आँगन में
धरा-स्वर्ग कल्पना शनैः साकार हो रही—
भू मानवता निकट आ रही अधिक तुम्हारे !
लोक क्रान्ति के दूत, जानता सूक्ष्म दृष्टि से
तुम गांधी एक ही सत्य के शुभ्र संस्करण,—
देह प्राण मन के मानव को उपकृत करने
आये तुम जन-भू कृतार्थ अब बहिः संगठित !
मनुज हृदय को उन्नत करने आये गांधी
आत्मा का दे सौम्य स्पर्श अन्तर्मुख मन को—
तुमसे लेकर महत् साध्य, गांधी से साधन
निखिल विश्व-जीवन संयोजित हो जन-भू पर
बहिरन्तर वैभव प्रतिनिधि बन : (आज विपक्षी
सैन्य शक्ति शिविरों में खण्डित !) मनुष्यत्व का
हृदय सत्य-स्पन्दित हो, निर्मम यान्त्रिकता के
लौह अस्थिपंजर में जकड़ा अर्थ-काम से !
मानवीय गौरव हो प्राप्त जगत् जीवन को !
महाध्वंस की आशंका से मुक्त धरा जन
विश्व शान्ति के सित सहस्रदल पर दिग् विस्तृत
लोक साम्य सँग विश्व ऐक्य को करें प्रतिष्ठित—
मनुज प्रेम के आलिंगन में बाँध धरा को !
तुम्हें नमन करता शत, लेनिन, भारत का कवि—
आविर्भाव तुम्हारा था अनिवार्य जगत् हित !

शशि की तरी

स्मृति-गीत

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७१]

फालसई सन्ध्या नभ में
स्मृतियों की शशि तरी
स्नेह सम्पदा भरी—
स्वप्न पालों से मण्डित,
तुम्हें, अनुपमे, अर्पित !

परिचय

'शशि की तरी' के गीत अनुपमा को समर्पित हैं। अनुपमा एक तीन-चार साल की भोली लड़की थी, जिसे मैंने स्वराज्य भवन, इलाहाबाद के बाल भवन (Children's National Institute) में देखा था। उसे बाल भवन की संरक्षिकाओं ने अत्यन्त लाड़-प्यार से पाला-पोसा था। बीच-बीच में उसके कई चित्र भी लिये गये थे, जिनमें एक चित्र श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ भी है। तब में और अब में उसके आलोक मण्डित व्यक्तित्व में जो मार्दव, जो भाव सौन्दर्य तथा आन्तरिक निखार आ गया था वह अवर्णनीय था। जिसने उसे नहीं देखा वह शायद ही उन चित्रों को देखकर उसका अनुमान कर सके।

अनुपमा में न जाने ऐसे कौन-से विशिष्ट एवं उच्च संस्कार थे कि उसे देखते ही मेरा हृदय उसके प्रति गहरे वात्सल्य भाव से भर गया, और दिन-पर-दिन उसके प्रति मेरे मन का आकर्षण बढ़ता ही गया। यह सब कुछ ही दिनों के भीतर पूर्णरूप से घटित हो गया। उससे पहली बार मिलने पर मैंने 'शंखध्वनि' में उसे सम्बोधन कर जो कविता लिखी है (पंत ग्रंथावली, खण्ड ६, : पृष्ठ २८) उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बाल भवन में तुम्हें देखकर आज अनुपमे,
आत्म पराजित अनुभव करता मैं निज मन में
तुम्हें गोद लेने को आतुर तब से मेरा
हृदय तड़पता—तुम निरीह सुकुमार बालिका···
तुमसे सुन्दर कन्या मुझको नहीं चाहिए।
तुम सुन्दर बन सको हृदय से—पा अनुकूल
परिस्थिति, रुचिकर शिक्षा-दीक्षा···
मन का ही सौन्दर्य चाहता हूँ मैं तुमसे !

मैंने अपनी ओर से उसे 'स्तुति' नाम दिया था। 'शंखध्वनि' में ही (पंत ग्रंथावली, खण्ड ६, पृष्ठ २८) 'स्तुति' शीर्षक रचना भी उसी पर लिखी गयी है। अनुपमा बचपन से ही कुछ अस्वस्थ थी। साधारणतया तो उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, पर जैसा मुझे बताया गया था, उसके घुटने की हड्डी कुछ बढ़ी हुई थी और बार-बार घुटने की टोपी से रगड़ खाने के कारण उसमें प्रायः सूजन हो जाया करती थी। बाल भवन इलाहाबाद के मेडिकल कालेज से सम्बद्ध है। जब मैंने रोग के सम्बन्ध

प्रेम,

तुम्हीं हो स्नेह,
तुम्हीं वात्सल्य भाव हो,
तुम्हीं फूल शर,
तुम्हीं मर्म के गुह्य घाव हो !

सूक्ष्म दृष्टि रख
अणुवीक्षणमय
तुम्हीं थाहते
मनुज का हृदय—

अतल गहनताओं में
डूब अनामय,—
लघु अणु की
प्रच्छन्न महत्ता का दे
परिचय !

में वहाँ के डाक्टरों की राय जाननी चाही तो उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि घुटने की शल्य-क्रिया हो जाने के बाद उसे फिर किसी तरह का कष्ट नहीं रहेगा और वह पूर्णतः स्वस्थ हो जायेगी। चूँकि तीन-चार साल की उम्र से पहले आपरेशन करना ठीक न होता इसलिए वे लोग आज तक रुके हुए थे।

मैंने उनसे उसको इस संकट से उबारने की प्रार्थना की, जिससे मैं उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर सकूँ। दुर्भाग्यवश, घुटने का सफल आपरेशन होने के बाद से, एनिस्थीज़िया के प्रभाव से न उबर सकने के कारण, फिर उसकी स्मृति कभी नहीं लौट सकी। तीन-चार दिन के भीतर ही उसकी दशा और भी बिगड़ती गयी। चौथे दिन रात्रि के बारह बजे मुझे अस्पताल से फोन द्वारा सूचना मिली कि वह स्वर्ग की कली अपनी देह-लीला समाप्त कर चली गयी है। डाक्टरों ने मुझे बताया था कि हज़ार-दो-हज़ार में एकआध बार कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि एनिस्थीज़िया रोगी के मस्तिष्क में चला जाता है और फिर उसकी चेतना नहीं लौटती। खैर, डाक्टरों ने अत्यन्त तत्परता तथा सहृदयता के साथ उसकी देख-रेख की, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

अनुपमा के इस प्रकार अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से चले जाने के कारण मेरे हृदय को जो आघात लगा, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। अनुपमा ने मेरे हृदय में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया है। उसने अदृश्य होकर मेरे स्वप्नों के संसार का ही रूपान्तर कर दिया है। उसी की स्नेह मधुर स्मृति में मेरे मन ने ये गीत गुनगुनाये हैं।

१८ / बी० ७, के० जी० मार्ग
इलाहाबाद-२
२९ अप्रैल ’ ७१

सुमित्रानंदन पंत

प्रेम,

तुम्हीं हो स्नेह,
तुम्हीं वात्सल्य भाव हो,
तुम्हीं फूल शर,
तुम्हीं मर्म के गुह्य घाव हो !

सूक्ष्म दृष्टि रख
अणुवीक्षणमय
तुम्हीं थाहते
मनुज का हृदय—

अतल गहनताओं में
डूब अनामय,—
लघु अणु की
प्रच्छन्न महत्ता का दे
परिचय !

एक

अकलुष शोभा का मुख
अपलक देख मनोहर —
मातृ प्रकृति की आँखों से
आनन्द अश्रु झर
ढुलक पड़ा पृथ्वी पर
निश्छल प्रेम रूप धर !

भू के तापों से वह
बादल की टुकड़ी बन
नभ के उर में समा गया
धर धूपछाँह तन !

चन्द्र-किरण ने उसके भीतर
इन्द्रधनुष स्मित
मन के स्वप्नों का प्रिय नीड़
बसाया दीपित !···

ऐसी थी वह भाव संगिनी
सुता अनुपमा—
अग-जग में मिलती न कहीं
अब उसकी उपमा !

नभ की नीरवता से हँस
वह बातें करती,
मन के सूनेपन में
मधुर वेदना भरती !

शोभा की सौरभ से
कल्पित था उसका मन,
अन्तर्नभ में छायी
छवि की छाया निःस्वन !

उसे आज मधु स्मृति के
गीतों में कर मुखरित
उर की गुह्य व्यथा
सहलाता हूँ मैं किंचित् !

दो

कौन सूक्ष्म स्वर्गिक सुगन्ध-सी
पैठ गयी प्राणों के भीतर—
पकड़ नहीं पाते वह शोभा
मेरे गीतों के गूँगे स्वर !

क्षणभंगुर थीं रज-पंखुड़ियाँ
गंगाजल में वहीं आज झर,
लहरें अन्तिम लोरी गातीं
उन्हें सुला बाँहों में निःस्वर !

अक्षय सौरभ बसी हृदय में
स्मृति से आकुल अन्तर स्पन्दित,
स्वर्ग चेतना मधुर स्नेह के
स्पर्शों से प्राणों में छन्दित !

नव वसन्त सुमनांजलि देंगे
तुमको सद्यः शोभा सुरभित,
नव-नव मुकुलों के रंगों में
कोमल अंगों को कर मूर्तित !

तीन

तुम्हें देखकर चन्द्रकला की
मौन मधुरिमा आँक सका मन—
सुन्दरता मिलती-जुलती हो
वह जड़, तुम थी जीवन चेतन !

मुझको अब शिशु-अंगुलि से तुम
निःस्वर इंगित करती प्रतिक्षण—
'भूतों की चिर निर्मलता में
यहीं कहीं रहती मैं गोपन !'

चन्द्रकला में मिलती मुझको
सुघर दूध के दाँतों की स्मिति,
तब असि-सी ही कुटिल मुझे
बन जाती, वत्से, अस्थिशेष स्मृति !

फिर भी भाता मुझे
दूज का चाँद देखना मातृ गगन में,
शैशव शोभा का नव अंकुर
सहज फूट-सा पड़ता मन में !

चार

कहीं दूर से आती
अस्फुट पगध्वनि—रहता विस्मित,
शैशव चापों से सूना
आँगन हो उठता मुखरित !
विहग बोलते, मन में सुनता
मुग्ध तुम्हारे ही स्वर,
सभी मधुर ध्वनियाँ लगतीं
स्मृति मुखर प्रतिध्वनियाँ भर !
शब्दहीन सूनापन भी ज्यों
साँस रोक निःसंशय
तुमको सुनने को ही
व्यग्र प्रतीक्षा करता तन्मय !
सुते, शब्द ही नहीं—
रूप रस गन्ध स्पर्श भी मोहित-
स्मृति की तूली से तुमको ही
उर में करते अंकित !

पाँच

एक मूक अवसाद भर गया मन में
शेष न अब सान्त्वना शुष्क दर्शन में !

गहन व्यथा से रँगे साँझ के बादल
मौन वेदना रंजित फूलों के दल !
मधु समीर भी श्वास-गन्ध से चंचल
साँसें भर-भर तुम्हें खोजतीं विह्वल !

मरु-सा ही निःस्पृह लगता जग जीवन,
मन में नभ का भरा रिक्त सूनापन !
रवि शशि उन्मन-से करते नीराजन,
स्मृतियों के खँडहर-से लगते उडुगण !

नृत्य सखी लहरों के उर उद्वेलित,
कोकिल चातक के स्वर करुणा प्रेरित !
सुते, तुम्हारे चिर विछोह का यह दुख—
उर से उसे लगाने में मिलता सुख !

यह वियोग का धूम मात्र अवगुण्ठन,
उर में तुमको पाता जीवित प्रतिक्षण !
आँसू में न्हाया-सा ओसों का वन
लगता मेरे ही जीवन का दर्पण !

एक सूक्ष्म अवसाद भर गया मन में,
मिलती अब सान्त्वना नहीं दर्शन में !

छः

रंग-बिरंगी कलियाँ
भावों के शत स्तर कर वितरित
शैशव का संसार
विधुर उर में करतीं उद्घाटित !
अर्धखिले अंगों का जग
आँखों में होता अंकित,
सौकुमार्य, सौन्दर्य,
हृदय की अकलुषता से मण्डित !
सौ-सौ स्मृतियाँ जग
मधुपों-सी भरतीं आकुल गुंजन,
क्रीड़ा कोमल कल किलकारी,
हास अश्रु चंचल क्षण !
पतझर की ठण्डी साँसों के
पार—उनीदे कोंपल,
स्मिते, छिपाये अविकच वय की
शोभा सम्पद् उज्ज्वल !

सात

निर्मल जल गिरि स्रोत
विजन अंचल में बहते कलकल,
स्मृति में बजते, स्वप्न सुते,
अस्फुट पग ध्वनि के पायल !
हँसमुख फेनिल धार
दूध के दाँतों की स्मिति निश्छल,
लहर, लहर-मुख पर बखेरती
मन्नोल्लास से चंचल !
तुम-सी ही गतिप्रिय वह
उठती-गिरती वह ऋजु कुंचित,
दोनों अकलुष सरल चपल—
समता करती आकर्षित !
तुम जो कहती, उससे मोहक
होता तुतला कलरव,
उन अबोध अद्भुत बातों को
नहीं भुलाना सम्भव !
पुलिन-तृणावलि-सी अलकों से
मुख रहता था आवृत,
नृत्य गीत प्रिय ऊर्मिल-फन स्मृति
मन को करती दंशित !

आँसू की गीली स्मृति धारा
बन तुम बहती मन में—
भाव हिलोरों में सुख-दुख की
करता अवगाहन मैं !

आठ

मृदु मुकुलों में देह तुम्हारी
मलयानिल में साँसें सुरभित,—
मन की मोहित आँखों में तुम
नव वसन्त में होती विकसित !
मधुप गूँज सन्देश तुम्हारा
देते रहते मुझको गोपन,—
'विकल न होऊँ मैं बिछोह से
तुम मुझमें ही रहती प्रतिक्षण !'
चन्द्र-किरण से उतर तुम्हारी
स्मिति-लेखा उर करती पुलकित
जीवन-क्षण तारों-से रहते
तुम्हें देखने को अपलक नित !
मैं भावों की धूप-छाँह में
तुम्हें सतत करता परिधानित
मधुर कल्पना दुहिते, प्रिय स्मृति
उर-तन्त्री को रखती झंकृत !

नौ

तुम मेरी सौन्दर्य-बोध की
सूक्ष्म सुरभि हो पावन,
ओतप्रोत जिससे अब मेरे
हृदय प्राण जीवन मन !
ऊषा प्रातः उठकर किसका
सहज करेगी स्वागत—
तुम्हें खोजने को गिरियों के
मस्तक कब से उन्नत !
स्वर्गिक सुषमा मूर्त हो सकी
तुममें बन प्रिय शैशव
वैसा स्वच्छ अपाप विद्ध
चैतन्य कहाँ अब सम्भव !
देह प्राण मन आत्मा से थी
तुम चिर अकलुष निश्छल,
निर्मलता तुमको पा भू पर
बनी और थी निर्मल !

दस

अनू, चेतना में सुगन्ध-सी
तुम बस गयी अजाने,
मर्म-व्यथा में सने फूटते
अब उर से प्रिय गाने !

मैं एकाकी ही था, तुम अब
बनी हृदय की सहचर,
बाहर नहीं रही तुम, वत्से,
समा गयी उर भीतर !

बदल गया जाने कैसे जग,
खोया-सा रहता मन,
लिपटा रहता द्रवित चेतना से
आँसू का स्मृति-घन !

भाव गीत लिखने में लगता
तुमसे करता बातें,
स्वप्न संगिनी, आँखों में अब
कटतीं स्मृति की रातें !

ग्यारह

व्याप्त हो गयी वत्से, तुम
सारे अग-जग में,
मुझको जड़ भी लगते अब नव चेतन,—
फूल-पात, तरु, शशि, तारागण—
दृष्टि जहाँ भी जाती
लगता तुमको ही छूता मन !

मृत्यु कहाँ अब ? तुमको पाकर
स्मृति में लिपटा मरण स्वयं
बन गया भावमय जीवन—
तुममें ही रहता हूँ अब मैं
भावसुते, तन्मय तुममें ही
मेरा प्रति हृत्स्पन्दन !

फूलों के मुख में देखता
तुम्हारा प्रिय मुख,
शून्य नील में तुम्हीं दीखती
अपलक लोचन,—
लहरों पर चलती-सी लगती
चंचल पग धर—
अँगुली थामे रहता गन्ध समीरण !

छोटे करतल ताली देते
पल्लव दल में,
छोटे पदतल चिह्न छोड़ते
सरसी जल में—
सभी प्रकृति व्यापार तुम्हारी ही रेखाकृति
अंकित करते सरले, मेरे अन्तस्तल में !

बारह

आँसू का मणि-मुकुट पहन
स्मृति धरती रूप तुम्हारा,
म्लान साँझ का नभ मेरा उर,
तुम उसकी प्रिय तारा !
तारा टूटा कहाँ अचानक
मिलता नहीं किनारा,
अग्निशिखा-सी खिंची हृदय में
कृश स्मृति-रेख सहारा !
प्रिय विछोह के दुख-सा घिरता
कोमल छाभा का तम,
सूर्यमुखी मूँदती नयन झुक,
क्लान्त समीर गया थम !
एकाकी उर, एकाकी नभ,
निर्मम एकाकीपन,
व्याप्त हो गया बिन्दु सिन्धु में,
रिक्त निखिल अब जीवन !
यह दिनान्त का दृश्य
हृदय-वेदना मौन प्रतिबिम्बित,
अन्धकार का भय न तुम्हें,
तुम स्मृति में अक्षय जीवित !

तेरह

चुनते वसन्त के फूल वसन
रेशमी रंग भर-भर सुन्दर,
चिड़िया पंखों में छिपा तुम्हें
लोरी गातीं, मृदु कलरव कर !

तितलियाँ तुम्हारे बाल भाव
उड़-उड़ वन में करतीं वितरित,
पवमान चपलता को लेकर
फिरता पुलकित, स्मृति से सुरभित!

प्रिय चन्द्रकिरण, स्मित तारागण,
अधखिले मुकुल, जुगनू, हिमकण—
जानता नहीं, इनमें तुममें
कैसी समानता है गोपन !

जो कुछ भी हँसमुख, स्नेह प्राण,
जो कुछ जग में पावन, निर्मल,
वह मुझे तुम्हीं से सम्बन्धित
लगता, उर को करता शीतल !

छा गयी निखिल अग-जग में तुम
बन कोमल भावों की दर्पण,
तुमको खोकर मैं कण-कण में
चाहता तुम्हें पाना प्रतिक्षण !

चौदह

मैं ही नहीं
विकल रहता हूँ केवल,
तृण तरु पल्लव गिरिवन
तुम्हें न पाकर जग में
जाने कैसे लगते
निष्प्रभ, उन्मन !

भूतों से थी कहीं अधिक
तुममें तत्त्वों की पावनता
चिर निर्मल,
निखिल विश्व में व्याप्त
तुम्हारी प्रिय आकृति अब,
प्रकृति तुम्हारी प्रतिकृति में ही
आज गयी ढल !

जितनी छोटी थी उतनी ही
बड़ी रिक्तता
आज छा गयी मेरे भीतर,
बाहर के अग-जग में—
मुझको दुहिते, दुरवगाह्य
गहरे अभाव का

अनुभव होता अब जग में
पग-पग में !
स्वर्ग मर्त्य भी
इस अभाव को भर न सकेंगे

समझ रहा इसको
अबूझ मेरा मन !
एक अनिर्वचनीय शून्य में
समा गया हो
भावों से उद्वेलित मेरा जीवन !

इस सूनेपन में भी
अहरह जाग्रत् रहता
मधुर तुम्हारी स्मृति का
आकुल स्पन्दन,—
जिससे लगता
जीवित हूँ मैं
भाव-रूपमयि,
तुमको अपने अन्तर में कर धारण !

पन्द्रह

तारों का पहने किरीट
तुम लगती सुन्दर
स्निग्ध चाँदनी से कल्पित
मृदु गौर कलेवर !
तुम पवित्र थी कितनी
अनुभव करता अब मन,
शैशव द्रव्यों की श्री शोभा
की सी माखन !

सूक्ष्म सुरभि की देह,
स्थूल पाँखुरी गयीं झर,
आकृति रेखाएँ किरणों की
कनक मनोहर !
खोजा करता तुम्हें
नील दृग स्मित अम्बर में—
चटुल लहर में, अनिल स्पर्श में,
कोकिल स्वर में !

जो कुछ भी अकलुष निसर्ग में
निर्मल, निश्छल,
स्पर्श तुम्हारा मिलता उसमें
सद्यः कोमल !
तुमको पाकर
विश्व बसाया था जो नूतन
बिखर गया वह स्वप्न—
शेष वेदना, अश्रुकण !

तुम जब तक थी
जग के प्रति भी था आकर्षण
रिक्त, प्रेरणा-शून्य
आज लगते सुख साधन !
हृदय धड़कता-भर,
न गूंजते उसमें गायन,
साँसें चलतीं अब
नीरव निःश्वासें बन-बन !
आस्था बल पर
दुख को रहा बनाता मैं सुख,
शुभे, तुम्हारे बिना
मुझे प्रिय सुख से अब दुख !

सोलह

रूप-रंग गन्धों की ऋतु
गृह वन में मुकुलित,
सुन्दरता की झलक
तुम्हारी मिलती किंचित् !
शशि किरणें झिलमिल
जब कुछ लिखतीं लहरों पर
सुनते मन के श्रवण
तुम्हारे प्रिय तुतले स्वर !
वनफूलों की गन्ध
बिखर जाती जब निःस्वर
याद तुम्हारी आती,
उर ही उठता कातर !
तरु-छाया कँप-कँप
जाने क्या करती इंगित
स्पर्श तुम्हारे ही भावों का
मिलता अविदित !
भले चहकते विहग
तुम्हारे बन अब सहचर,
सुते, तुम्हारे स्वर थे
इनसे कहीं मधुरतर !
जितनी भी वस्तुएँ
जगत में सुन्दर, सुखमय,
उन सबसे सम्बन्ध तुम्हारा
कहीं असंशय !

रूप तुम्हारा घर
शैशव लगता था पावन,
अकलुष भाव-विभव की थी
तुम जीवित दर्पण !
बहुत चाहता, तुम्हें
भूल पाऊँ क्षण-भर को,
नहीं चाहती विस्मृति
भूले स्मृति के वर को !
सृजन कल्पना का
तुमने आकर ग्रहण कर
बाँध दिये निज स्मृति के
तारों में उर के स्वर !

सत्रह

कितनी कोमल स्मृति
मैं स्मिते, सँजोये मन में—
तुमको देखा था मैंने
किस स्वर्गिक क्षण में !
शोभा, तुमको देख,
सजीव हुई दृग सम्मुख,
नहीं भूलता सलज मुकुल-सा
वह सुन्दर मुख !
गीतों में हो उठती
मधु स्मृति उर में छन्दित,
शशि-लेखा-सी भाव-गगन को
कर छवि रंजित !
नन्हें करतल-से लगते
अस्फुट पल्लव-दल,
निर्निमेष देखता उन्हें मैं
विस्मित प्रतिपल !
मधुकर छत्र बनाते
फूलों से मधु चुन-चुन,
मैं स्मृति संचित करता
बीती घड़ियाँ धुन-धुन !
कुछ भी तो कर सका नहीं
तुमको देने सुख,
छीन लिया निर्मम विधि ने,
सालता मूक दुख !

क्या सोचा था, और
हुआ क्या अप्रत्याशित—
मरकर क्या तुम मरीं?
अधिक ही उर में जीवित!

अठारह

सजल वाष्प बदली-सी उमड़ी
तुम उर के अम्बर में,
स्वप्न तूलि से जिसको रँगकर
रूप दिया शशि-कर ने!
रंगों की छायाएँ तिरतीं
उर के सूनेपन में,
भावों की गहराई भरती
स्मृति—विषाद के घन में!
रजत तृणों का स्नेह-नीड़, मधु,
तुमने रचा मनोहर,
एकाकी उर को स्वप्नों के
स्वर्णिम कलरव से भर!
रोम-रोम हँसता सुख-पुलकित
तुम्हें, अनुपमे, पाकर,
नयी प्रेरणा प्राणों में जग
भरती उर में मर्मर!

चली गयी तुम उड़कर सहसा
मृत्यु नील अम्बर में
भर असीम सूनेपन का
अवसाद स्तब्ध अन्तर में!
खिल न सकी वन फूल
कली ही कुम्हला गयी अजाने,
निज रंगों का विश्व,
सुरभि का विभव बिना पहचाने!

छोटा था मृद् दीप,
घिरा चेतना ज्योति लौ मण्डल,
भाव स्वर्ग उर का था
दृग से झाँका करता उज्ज्वल!
धिक् उनको, जो छोड़ गये
तुमको निर्जन नन्न
कब होगी भू मानवीय,
भोले बच्चों के

उन्नीस

जो कुछ भी अब तक अमूर्त था
मूर्त हो उठा तुम्हें देखकर,
उर के सबसे सूक्ष्म भाव को
रूप मिला था तुममें सुन्दर !

रंग-गन्ध थे रुके
अधखिले स्वर्ग मुकुल में होने कुसुमित,
कोमलतम तन धरने को
कोमलता कब से थी उत्कण्ठित !

रजत अनिल फिरती थी वन-वन
उर साँसों में होने स्पन्दित,
सृजन उपकरण, सौष्ठव में बँध
तुममें, सहज हुए थे उपकृत !

शशि की किरणें स्वप्न-दोल में
तुम्हें झुलाने रहतीं आतुर,
लहरें कल क्रीड़ा-रत रहतीं
बनने लय-चंचल पद नूपुर !

शैशव की कर सृष्टि विधाता
निज सार्थकता करता अनुभव,
उसमें भी अवतरित कर तुम्हें
मिला सृजन को था नव गौरव !

रवि-शशि अब भी उगते
जग का अन्धकार करने आलोकित,
सुते, स्नेह ही की लौ से
पर, मानव का उर होता दीपित !

बीस

सिमट गया सारा जग तुममें
जो पहले लगता था विस्तृत,
समा गयी जब से तुम उर में
और न कुछ करता आकर्षित !

मूक व्यथा का बादल अहरह
झरता चुपके उर के भीतर
स्मृति की छाया-सा छाया जो,
भूल न पाता तुमको अन्तर !

इन्द्रधनुष ने लूट लिया हो
सुधे, तुम्हारे उर का वैभव,
सद्यःस्फुट मधुऋतु रंगों को
देख, यही होता अब अनुभव !

अविकच अंगों के मुकुलों का
अस्फुट जग हरता मेरा मन,
गूँजा करते मधुपों-से उर में
असंख्य कोमल संवेदन !

तुम्हें देखने जाता पहले
बाल-भवन में उड़ मन प्रतिक्षण,
अब तुम चारों ओर मिचौनी
खेला करती मुझसे गोपन !

देह-बोध से परे, बन गयी
भाव-चेतना तुम अब नूतन,
मधु, तुमसे होना वियुक्त
सम्भव न कभी, कहता मेरा मन !

इक्कीस

गंगा की लहरें अब लोरी गातीं प्रतिपल
चूम तुम्हारे अंगों की श्री-शोभा निर्मल !
फूली नहीं समातीं फूलों ही-से कोमल
तन पर दे निज धूप-छाँह से गूँथा आँचल !

बालू की शय्या पर लेटी थी वह उन्मन
सीत्कारें भरते सूने उर में फेनिल कण !
तुमको पा अब सार्थक लगता उसको जीवन,
गाती फिरती मातृ गोद में लिये अतुल धन !

स्नेही जलजीवों से अब तुम होगी परिचित,
साथ खेलते होंगे वे तुमको पा प्रमुदित !
आकुल होंगे मीन दृगों से होने उपमित—
मत्स्य पीठ पर बिठा तुम्हें फिरते होंगे नित !

यद्यपि सागर के प्रति ही गंगाजल अर्पित,
तुम्हें हृदय में रखना चाहेगी वह संचित !
गंगा ही क्यों ? ऐसा कौन तुम्हें जो पाकर
कभी बिछुड़ना चाहेगा सपने में क्षण-भर !

केवल मैं ही भाग्यहीन जो तुमसे वंचित,
सुधे, पिता बनने के योग्य न था मैं निश्चित !
तपते प्रतिक्षण प्राण, हृदय अब भी आशान्वित
अगले जीवन में तुमको पा सकूँ कदाचित् !

बाईस

लोग व्यर्थ कहते
आनन्द लक्ष्य जीवन का,
लक्ष्य प्रेम—जो अतिथि अलौकिक
मानव मन का!

शोक अग्नि सन्तप्त हृदय
उसका सिंहासन,
अश्रु जड़ित मणि मुकुट—
परम सुख आत्म-समर्पण!

जीवन मूल्य बदल जाते
पा प्रेम-स्पर्श सित,
त्याग भोग, दुख सुख बन जाता
उससे प्रेरित!

व्रण आभूषण, निर्जन सहचर,
बिन्दु वारिनिधि,
सृजन प्रेरणा, रस संवेदन
प्रेम, सृष्टि-विधि!

सुते, तुम्हारा स्नेह
व्यथा का रस पावक बन
नये रूप से ढाल रहा
अब मेरा जीवन!

नये रूप धरता अरूप
तुममें हो केन्द्रित
श्री शोभा का विश्व
तुम्हारी छवि से वेष्टित!

पवित्रता की सूक्ष्म सुरभि से
आप्लावित मन—
मुग्ध चेतना, सुते,
खेलती तुमसे प्रतिक्षण!

तेईस

जी करता, वितरित हो जाऊँ जग में,
तुम्हें खोजता जीवन में पग-पग में!
कैसे हो सकता जग ऐसा सुन्दर
बिना तुम्हें निज पुलकित बाँहों में भर!

मुझे तुम्हारी ही चेतना विकेन्द्रित
फूल पात, तृण तरु में लगती बिम्बित!
भाव जगत् लगता किरणों से विरचित
सूक्ष्म तुम्हारी श्री शोभा से रंजित!

पावन लगतीं दिशा, निर्निमिष अम्बर,
बाल-स्पर्श-सुख से कृतार्थ वे निःस्वर !
मृत्यु तुम्हें छू सकी न वत्से, किंचित्
तुम्हीं चतुर्दिक् शोभा-मौन उपस्थित !

ऐसा मधुर न पहिले रहा प्रकृति मुख
भरा करुण मार्दव से देता वह सुख !
निशि में भर आते तारों के लोचन
दिन-भर गन्ध समीरण फिरता उन्मन !

स्मित-प्रकाश छवि करे भले रेखांकित
भाव मधुरिमा से शशिमुखि, वह वंचित !

चौबीस

बिछ-बिछ जाती मूक भावना
वन दूर्वादल
जहाँ धरा पर पड़े तुम्हारे
कोमल पदतल !
एक मोहिनी थी तुममें
अन्तर आकर्षण,
अनजाने ही छू लेती थी
जो सबका मन !

तुम अबोधता की शोभा से
थी शशि, कल्पित,
सभी नयी वस्तुएँ तुम्हें
करती थीं विस्मित !
भावों के ही जग में तुम
रहती थीं खोयी,
स्वप्नों से ही ज्यों छवि की
चाँदनी सँजोयी !

सुघर तुम्हारे हाव-भाव
उर में चिर अंकित,
मुझे देख हो जाती थी
तुम सहज संकुचित !
बजता कोई तार कहीं था
मेरे भीतर—
मधुर स्वर्ग की लय से
भर जाता था अन्तर !
जिससे लगता था तुम
वह स्वर हो चिर परिचित
जिससे उर तन्त्री नित
निःस्वर रहती झंकृत !

पच्चीस

मेघों की छाया-सी चलतीं
मन की भू पर,
आँख-मिचौनी खेला करतीं
स्मृतियाँ निःस्वर !

एक करुण अवसाद
घुल गया सा अन्तर में—
सूक्ष्म भाव-आकृतियाँ
तिरती हों अम्बर में !

मन के भीतर पैठ गया हो
एक और मन,
जो प्रिय अस्फुट हावों
भावों का स्मृति दर्पण !

वचन अधकहे, स्मिति रेखाएँ,
चितवन मुकुलित,
भाव अबूझे—नये अर्थ
अब करते व्यंजित !

आता जब निज ध्यान—
तुम्हें पाता उर में स्थित,
मुझमें अब तुम जीवित—
यह कल्पना न किंचित् !

एक नया आयाम
हृदय में सा उद्घाटित—
मौन विषण्ण मधुरिमा से
जीवन-मन आवृत !

छब्बीस

छोटी-छोटी वस्तु
हृदय को करतीं अब आकर्षित,
सीप, खगों के पर,
रंगीन उपल मन करते मोहित !

बाल-खिलौनों का जग
करता गूढ़ भाव अभिव्यंजित,
सम्भव, यह जग हास अश्रु का
क्रीड़ा स्थल भर कल्पित !

सुते, तुम्हारा ही जीवन
अब जीता हो मेरा मन
लगता जग अनबूझ पहेली—
मुख पर विस्मय गुण्ठन !

बहते ज्यों गिरि स्रोत मुखर
फेनिल पुलिनों में कलकल—
बहते स्मृति के वर्ष मास दिन
अन्तस्तल में प्रतिपल !
मृत्युलोक के अन्धकार को
लाँघ, स्नेहवश प्रेरित,
तुम्हें चाहता प्राणों की
लौ में रखना चिर दीपित !

सत्ताईस

कहाँ गयी वह,—कूक कूक
कोयल पूछती निरन्तर ?
देख गगन की ओर
मूक, मैं उसको देता उत्तर !
तारे भी कुछ आर्द्र दृष्टि से
खोजा करते कातर,
आँगन में गूँजते न अब
वह प्रिय पगध्वनि, हँसमुख स्वर !
गूढ़ निकटता-सी तुमसे
मन में करते थे अनुभव
अर्ध खिले वन मुकुल
गन्ध उच्छ्वास छोड़ते नीरव !
एक अभाव सभी को खलता
जो तुमसे थे परिचित
पेड़, पात, परिवेश
कहीं खोये-से लगते विस्मृत !
जन्म-जन्म के शील सुरुचि के
संस्कारों से कलित !
एक अनिर्वचनीय मधुरिमा
तुममें थी मधु, निश्चित !

अट्ठाईस

रूपों में करते प्रयोग प्रभु
सृजन हर्ष से प्रेरित,
अभिव्यक्ति हो गये पूर्णतम
विश्व प्रकृति को स्वीकृत !
तुम दर्पण-सी थी मनोहर—
शोभा प्रकट [illegible] तन धर
[illegible] चेतना की गौरव
उर में थी भरे धरोहर !

वह अन्तस की गन्ध
छू गयी जाने कैसे मन को,
स्वप्नों से गूँथा करता मैं
उस शोभा के क्षण को !

विटप नीड़ से पंख मार
खग शिशु ज्यों हो नभ में लय
स्नेह क्रोड़ तुम छोड़
हुई असमय तत्त्वों में तन्मय !

स्मृति में डूबा अन्तर का
क्रन्दन, बन जाता गायन,
श्लक्षण भाव-स्पर्शों से झंकृत
मन हो उठता उन्मन !

सम्भव था न कलुष कर्दम में
स्वर्ग किरण का पोषण
तुम आओगी, जब पाओगी
भू को नीरुज, पावन !

उन्तीस

तुम्हीं मधुर थी, या मोहक था
मधुर स्नेह सम्मोहन,
या दोनों का दोनों के प्रति
था अपूर्व आकर्षण !

नहीं जानता, कैसे तुमने
खींच लिया मेरा मन—
मुझे समझते हृदय हीन सब
निठुर बुद्धि-हिम पाहन !

भाव प्रवण, शोभा ग्राही
मेरे कवि उर का दर्पण
तुम्हीं जगा पायी उसमें
वह मधुर सूक्ष्म संवेदन !

जिससे बाँध दिया मन को
वात्सल्य सूत्र में अविदित,
शैशव के प्रति कभी न ऐसा
हृदय हुआ था प्रेरित !

तुम्हें न पाकर लगता
अब मैं अपनेपन से वंचित,
वही सभी परिवेश—
नहीं अब कुछ भी वैसा निश्चित !

तुम न रही अब,
छोड़ हृदय में गयी स्नेह व्रण अक्षत-
गहन मर्म अनुभव में
अब वह विधुर भावना परिणत !

तीस

तुम वसन्त आने से पहिले
चली गयी—
मातृ प्रकृति को लगता वह ज्यों
छली गयी !

मुकुल मौन मुख लटकाये-से
खिलने में सकुचाते,
कुसुम गन्ध उच्छ्वास छोड़
वन में असमय कुम्हलाते !
मधुवन के फूलों के अंग
न लगते वैसे मांसल,
मन की व्यथा उँडेला करती
व्यर्थ विजन में कोयल !

मधु में स्वाद न मिलता हो,
अलि भरते उन्मन गुंजन
नहीं सुहाता मरन्दों का रस मादक यौवन !
उन्हें
वह पवित्रता कहाँ !
भले कलियाँ हों तुम-सी कोमल,
शोभा का सौष्ठव इसमें
वह मन से भी हो निर्मल !

लते, बाह्य समता में भूला
लज्जित - सा अब मधुवन—
निज समस्त वैभव श्री
स्वर्गिक स्मृति को करता अर्पण !
पतझर मधु की सन्धि,
मिचौनी खेला करता जीवन,
मधु की श्री सुषमा
पतझर का सूनापन मथता मन !

तुम वसन्त आने से पहिले
चली गयी—
चिनगी-सी छिटकीं स्मृति की
कोंपलें नयी !

इकतीस

'ईश्वर ने शिशु के मुख में
होने को बिम्बित
सुभग कलात्मक सृष्टि रची
सुर-नर - मुनि - भावन !

वह अन्तस की गन्ध
छू गयी जाने कैसे मन को,
स्वप्नों से गूँथा करता मैं
उस शोभा के क्षण को!

विटप नीड़ से पंख मार
खग शिशु ज्यों हो नभ में लय
स्नेह क्रोड़ तुम छोड़
हुई असमय तत्वों में तन्मय!

स्मृति में डूबा अन्तर का
क्रन्दन, बन जाता गायन,
श्लक्षण भाव-स्पर्शों से झंकृत
मन हो उठता उन्मन!

सम्भव था न कलुष कर्दम में
स्वर्ग किरण का पोषण
तुम आओगी, जब पाओगी
भू को नीरुज, पावन!

उन्तीस

तुम्हीं मधुर थी, या मोहक था
मधुर स्नेह सम्मोहन,
या दोनों का दोनों के प्रति
था अपूर्व आकर्षण!

नहीं जानता, कैसे तुमने
खींच लिया मेरा मन—
मुझे समझते हृदय हीन सब
निठुर बुद्धि-हिम पाहन!

भाव प्रवण, शोभा ग्राही
मेरे कवि उर का दर्पण
तुम्हीं जगा पायी उसमें
वह मधुर सूक्ष्म संवेदन!

जिससे बाँध दिया मन को
वात्सल्य सूत्र में अविदित,
शैशव के प्रति कभी न ऐसा
हृदय हुआ था प्रेरित!

तुम्हें न पाकर लगता
अब मैं अपनेपन से वंचित,
वही सभी परिवेश—
नहीं अब कुछ भी वैसा निश्चित!

तुम न रही अब,
छोड़ हृदय में गयी स्नेह व्रण अक्षत-
गहन मर्म अनुभव में
अब वह विधुर भावना परिणत!

तीस

तुम वसन्त आने से पहिले
चली गयी—
मातृ प्रकृति को लगता वह ज्यों
छली गयी!

मुकुल मौन मुख लटकाये-से
खिलने में सकुचाते,
कुसुम गन्ध उच्छ्वास छोड़
वन में असमय कुम्हलाते!

मधुवन के फूलों के अंग
न लगते वैसे मांसल,
मन की व्यथा उँडेला करती
व्यर्थ विजन में कोयल!

मधु में स्वाद न मिलता हो,
अलि भरते उन्मन गुंजन
नहीं सुहाता उन्हें
मरन्दों का रस मादक यौवन!

वह पवित्रता कहाँ!
भले कलियाँ हों तुम-सी कोमल,
शोभा का सौष्ठव इसमें
वह मन से भी हो निर्मल!

लते, वाह्य समता में भूला
लज्जित-सा अब मधुवन—
निज समस्त वैभव श्री
स्वर्गिक स्मृति को करता अर्पण!

पतझर मधु की सन्धि,
मिचौनी खेला करता जीवन,
मधु की थी सुषमा
पतझर का सूनापन मथता मन!

तुम वसन्त आने से पहिले
चली गयी—
चिनगी-सी छिटकीं स्मृति की
कोंपलें नयी!

इकतीस

ईश्वर ने शिशु के मुख में
होने को बिम्बित
सुभग कलात्मक सृष्टि रची
सुर-नर-मुनि-भावन!

शैशव के पद चिह्नों से
जन भू रज अंकित—
जान सका अब—
जग क्यों इतना लगता पावन !

नव मुकुलों में हुईं
चरण चापें चल कुसुमित,
हरित तृणों में
माता पृथ्वी का उर पुलकित !

मधुर सुरभि में हुईं
दूधिया सांसें परिणत
कल क्रीड़ा ने रंग भरे
कलियों में तद्वत् !

स्मिति रेखाएं बनीं
कुटिल शशि-कला मनोहर,
तारात्रों में शैशव विस्मय
गया सहज भर !

गहन नील उर में रहस्य
शिशु उर का गोपन
मिला हिलोरों में
हावों-भावों का नर्तन !

तरुदल-मर्मर में मुखरित
अस्फुट तुतले स्वर
करतल किसलय,
बाँहें बनीं लताएँ सुन्दर !

सलज शील ऊषा में
मधुर हुआ अवगुण्ठित,
साँझ मौन रहती
आँचल में शिशु पा तन्द्रित !

सारे जग को ढाल
बाल आकृति में निश्चित
विधि ने उपकृत किया
जगत् जीवन का आंगन !

निखिल सृष्टि की सार्थकता ही
होती खण्डित
जो शैशव का विश्व
न होता इतना पावन !

बत्तीस

दो भागों में सा बँट जाता
अब मेरा मन,
तनये, तुमसे मन ही मन
करता सम्भाषण !

अस्फुट स्वर में तुम जाने
क्या कहती निःस्वर,
फूल पँखड़ियाँ - सी
बरसा करतीं उर भीतर !

शब्द न सुन पड़ते
उर भाव समझता गोपन,
मधुर स्नेह में मुझे
बाँधती रहती प्रतिक्षण !

नयनों में अनिमेष
झूल उठती प्रिय आकृति
उर को सौरभ में
लपेट-सी लेती मधु स्मृति !

विहग कूजते, गाती
निर्जन वन में कोयल
स्रोत फूट पड़ते
क्रीड़ा-फेनिल कर कलकल !

साँसों के-से स्पर्शों से
उर होता पुलकित,
तुम्हें भाव-साकार देख
मैं रहता विस्मित !

स्तिमित दृष्टि से मुझे
देखती-सी तुम क्षण-भर,
तुमको पा, आश्वस्त
सहज हो उठता अन्तर !

क्षण में मन की आँखों से
छवि होती ओझल,
भाव मूढ़-सा निष्ठुर मन
मुझसे करता छल !

तैंतीस

फूलों को छूता जब
स्पर्श तुम्हें करता मन,
स्मृति सजीव बन सहसा
धर लेती कोमल तन !

दूध धुली साँसों से
मलयानिल हो गुम्फित—
गन्ध मुकुल प्रविकच वय-सी
करते रेखांकित !

नव वसन्त क्या आता
तुम हो उठती मूर्तित,
अस्फुट अंगों की कोमलता
करती मोहित !

नयी चेतना से समीर उर
लगता दोलित,
सद्य: स्फुट शोभा मार्दव से
सा उन्मेषित !

शैशव के जग में ही
मन अब करता विचरण
शिशु सुन्दरता से विरहित
जग होता निर्धन !

तुमको खोकर तुम्हें अधिक
पा गया असंशय,
तुम सुदूर जा, निकट आ गयीं
उर के निश्चय !

तुम जीती रहती तो
सार्थक लगता जीवन,
जन्म-मृत्यु की आँख-मिचौनी
अब उर प्रांगण !

अंग कल्पना की तुम
अब भावों में जीवित,
कभी जगत् में मुझे
वस्तु मिल सकी न इच्छित !

अब तुम लगती निखिल विश्व में
मौन उपस्थित,
मुट्ठी भर अंगों में पहिले
जो थी सीमित !

चौंतीस

ओसों का वन देख
हृदय मन स्तम्भित,
नीरव व्यथा कथा वह
उसमें अंकित !

आँसू क्या हो सकते
ऐसे निर्मल ?
स्नेहपात्र तुम थी
निश्चय ही निश्छल !

हार मोतियों के
अमूल्य हो सकते
हृदय ताप वे किन्तु
कहीं धो सकते ?

अश्रु कणों के मन सा
तुहिनों का वन
शीतल करता उर
सहला निःस्वर व्रण !

क्या दोनों में साम्य
कहीं अति गोपन ?
या यह सम्भव
सहृदयता के कारण !

अन्तर में जगते
निगूढ़ सम्वेदन,
तारों ने बरसाये हों
आँसू कण !

अर्ध रात्रि को चली गयी
तुम असमय,
विश्व प्रकृति तव
रोयी होगी निश्चय !
डाल पात पर तभी
काँपते थर थर
सजल स्वर्ग मोती,
आँखें आतीं भर !

तभी मूक ओसों का
अश्रु द्रवित वन
करुणा विगलित
छूता स्नेह विधुर मन !

पैंतीस

नवल कोपलों में
उपवन दिङ् मुकुलित,
मृदुल अँगुलियाँ
करतीं मुझको इंगित !

रोम रोम में सी तुम
जग के छाकर
आँख मिचौनी
खेला करती निःस्वर!

चिड़ियाँ उड़कर
निकल निकट से जातीं—
स्मृति मृदु पंखों में
उर को लिपटाती!

चली गयीं तुम
मुझको छोड़ अचानक,
रहे ताकते मुँह
सर्वज्ञ चिकित्सक!

जन्म-मृत्यु, सुख-दुख का
जग क्रीड़ास्थल,
यहाँ निठुर परिवर्तन
घटते प्रतिपल!

पर संसार असार नहीं—
यह निश्चित,
जहाँ विछोह
हृदय कर सकता मन्थित!

जिसकी रज में भरे
प्रेम के अंकुर
वह जग कैसे
हो सकता क्षण भंगुर!

माया भी न जगत्-
जीवन निःसंशय,
प्रेम सृजन की शक्ति
जहाँ चिर अक्षय!

देह नहीं थी तुम,
चेतना चिरंतन,
फिर आओगी
सँजो प्राण मन नूतन!

अभी प्रेम संचरण
न जग में स्थापित,
तभी जगत् जीवन
लगता अभिशापित!

यह भू होगी कभी
स्वर्ग में परिणत,
सुधे, जहाँ तुमसे
आते अभ्यागत!

छत्तीस

छाया वीथी में सा
फिरता अब मन,
धूपछाँह ओढ़े
सुख-दुख की चेतन !

झर पड़ता जब
तरु का पात अचानक
या पुकारता वन में
विरही चातक—

स्मृति का सा तब
खुल पड़ता वातायन,
गूढ़ वेदना के प्रतीक
बनते क्षण !

अब प्रकाश से भाती
छाया निःस्वर,
अपने भीतर छिपने को
मन कातर !

आत्मा की प्रतिनिधि सी
थी वह काया,
भुला न पाता तुमको—
कैसी माया !

भले चेतना अक्षय
क्षण भंगुर तन,
मूर्त रूप ही
श्री शोभा का दर्पण !

आरोही रज-रूप
चेतना वाहन,
रज का तन आत्मा पर
कर आरोहण—

दिशा काल को
करता पार निरन्तर,
क्रम विकास की
गति दे जीवन स्तर पर !

इसीलिए भूलता न
तुमको अन्तर,
मायी थी तुम
फूल-देह से सुन्दर !

पूर्ण रूप प्रतिनिधि
अरूप का बनकर
जग में हो अवतरित—
चाहता ईश्वर !

प्रेम-तूलि से तुमको
कर छवि अंकित
विधि ने प्रथम प्रतीक
किया था निर्मित !
तभी सतत तुम
धूप छाँह का घर तन
रज तन की शाश्वतता
करती घोषण !

सैंतीस

मेघों के पंखों पर तिरती
सन्ध्या छाया श्यामल
स्वप्नों से गुम्फित कोमल तम
घिरता उर में प्रतिपल !

आँखें भर कुछ रहा खोज सा
सन्ध्या तारा अपलक,
श्रान्त समीरण, स्तब्ध विहग रव,
उदासीन-सा लुब्धक !

शशि लेखा को लिये गोद
वात्सल्य मुग्ध सा अम्बर,
तुमको अंक लगाने को
आतुर हो उठता अन्तर !

हृदय चाहता उठा सकूँ
सन्ध्या विषाद का गुण्ठन,
नीरव स्वर में-से तारे
करते मुझको सम्बोधन !

यह विषाद गहराई सम्भव
प्रेम-सिन्धु की विस्तृत—
स्नेह तुम्हारा प्राणों को
करता था ऊर्ध्व प्रदीपित !

तुम निशान्त में नव प्रभात की
सित प्रतीक थी मुकुलित,
बाल उषा से मिलती थी
अकलुष शोभा सद्यः स्मित !

कितने रंग की कितने
कुसुमों ने सुगन्ध की धारण
सुघर रूप की नावों में बह
बने मधुर उर स्पन्दन!

तुमको गढ़ने विधि ने
सृजन कला का कर संशोधन,
निखिल सृष्टि सामग्री का,
तत्त्वों का किया परीक्षण!

शैशव का था स्वर्ण,
तुम्हारी हृदय सुरभि थी निर्मल
जिससे शील स्वभाव तुम्हारा
रहा सहज ही निश्छल!

सब ऋतुओं की सुषमा करती
चाँद, न पूर्ति तुम्हारी,
मुझे न केवल प्यारी थीं तुम,
विधि की परम दुलारी!

उन्तालीस

पतझर के पीले पत्तों से
लिप-पुत गया धरा का आँगन,
कुम्हलाये से अंगों का जग,—
मन में लगते स्मृति के दंशन!

नग्न टहनियों की कृश शोभा
आकर्षित करती लोचन मन,
सद्य नग्नता ही शैशव की
मुक्त वयस की प्रिय आभूषण!

नीबू के मुकुलों की सौरभ
नासा रन्ध्रों में प्रवेश कर
एक मधुरतर सूक्ष्म गन्ध से
भर-सा देती आकुल अन्तर!

विश्व धूल में सना खेलता,
शिशुओं का क्रीड़ा सहचर बन,
अपने भावों के खँडहर-सा
लगता मुझे रिक्त पतझर वन!

लटके सूने विहग नीड़,—
निर्जन वन-सा मेरा उर आँगन,
कहाँ उड़ गयी विहग बालिका
जिसके प्रिय स्वर हरते थे मन!

मधुर स्नेह स्वप्नों की कोंपल
सोयीं तरु वन में हत चेतन,
नव वसन्त आ आकुल उर में
स्मृतियाँ उकसायेगा नूतन !

चालीस

क्षण भर की थी अतिथि
फूल, तुम भंगुर जग में
पथिक स्वर्ग की विलमी
भू जीवन के मग में !
मुक्त चेतना बन्दी
रज के तृण पंजर में,
चन्द्रकला अब तिरती
मेघों के अम्बर में !

सूक्ष्म सुरभि-सी तुम
अनाम छाई अन्तर में
फूल पाँखुरी बिखर गयी
चुपके क्षण भर में !
ज्योत्स्ना अब बुनती
शशि किरणों से वह काया,
रजत वाष्प नभ में भर
हलकी सुरधनु छाया !

तुहिन बिन्दु स्वर्णिम
मरन्द सौरभ में सन कर
कनक वर्ण कोमल त्वच
निर्मित करते सुन्दर ।
लहरों से पद नर्तन,
कोयल से ले प्रिय स्वर
मुकुलों से मुख छवि,
ऊषा से गरिमा निःस्वर—

कितने नये प्रयोग
प्रकृति अब करती प्रतिक्षण
एक साथ सब गुण
कर पाती नहीं संकलन !
सूक्ष्म विभव ले आयी थी
तुम बरसे, भू पर
अनुपम लगती थी धरती पर
स्वर्ग धरोहर !

ईश्वर के प्रिय, कहते,
रहते अधिक न जीवित,
तुम असीम स्वर-लहरी थी
रजकण में झंकृत !

मुझे स्वप्न में अब भी
मिल जातीं तुम कुछ क्षण
स्वप्न सत्य से मुझे
सत्य लगते न अकारण !

इकतालीस

वन फूलों की गन्धों के
मण्डप में गोपन
लगता अब तुम रहती सुते,
सहज स्मित आनन !

पंखों से तितलियाँ
डुलातीं तुम्हें मृदु व्यजन,
फूल कुटी को घेर मधुप
भरते प्रिय गुंजन !

तुम श्री शोभा की प्रतीक
आयी थी भू पर
मधुर उपस्थिति से मुझको
जग लगता सुन्दर !

किस स्वर्गिक आभा से जाने
निर्मित था तन,
मण्डित रखते तुम्हें
अनाम सुरभि के-से घन !

कलियों की कोमलता से
तुम थी कोमलतम
तन निमित्त भर, स्वर्ग चेतना
थी तुम निरुपम !

गिरा न उस प्रिय सुषमा का
कर सकती वर्णन,
पावनता की तुम थी
चम्पक वर्णी चन्दन !

तुमको छू आनन्द स्रोत
झरता उर भीतर,
पुलकित होता मन
शोभा में अवगाहन कर !

छाया में गुम्फित प्रकाश की
काया कोमल
स्वर्गिक द्रव्यों से थी विरचित
पल्लव - मांसल !

सृष्टि कला के सभी
उपकरण भी अब मिल कर
गढ़ पायेंगे नहीं
रूप वह शील मनोहर !

बयालीस

फाल्गुन की हलकी सी बदली
छायी नभ पर,
बूंदाबांदी से तृण तरु धुल
लगते सुन्दर !
सौंधा - सा उच्छ्वास
धरा के उर से कढ़कर
किसी मधुर स्मृति से
अब आकुल करता अन्तर !

तुम अब नहीं रही—सुन,
मर्म व्यथा से कातर
बौराये-से आम्र मुकुल
झर पड़ते निःस्वर !
विटप हाथ सा मलते,
पीले पड़ वन तरु दल
प्रणत, मृत्यु के लिए
पाँवड़े बनते कोमल !

साँसें-सा भरता समीर
उर में उद्वेलित
वन फूलों की गन्ध
मार्ग में बिखरा मुकुलित !
मेघ-अश्रुओं से पथ में
पग-पग अभिनन्दित
तुम पावन गंगा लहरों को
होती अर्पित !

सूना पतझर का जग,
स्तब्ध दिशाएँ धूसर,
शिशिर-मृत्यु-पथ
तिरता स्वयं निसर्ग निरन्तर !

उड़-उड़ पीले पात—सोचते
जग क्षण-भंगुर,
अमृत स्नेह के, सुते,
उग रहे उर में अंकुर !

भूत प्रकृति जड़—
नहीं हमारे लिए निदर्शन,
अमर प्रीति के बीज
मनुज को करने रोपण !

मृत्यु नील कर पार
चेतना करती विचरण
सुधे, जहाँ तुम
भाव लोक में बसी चिरन्तन !

तैंतालीस

प्रकृति रही सहचरी—
जानता है मेरा मन,
एकाकी ही बीता जीवन—
शैशव, यौवन !

तुम भी व्याप्त प्रकृति में अब
बसे, बलिहारी !
इसीलिए वह मुझे और भी
लगती प्यारी !

भाव-भंगि वह कौन ?—
नहीं जो मिलती तुमसे,
अतनु व्रतति-से अवयव
प्रिय मुख-गन्ध कुसुम से !
स्तिमित नील-से नयन,
चन्द्रलेखा-सी स्मित छवि,
किसलय करतल,
मृदु स्वर सुन कोकिल बनती कवि !

तरल तुहिन-सा हास,
हिलोरों-सी गति चंचल,
पगध्वनि सुन, भू उर में
बजती निःस्वर पायल !

अन्तर का विस्मय ज्यों
तारा-नभ रहस्यमय,
तुम्हें देख, शोभा हो उठी
तुम्हीं में तन्मय !

जो श्री सुषमा द्रव्य
हुए थे तुममें केन्द्रित
प्रकृति अवयवों में वे सब
अब फिर से वितरित !

सुघर सुष्टु व्यक्तित्व
समा पाया न प्रकृति में,
तुम थी सृष्टि विशिष्ट
निखिल विधिना की कृति में !

स्वर्ग मुकुल श्री सलज
धरा की रज में रोपित,
अक्षय उर सौरभ में
जग को करती मज्जित !

सूक्ष्म भाव-पंखड़ियाँ
यदि हो पातीं विकसित,
प्रेम उतर आता भू पर
आनन्द गन्ध स्मित !

आकुल उर में स्मृति-मरन्द की
छोड़ धरोहर
तुम झर गयीं—हृदय में
निर्जन छाया पतझर !

चौवालीस

वज्र हृदय होंगे वे
जन्म तुम्हें दे कायर
छोड़ गये जो भू के
निर्जन कंटक पथ पर !

श्वेत वस्त्र में लिपटा—
छाती पर रख पत्थर,
एक दूध की भूखी बोतल
सिरहाने धर !

बाल भवन में जाने तुम
कब कैसे आई
चार-पाँच दिन की
अधमरी कली कुम्हलाई !

तुम्हें मारने के प्रयत्न भी
किए कदाचित्
जान गर्भ में तुम्हें
पाप को बोझ अनिच्छित !

क्वारी मा ने ओषधि भी
खायी हों घातक,
भ्रूण पात कर
जग से गुह्य छिपाने पातक !

इसीलिए तुम रुग्ण
जन्म से रहीं निरन्तर,
तुम्हें सताया घुटने की
हड्डी ने बढ़कर !

काँटे की झाड़ी में हँसता
फूल मनोहर,
हँसती तुम नित रहीं
देह रज से उठ ऊपर !

दोष तुम्हारा क्या था ?
तुम थीं अन्त:पावन—
तुमको छूकर पाप
पुण्य बन जाता तत्क्षण !

मनुज सभ्यता ही में
इस पातक के निर्दय
गहरे मूल सदा से रहे,
न मुझको संशय !

प्रेम अभी हो सका न
भू जीवन में स्थापित—
उसके लिए मनुज को
होना होगा संस्कृत !

क्रमविकास में मानव मन
जब होगा विकसित
धरा-हृदय चेतना-स्पर्श से
नव रस दीपित—

कलुप पंक से हीन
तभी होगा जग-जीवन
शुभ्र प्रेम की सन्तति होंगे
भावी भू-जन !

सुते, मुझे तुम स्वर्ग पुष्प-सी
थी अकलुप नित,
हृदय तुम्हारा था
सित संस्कारों से निर्मित !

तुम्हें देखते हृदय हो उठा
सहसा मोहित,
करुणा उर प्लावन ने
भेद किये सब मज्जित !

स्वर्ग सुरभि सी स्मृति जग
पुलकित कर देती मन,
नीरव क्षण में तुम
गोपन करती सम्भाषण !

पैंतालीस

तुम्हें देखकर प्रथम बार
शैशव जग के प्रति
मेरा ध्यान गया दृग-पावन !
शैशव जो
घुटनों बल चलता नहीं धरा पर
हत भागा होता भू-प्रांगण !

किसे देखने आती ऊषा ?
नव प्रभात ही
किसका तब करता अभिवादन ?
फूल भला खिलते
विस्मित अनिमेष नयन ?
खग ही मृदु कलरव भर
क्या हर्षित गाते गायन ?

सुन शिशुओं के बोल
कहीं दुहराती कोयल ?
स्रोत फूटते उन्हें देख
चलते डगमग पग ?

दन्त कथाएँ कहाँ जन्म लेतीं
रहस्यमय ?—

होता या परियों का ही
मोहक सुन्दर जग ?
काल बोध से मुक्त,
अकारण ही प्रसन्न मन
कौन जगत् को करते
रहते क्रीड़ा मुखरित ?

निरुद्देश्य ही दौड़,
सहज अन्तःसुख प्रेरित
भू रज को रखते
कोमल पद-अंकित ?

फूल, चाँद, तितली, खग,
जुगनू लहर, सभी क्या
नहीं खिलौने
शैशव मन के सुन्दर ?—
सद्यःस्फुट सौन्दर्य प्रतीकों को
विलोक कर
सार्थक लगता
निखिल सृष्टि आडम्बर !

तुम-सी पावनता की
निश्छल प्रतिमा को छू
स्वर्ग स्नात हो उठता
मेरा अन्तर,
तुम्हें अंक में भर वत्से,
साकार सिद्धि-सा
सफल साधना लगती
भू-जीवन की दुष्कर !

छियालीस

तुम्हीं नहीं जब रही चाँद,
जीवन में क्या आकर्षण ?—
पतझर वन-सा सूना
डूबा रहता अपने में मन !
मुझे विपण्ण देख तुम सहसा
मलय पवन बन सुरभित
साँसों में चुपके प्रवेश कर
उर को करती पुलकित !

पिकी कण्ठ से कहती मुझसे—
तुम क्यों रहते उन्मन,
मर्म मधुर स्मृति में रहती मैं
क्या जीवित न प्रतिक्षण ?
नव मुकुलों में रहता जाग्रत्
मेरा शैशव शाश्वत,
मधु के कलि कुसुमों में करते
तुम मेरा ही स्वागत !

मैं शोभा की स्मित शशि लेखा
तिरती भाव-गगन में,
अनस्तित्व मत समझो मुझको,
देखो जग जीवन में !

गूढ़ श्लक्ष्ण स्वर में देती तुम
मुझको सहज प्रबोधन,
खुल पड़ता मन की आँखों में
भाव क्षितिज तब नूतन !

मिलता तृण तरु पल्लव दल में
रूप तुम्हारा अभिनव,
स्रोतों की कल कल में सुनता
बाल तुम्हारा कलरव !

निखिल सृजन सौन्दर्य
तुम्हारी ही शोभा का उत्सव,—
यह ईश्वर की सृष्टि! —हृदय को
होता नीरव अनुभव !

सैंतालीस

शिशु-विस्मय-से अपलक चितवन
फूल सभी तो होते सुन्दर,
पर उनमें कोई प्रसून
आँखों को लगता प्रियतर !

तुम विशिष्ट थी सुमन,
अधिक रखती आकर्षण,
शोभा पंखड़ियों से
कल्पित था कोमल तन !

भावों की सौरभ में डूबा
स्वप्नों का मन—
सहज सलज्ज स्वभाव
स्वयं में था सम्मोहन !

साथ तुम्हारे शोभा चलती
बन चिर सहचर,
कनक-गौर आभा बखेर
पग-पग पर निःस्वर !

शुभ्र चेतना किरणों से
मण्डित स्मित आनन
हृदय स्पर्श करता
संस्कारों का सुघरापन !

उर तन्त्री में झंकृत-सा था
स्वर्गिक गायन
आत्म-बोध के विस्मय से
विस्फारित लोचन !

क्षण-भर लगता, ज्योत्स्ना ही
साकार रूप धर
सुघर पारदर्शी तन मन ले
उतरी भू पर!

इसीलिए हो सकी लीन तुम
मुक्त अनामय
तत्वों की सात्विक
चिर पावनता में तन्मय!

अड़तालीस

नहीं जानता सुते, तुम्हारा
क्यों मन ही मन करता पूजन,
भावों की सुमनाञ्जलि तुमको
करता उर निर्जन में अर्पण!

शुभ्र चेतना की प्रतिमा-सी
आभा रेखाओं से अंकित,
स्नेह स्फटिक मणि आसन पर
तुम निःस्वर अन्तर्मन में शोभित
मुझे निखिल दायित्व मुक्त कर
तुम निष्काम हृदय में तन्मय,
कुछ भी तो कर सका नहीं मैं
तुम्हें बनाने जग में सुखमय!

तुम्हीं कर सकी भाव सत्य में
मेरे अन्तर्मन को स्थापित,
सूक्ष्म सत्य से रहित स्थूल जग
निश्चय ही होता अभिशापित!

व्यक्त नहीं कर सकती वाणी,
कितना मन से हूँ मैं उपकृत,
तुमको पाकर प्रथम बार उर
सहज हो सका अन्तःकेन्द्रित!

रज का पिंजर छोड़, हुई तुम
शुभे, अनन्त ज्योति में अब लय,
तुम कितनी अकलुष, असंग थी
हृदय पा सका स्वर्गिक परिचय!

तपः सिद्ध चेतना
साधना करने आयी भू पर क्षण-भर
स्वयं मुक्त हो, स्पर्श मुझे
दे गयी स्नेह का स्वर्णिम भास्वर!

उनचास

गंगा तट पर जाने को जी
करता क्या जाने क्यों अविदित
तुम नव सरसीरुह-सी खिलकर
मृदु लहरों से होगी दोलित !

रज तन अब पाँखुरी, हृदय
स्वर्णिम मरन्द का होगा सुरभित
अपलक देख रही होगी तुम
उठा सलज मुख शोभा-सस्मित !

मधुर भाव उर के, मधुकर बन
मँडराते होंगे भर गुंजन,
पावनता शिशु-राजहंस बन
सँग-सँग फिरती होगी प्रतिक्षण !

साँसों की पी सुरभि, समीरण
फिरता होगा वन में पुलकित—
शील स्वभाव तुम्हारा ये सब,
क्या कर पाये होंगे व्यंजित !

जल में पाँव डुबा क्रीड़ारत
या तुम बैठी होगी तट पर
विस्मित होगी जल में दुहरे
पुलिनों को प्रतिबिम्बित पाकर !

जल खग बालू की चाँदी में
चर्चा करते होंगे सम्भव
उर से तुम्हें लगा क्यों गंगा
माँ का गौरव करती अनुभव !

वृक्षों की छाया जल में काँप
थपकी देती होगी कोमल,
लहरें झुला झुला पलने में
लोरी गाती होंगी कलकल !

मृत्यु द्वार कर पार गये, तुम
निखिल जगत् जीवन में जीवित,
प्रकृति द्रव्य नव संस्कारों में
परिवर्तित—तुमको पा उपकृत !

पचास

वैज्ञानिक युग में रहस्य हों
समझे जाते मिथ्यारोपण—
मृत्यु लोक से लौटा लाता
तुमको खोज मन्त्र तप साधन !

चली गयी चुपचाप चेतना
देह यन्त्र को छोड़ यथावत्
कहाँ चेतना केन्द्र ? मनुज को
अभी नहीं हो पाया अवगत !

सूक्ष्म किरण-सा सूत्र—पकड़ पाता यदि
जड़ को करना चेतन,
नया बोध मस्तिष्क शिरा में,
हृदय गुहा में भरता स्पन्दन !

देह पक्व फल-सी जब झरती
करता हृदय निधन का स्वागत,
यह निश्चय निर्ममता यम की
अविकच वय में हो अभ्यागत !

धूपछाँह के स्वप्न लोक को
तुम अब करती होगी उपकृत,
अपनी ही अकलुष शोभा से
नया स्वर्ग रचती होगी नित !

कितने सूक्ष्म रहस्यों के
सूत्रों से गुह्य सृष्टि यह गुम्फित
ओस-बिन्दु-सा विधि के चंचल
करतल पर जीवन अवलम्बित !

यह संयोग कि रज प्रदीप में
अमर चेतना की लौ दीपित,
या यह सृजन कला का कौशल
रूप-अरूप साथ संयोजित !

तृण के दोने में भी शाश्वत,
शोभा की तुम स्वर्गिक पावक,
स्नेह शिखा चिर हृदय दीप की,
मृत्यु पार भी उर अभिभावक !

इक्यावन

अश्रु हार पहला प्रिय स्मृति को
स्नेहाञ्जलि उर करता अर्पण,
मृत्यु पार भी अक्षय जीवित
सुते, तुम्हारा चिर आकर्षण !

शिशुओं के जग में तुमको मैं
पाता हूँ होते सम्वर्धित,
नये रूप में मेरा अन्तर
सृष्टि कला से अब सम्वन्धित !

मुकुलों की मांसल शोभा को
बाँहों में चुपके लेता भर,
अविकच अंगों की कोमलता
स्पर्श हृदय को करती निःस्वर !

रँग-रँग की पंखड़ियाँ बरसा
तुम्हें स्मरण अब करता मधुवन,
सूक्ष्म तुम्हारे भाव जगत् का
गन्ध विभव जग में कर वितरण !

नव नवता में तुम्हें देखकर
उर अनजाने होता हर्षित,
श्री शोभा की अमर चेतना
प्राणों को छू करती पुलकित !

फालसई आभा से मण्डित
उदय हृदय में होता स्मित मुख
तुम्हीं केन्द्र उन सब विषयों की
जिनसे भी मन को मिलता सुख !

गीतों के स्मृति पंख खोलकर
उड़ असीम एकाकीपन में
मैं गगनों के पार गगन कर
तुम्हें खोजता दिशि में, क्षण में !

जग के प्रति मुझको विरक्त कर
तुम अनुरक्त कर गयी मन को,
जग जीवन में पाऊँ तुमको
तुम में पाऊँ जग जीवन को !

स्पृहा अश्रु की, भाव स्वप्न की
करता अकथित कथा समापन,
दुहिते, स्नेह अजेय, साँझ का
हृदय पद्म मुँद करता वन्दन !

समाधिता

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १६७३]

सुमिते,
तुम शैशव समाधि में रहती निश्छल
न्योछावर तुम पर दादू के समाधिस्थ पल !

विज्ञापन

समाधिता की कविताएँ मेरी इधर की नयी रचनाएँ हैं। इनका धरातल अपने ही में जीवन की एक नवीन भूमिका है, अतः इनके लिए भूमिका की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

आशा है पाठकों को जीवन के प्रति यह समग्र दृष्टि रुचिकर प्रतीत होगी।

१८/बी-७, के० जी० मार्ग, सुमित्रानंदन पंत
इलाहाबाद-२

एक

तुमने केवल शब्द दिये,
कुछ शब्द भर दिये !
भाव, चेतना, बोध, प्रेरणा
मेरे रहे असंशय,
डूबा शब्द तट
हृदय ज्वार में
किया विश्व से परिणय !
दिव्य स्वप्न जो पाया
उसका कर विश्लेषण,
मतियों से कर मुक्त
सत्य का किया संगठन !
रूप निखारा
सूक्ष्म भाव जग का कर मन्थन,
फेंक ऊर्ध्व का बोझ
किये समदिक् प्रभु दर्शन !
ईश्वर को दे मानवीय
तन मन प्राणों का जीवन
धरती पर ही सहज संजोया
अमर स्वर्ग का आँगन !

दो

व्यर्थ ज्ञान की खोज
प्रेम खग नीड़ हृदय जो भीतर,
तो तुम ईश्वर ही में रहते,
तुममें रहता ईश्वर !
जो सुकर्म रत रहते नित
वे करते प्रभु का पूजन,
प्रभु ही का मन्दिर रचते
निर्मित कर जन-भू प्रांगण !
रक्त शिराओं में बहता
संगीत निरन्तर गोपन,
अभिव्यक्ति ईश्वर को देता
वह उर में नित नूतन !

बांधो जग जीवन से
प्राणों का रस छन्द महत्तर,
अहंकार को दे सामूहिक अर्थ,
मुक्ति लोकोत्तर!

भेद नहीं जग में ईश्वर में
प्रज्ञा हो जो विकसित—
भू पथ पर ईश्वर ही प्रतिक्षण
विचरण करता निश्चित!

तीन

लोक-प्राण मन
कर्म मुखर मधुकर बन
करता गुंजन,
प्रणयाकुल उर
भाव मुग्ध कोकिल बन
भरता कूजन!
जीवन श्री-शोभा नित अभिनव,
बना चन्द्र मुख-दर्पण,
सूरज, आत्मा के प्रकाश ही का
लघुतम पावक कण!
तारापथ में ज्योति-अंकुरित
प्रिय स्मृतियों का स्पन्दन,
रिक्त पूर्ण हो उठता,—
आता ध्यान तुम्हारा
जिस क्षण!

चार

निर्जन में प्रार्थना कर रहे
बैठ वृक्ष के नीचे?
साँस खींच कर
ध्यान मग्न मन
अपलक आँखें मींचे!
सत्कर्मों से करो प्रार्थना
पावन हो जन-भूतल,
देह रोम प्रार्थना करें
जग में हो जीवन-मंगल!
तन्मय अन्तर ही प्रभु दर्पण,
भूतल मन्दिर प्रांगण,
जीवन से ईश्वर वियुक्त?—
यह मध्य युगों का दर्शन!

पाँच

इन्द्रिय द्वारों ही से ईश्वर
जग में करता विचरण,
सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य स्पर्श पा
मोहित हो उठता मन!

स्पन्दन रत छायाभा गुम्फित
छिद्र भरी इन्द्रिय तन,
कहाँ खोजते स्वर्ग?
स्वर्ग रे यही रजोमय भूतन!

आओ, निर्मित करें
भाव वैभव से नव भू जीवन,
उतरें इन्द्रिय-पथ से ईश्वर
जन-गृह जग हो पावन!

छः

पत्ते झर
उड़ते भू रज पर
लोट पोट कर,
मैं पैरों की-सी आहट
सुनता आँगन पर!—
कुछ ऐसा तन्मय रहता मन!

काल प्रगति करता अविराम
दिशा पथ पर चल,
क्षितिज-झरोखों से
स्वच्छ कोमल
झाँक रहीं नव कोंपल—
बोध के नयन!

सात

नव खिलती कलियों से
जो सौन्दर्य झाँकता—
वही तत्वतः शाश्वत!
क्षण भंगुर माध्यम मुरझा
पीले पत्तों में परिणत!

भंगुर ही में रचपच कर
शाश्वत का रहना सम्भव,—
जो शाश्वत को पृथक् खोजते
रीता उनका अनुभव!

जन को मध्ययुगीन दृष्टि से
उठना निश्चय ऊपर,—
सत्य दृष्टि
जीवन मंगलमयि,
इह-पर युगपत् निर्भर!

आठ

मैं ईश्वर को आज मनुज के और पास ले आया,
विगत अनागत के पाटों में पिसता जो भरमाया!
कल जब वह जन के भीतर से हँस-हँस कर बोलेगा
स्वर्ग नरक का क्रूर भार तब मनुज नहीं ढोयेगा!

ईश्वरीय पावक मैं मानव-कर में धरने आया,
धरती ही ईश्वर का आंगन शेष बुद्धि की माया!
भू की चौड़ी छाती पर मैं लोट पोट करता हूँ,
ईश्वर से चिर अविच्छिन्न मैं नया चरण धरता हूँ!

नौ

परदा-सा उठ जाता आँखों के सम्मुख से निःस्वर,
इसी धरा पर नयी धरा तब दिखने लगती सुन्दर!
भू-जीवन से बिलग, खोज में खो थोथे चिन्तन के
युग-युग से हम भटक रहे माया खँडहर में मन के!

आओ, हम सीधे संयुक्त करें मन को जीवन से,
धरा कर्म में निरत, न बिलगावें शाश्वत को क्षण से!

मन अपने में दुख का वन, भू-रचना सुख का साधन,
जग के विस्तृत दर्पण में बिम्बित आत्मा का यौवन!
कहाँ खो गया भार काल का कर्मठ तन्मय क्षण में,
बिना हमारे जाने ही हम विजयी जीवन रण में!

दस

ईश्वरत्व का गौरव
लौटाता हूँ तुमको—
साधारण मानव बनना
लगता श्रेयस्कर!
साधारण मानव!—क्या गुरु
दायित्व न यह कन्धों पर?

छोटे से आँगन पर चलता
जब लघु पग धर
आत्म पूर्णता का अनुभव
तब करता अन्तर !
सिमट विश्व जाता सब
धूप धुले आँगन में,
मन में परिचित जगत
समा जाता तब क्षण में !

भू जीवन में मनुष्यत्व का
हो सम्पोषण,
लुप्त न होजा आँगन भी
कर अन्तर्मुख मन !
सीमा में निःसीम,
महत् लघु ही में मूर्तित
समझ न पाया था विधि कला
सृष्टि में सर्जित !

लगता था तब
दो अनन्त हैं बाहर भीतर,
तुमसे ही संयुक्त
रहा आद्यन्त न दुष्कर !

तुम ही केवल,—
सीमा और असीम बुद्धि भ्रम,
क्षण क्षण जिनको करता मन
अब तुम में अतिक्रम !

ग्यारह

फूट रही तन्मय उर तन्त्री से
यौवन झंकार,
रोम-रोम के तार
प्रेममयि, तुमको रहे पुकार !

बरस रही प्रति श्वास स्पर्श से
श्री सुषमा सुकुमार
जिससे मैं निज सृजन जगत का
करता रस शृंगार !

जग का आँगन ही
प्रिय-गृह अब—
खुले हृदय के द्वार,
नव-नव रचना कर्मों का
पहनाता प्रिय को

बारह

सूक्ष्म स्वर्ग की गन्ध
समायी जो उर भीतर
सूँघ न पाते यदि उसको नर—,
अन्तर की घ्राणेन्द्रिय उनकी
अभी न विकसित,
पंकज नहीं, पंक ही से
जीवन मन परिचित !

एक स्वर्ग झंकार
हृदय-वीणा में सोयी,
श्रवण नहीं यदि कर पाते जन,

बाहर के कोलाहल में
उनकी मति खोयी
उर न अनाहत के प्रति चेतन !

एक अमर सौन्दर्य व्याप्त
अग - जग में विस्तृत
देख नहीं पाते यदि लोचन

मन की आँखें अभी नहीं
खुल पायीं निद्रित,
बाह्य रूप का उन पर गुण्ठन !

शाश्वत अक्षय सत्य
सृष्टि पट में जो गुम्फित
स्पर्श नहीं कर पाता यदि मन

इन्द्रिय द्वारों से
वह बिखर गया
शत खण्डित—
ध्यानावस्थित नहीं हो सका
कभी एक क्षण !

चिर अखण्ड रस धारा में
आनन्द प्रवाहित,
प्राण नहीं यदि कर पाते अवगाहन,

तो असाध्य इच्छा के
पाटों से वे मर्दित,
हो न सके केन्द्रित समग्र में
बन प्रभु दर्पण !

तेरह

देव जन्म लेता जब भू पर
उसे घेर लेते मिलकर
विद्वेषी दानव,—
आत्मसात् कर असुरों को
नव अभिव्यक्ति पाता
नव युग का मानव !
सदसत् का संघर्ष
उसे गति-क्षमता देता
दोनों को कर
युग पट में संयोजित,—
सदसत् से पर
विश्व मंच पर
नव होता अवतरित
रूप धर विकसित !
प्रति विकास के साथ
विगत का ह्रास उपेक्षित
बनता नव जीवन पथ का
अवरोधक,
ह्रास तमस के प्रतिनिधि होते
काल पराजित,
युग संघर्षण बनता
जन उद्बोधक !

चौदह

धन्य तुम्हें आनन्द
जाग निष्क्रिय समाधि से
तुम सुख-दुख की बाँहों में बँध
सृष्टि प्रगति हित दोलित !
जीवन को सार्थकता दे
संवेदना नयी
तुम भू रचना कर्मों में
नित विकसित वर्धित !
रहते भी कैसे तुम
निःस्वर अन्तर्मन के
सूने-से मुक्ताकाशों से सीमित !
बाहर जीवन क्षेत्र
भग्न वीणा-सा बिखरा,—
साधो नूतन स्वर
रस स्पर्शों से कर झंकृत !

पन्द्रह

आत्म नग्न अब जीवन !—
खोल दिये सब बंधन
विश्व सभ्यता संस्कृति ने था
जिन्हें कराया धारण !
—मात्र रहे ये बाह्य उपकरण !
खोल दिये ज्योतिर्मणि भूषण
पहनाये जो रहे
शास्त्र, षड्दर्शन !
—बोध नहीं शुक वाचन, प्रवचन !
अन्तर की अनुभूति सत्य—
यदि कहूँ,
उपेक्षा से फेरेंगे
मुख शुक पण्डित,—
पूर्ण दृष्टि मिलती उससे ही,
जिससे जग में
कुछ भी रहता नहीं
तुच्छ, क्षर, खण्डित !
लघु तथ्यों से भले लगे
भव पंजर निर्मित,
महत् प्रीति करुणा से वह
शाश्वत आलिंगित !

सोलह

तुम्हें सौंपता हूँ देवत्व
तुम्हारा गुरुवर,
मनुष्यत्व ही का कामी
मेरा नर जीवन !
मानव प्रतिमा में तुम
जीवन-मूर्त हो सको,
श्रद्धारत मन करता
जन-जन में अभिवादन !
शून्य स्थाणु क्षमता,
निर्गुण चेतना अगोचर
मनुज रूप धरकर ही
होती पूर्ण पल्लवित,
इन्द्रियों द्वारों ही से
सहज ग्रहण करता मैं
सूक्ष्म भाव सौन्दर्य तुम्हारा
रहस अपरिमित !

आत्मबोध के छत्ते में
संचय करता मन
सत्य तुम्हारा,—अलि-सा अविरत
भर रस गुंजन !
तुम मनुष्य बन सको
देह मन प्राण तुम्हें मैं
साँस-साँस पर करता रहता
पूर्ण समर्पण !

सत्रह

जिस पावक से सृजन
प्रेम का करता ईश्वर
उसे पी गया हूँ मैं छककर !
नये सूर्य बनने के क्रम में
चिनगारियाँ निरन्तर !
ओ आनन्द,
सृजन के सुख-दुख का
प्रेमी मेरा मन,—
तुम्हें सौंपता रहता
सर्जन के सुख-दुख के
रस क्षण !
लोट धूलि में भू जीवन की
अनुभव होता पावन,
मैं जड़ता को आत्मसात् कर
बनता समधिक चेतन !
बदल गयी आत्मा की भाषा,
अग-जग का मूल्यांकन,
रही न वह जीवन परिभाषा,
भू अब श्रद्धा प्रांगण !

अठारह

जीवन पावक आज तुम्हारे
करतल पर मैं धरता,—
सावधान, जलना मत, तुमको
विश्व यज्ञ हित वरता !
अब वह युग आ गया
मनुज ईश्वर हों सीधे सम्मुख,—
नम्र हृदय, ऊँचा सिर रखना,
भरमा दे न महत् सुख !

सच्चिद् विद्युद् धारा में
मैं बहा रहा जन-मन को,
सावधान, संयम से रहना,
खोना मत प्रिय क्षण को !
इह पर संग भ्रादर्श यथार्थ
मिले भावी युग पथ पर,
सावधान, बनकर समग्र
ढलना तुम, पुरुषोत्तम नर !

उन्नीस

डरो न तुम, निर्भय मन विचरो
जगती के भ्रांगन में,
नहीं जानते ? ईश्वर के
प्रतिनिधि हो तुम जीवन में !
दौड़ाभ्रो उद्‌बुद्ध दृष्टि
उन्मुक्त दिशा के पथ पर,
लक्ष्य न भूलो, बैठे हो तुम
क्षिप्र काल के रथ पर !
सूर्य खण्ड यह धरा, भले जड़,
इसे सँवारो प्रतिक्षण,
मानवीय बन सके, प्राण से सींचो
रज हो चेतन !
गुरु दायित्व मनुज कन्धों पर
उसे निबाहो हँसकर,—
स्त्री नर ही क्या, पशु पक्षी
तृण तरु कृतार्थ हों भू पर !
भ्रणु युग यह ! मुट्ठी-भर रज से
चिद् गति जब ले नूतन
रचना करो नये जग की मिल
सार्थक हो भू-यौवन !

बीस

काल न मुझको मात्र घड़ी पल,
काल परे मन जाग्रत्,
भ्रन्तर का जागरण सत्य ही
मेरे मन का भारत !
वह न विश्व का भ्रंग,
भ्रंग उसका ही विश्व भ्रसंशय,—
भारत-भू पर ! बोध प्राप्त कर
बनें लोग मृत्युंजय !

दुख होता अह, मुझे
देखकर उसको नग्न दिगम्बर,
आत्मा के निर्माण में निरत
रहे काय-मन खँडहर !
उसे बहिर्मुख करना स्थापित
अब आत्मा का जीवन,
कल उसका आँगन होगा
विश्वात्मा का मुख दर्पण !
आत्मरिक्त, वह बहिर्विभव रत
देशों में हो बिम्बित
सौम्य तेज भारत मन का,—
अणु-मृत जग हो नव जीवित !

इक्कीस

झूठे नबी असम्भव के प्रति
करते प्रेरित,
बुद्धिहीन मुट्ठी भर
मनुजों से हो पूजित !
सम्भव की साधना
असम्भव से भी दुष्कर,
सत्य रुधिर से पोषित वह
होता क्षण-क्षण पर !
वह न सुनहले स्वप्नों में
भटकाता जन को,
स्मित आकाश कुसुम वन में
न भ्रमाता मन को !
जीवन वास्तवता से खींच
प्रकाश प्रतिक्षण
निर्मित करना होता उसे
धरा का आँगन !
आओ, जोहें जग को,
पहचानें जीवन मुख !
जन-भू आँगन रचना ही में
जीवन का सुख !

बाईस

सहज सत्य सुन्दर
इन्द्रिय आवेगों का पथ,
प्राण अश्व से संचालित
विश्वात्मा का रथ !

शिव जग-जीवन लक्ष्य,—
बोध वल्गा से प्रेरित
मातृ प्रकृति के क्रम विकास-
पथ पर रथ धावित !

इन्द्रिय उपवन सूक्ष्म भाव-
सम्पद् में कुसुमित,
अन्तर-नभ-सुरधनु-श्री-
सुषमा से आलिंगित !

ऐसा नहीं कि सत्य परे
इन्द्रिय जीवन से—
उसे सँजोना रस-समग्र
आत्मा के मन से !

छील-छीलकर प्याज-चेतना
आत्म रिक्त बन,
सम्भव हो निर्वाण—
न ईश्वर का आराधन !

जीवन ईश्वर को जो
वरना चाहो भू पर
तो समत्व साधो,
न उठो इन्द्रिय-मन ऊपर !

तेईस

मेरे सम्मुख आता हँसता
जन समूह का ईश्वर,
व्यक्ति चेतना दीप शिखा यदि
सामूहिक चिद् भास्कर !

सामूहिक संकल्प ? बनाता
वह जग में अपना पथ,
बृहद् यान चाहिए हमें
कितना क्या ढो सकता रथ ?

मनः संगठन पीछे रहता
बहिः संगठन आगे,
भले शील सुन्दर पण्डित हो,
पर कायर, यदि भागे !

बहिः संगठन केवल रे
ऊँचे स्तर पर ही सम्भव,
तभी लोक श्रेयस्कर,—
नीचे स्तर पर जीवन परिभव !

चौबीस

तुम्हें सौंपकर मुझको
विधिना ने बतलाया
कितने कोमल सूक्ष्म
तन्तुओं से असु-गुम्फित
मानव जीवन !—
शिशु जिसका
अंकुर गुण्ठित चित् !
तुम्हें सौंप
निज सृजन-कला का भी
रहस्य समझाया !
तुम प्रभु की बहुमूल्य धरोहर
ईश्वर मुख की दर्पण,
अनजाने ही तुम्हें पालता
उर का मुग्ध समर्पण !
तुम कितनी असहाय, प्रबल
कितना कठोर जग—
अविकच कली—कुटिल काँटों का
कुण्ठित भू-मग !
रहस मौन स्वर्गिक सम्मोहन
गूढ़, अपरिचित—
(रक्षक सबल तुम्हारा !)—
उर करता आकर्पित !
सतत धातृ जननी की
मृदु बाँहों में दोलित
हँसती स्वर्ग कुसुम तुम
मातृ प्रकृति सम्पोषित !
सृजन कला की विस्मय हो तुम,
मुझे न संशय
निज अबोधता से संरक्षित
तुम्हें नहीं भय !
प्रीति अंक में पलते निश्चय
निखिल चराचर—
प्रेम सृष्टि का ईश्वर,
जग जीवन का सहचर ![1]

पच्चीस

ओस बूँद, तुम कितने हो श्री-निर्मल,
सहज सँजोये हो फूलों के करतल !
वेद ऋचा तुम मुझको जीवन-पावन
उज्ज्वल, स्वच्छ रहे तुम-सा मेरा मन!

1. सुमित्रा के प्रति

विहगो, तुम होते न सृष्टि के गायक
आग लगा, देता मैं जग में तत्क्षण,
कवि पंखी तुम, स्वर संगीत विधायक,
कूजित तुमसे नील गगन, भू दिशि-क्षण!
मुझे फूल भी भाते—रंग मुखर स्वर,
गोपन कुछ कहते वे मन में निःस्वर,
तुम दोनों हो जग में कितने सुन्दर
एकाकी मनके प्रिय साथी सहचर!

छब्बीस

सूक्ष्म लेखनी की असि से
मैं काट रहा हूँ
अन्धकार युग-युग के मन का!
स्थापित करने विश्व तन्त्र
नूतन जीवन का!
शुद्ध बोध की धार
घाव करती उर-दुस्तर,
उज्ज्वल कोमल स्पर्शों से छू अन्तर!
बहता संवेदना रुधिर का
भीतर निर्झर,
भेद भाव का कटु किल्विष
जो धोता सत्वर!
कलमष को कलमष कह
उसे घृणा करने से
मिटता अंक नहीं निगूढ़ लांछन का,
उठा मनुज को,
व्यापक भाव-भूमि देकर ही
मूल्य सिखा सकते हम मानवपन का!

सत्ताईस

युद्ध करो, हाँ युद्ध,
सतत विगत ज्वर होकर,
निर्मम भू परिवेश,
युद्ध चाहिए निरन्तर!
अन्यायी नर असुर,
नम्र, न्यायी सच्चा नर,
लड़ो सत्य के हित
जिस पर जन मंगल निर्भर!
मर्यादा नवनीत
चेतना की निःसंशय,
मर्यादा से हीन
कभी हो सकता सहृदय?

मर्यादा की असि
मैं देता तुम्हें अकुण्ठित,
काटो मन का अन्धकार,
जीवन हो ज्योतित !

अट्ठाईस

ऊर्ध्वमुखी मनु ही सन्मानव,
मुझे न संशय,
अधोमुखी इन्द्रिय-रत पशुवत्,—
नर तन केवल परिचय !
ऋषि मुनियों, द्रष्टा देवों का
सार भाग गति कामी मानव,
अभिव्यक्ति उसमें ही
ईश्वर की हो सकती सम्भव !

लगता पहिले
अधोमुखी इन्द्रिय ही
सर्वोपरि सुख साधन,—
परम सौम्य सुख का अनुभव
तब होता, जब मन
ऊर्ध्वभूमि पर करता विचरण !

किन्तु ऊर्ध्व ही में खो जाना
रिक्त शून्य में
निष्क्रिय लय होना भर,
ऊर्ध्व प्राण वंशी से पकड़ो
जग जीवन को
वह मृत मीन नहीं,
उसमें उठने की क्षमता ऊपर !
ईश्वर का पर्याय सन्तुलन,—
भगवद्वंशी मानव, भोगो
शाश्वत जन-भू यौवन !

उनतीस

फूट पड़ा जो पावनता का
स्रोत हृदय के भीतर
अब अजस्र वह निर्झर !
भू जन चाहें,
उसमें कर सकते अवगाहन !

जीवन-ईश्वर ध्येय मनुज का,—
यदि न ग्रह्य करता
विकास जीवन का
तो वह ग्रह्य नहीं,
भ्रम-भर,—कहता मन !

व्यर्थ बिना जीवन के ईश्वर,
व्यर्थ बिना ईश्वर के जीवन,—
कभी बन सकेगा जीवन ही
ईश्वर का भू-प्रतिनिधि पावन !

भटक बुद्धि के संकुल वन में
खो आत्मा के निभृत गगन में
थामे अब मन
हरी डाल जीवन की,—
यहीं बनाता मन को नीड़
नये ईश्वर का,
नव जीवन तृण
चुन-चुन प्रतिक्षण !

तीस

ज्यों-ज्यों आता पास तुम्हारे
नयी भूमि पर चलता,
विस्तृत लगतीं दिशा,
क्षितिज पर सूरज नया मचलता !
प्राणों के खग कलरव करते
होता जान सवेरा,
मिटता आस्था के अभाव का
मन का छद्म अँधेरा !

उतरो स्वर्णिम रस निर्झर-सी
प्लावित करने जग को,
नूतन चेतन पद चिह्नों से
सूचित करने मग को !
छाया भय संशय विषाद
जग में विघटन का पतझर,
आओ, लोटो भू रज पर
बन नव जीवन कुसुमाकर !

इकतीस

गायक बनने को बन्धु, चाहिए
राग ताल स्वर लय साधन,
कवि बनने को भावार्द्र हृदय में
सुन्दरता का रस दंशन !
मानव बनने को सेवा-रत
अन्तर में सहृदय संवेदन,
नित आत्मत्याग ही केवल पर
हो सकता जन-मन पर शासन !

सुगृही बनने को अपरिहार्य
सत्कर्म निरत जीवन चिन्तन,
इस सियाराममय जग ही में
साधक को पाने प्रभु दर्शन !

यह सच है, पर सबसे दुष्कर
जग में बनना साधारण जन,
उद्यत, जाग्रत्, कर्मठ, विनम्र
भू शिल्पी—करता उसे नमन !

बत्तीस

जब मैं धरती पर पग धरता
सहज चूम लेती वह पदतल,
मुझे गुदगुदाती,
स्नेहाकुल मन हो उठता चंचल !

पकड़े मुझको
भू का गुरु आकर्षण,
उसे चाहिए
युग प्रबुद्ध मानव मन,—
नया संजोना उसे
हरित निज आँगन !

श्यामल दूबड़
मुक्त पृष्ठ-सा खुला
नये जीवन का,
लोटें इस पर,
भार उतारें मन का !
नव सूर्योदय हुआ
प्रसन्न दिशाएँ,
अन्धकार की मिटीं
निरुद्ध निशाएँ !

नव जीवन के स्वप्नों से
मन पुलकित,
अंजलि सलिल के संग
अंग हिल्लोलित !

नयी दिशाओं को छूने
मैं स्वतः स्फूर्त [illegible]
मातृ क्रोड़ में [illegible]
मन [illegible]
जगकर [illegible]
[illegible]

तैंतीस

अन्धकार से मत जूझो
भू मन के दुर्जय,
वह अबोध पहिला प्रतिनिधि
अन्तर प्रकाश का!—

अहंकार ही आत्मा का प्रारूप प्रथम रे,
मानव जीवन
कण्टक पथ जिसके विकास का!

सूक्ष्म मनोमय दर्शन,—
सत् के बोध के लिए
असत् उपस्थित रहे,
कला यह सृष्टि सृजन की,—

ऐक्य बोध के लिए
विविधता ही पथ दर्शक,
यह अनुभूति रही निगूढ़
युग के चारण की!

दर्शन बन जाती जब कविता
तब वह कविता रह जाती क्या?
शंकित कुछ जन!

काव्य क्षितिज पर
ज्योति पर्व-सी भाव-दीप्त वह
आलोकित करती
रस प्रेमी प्राज्ञों का मन!

चौंतीस

खोल दिये मैंने झिलमिल
इन्द्रिय वातायन,
खुली वायु में
साँस आज लेता मन!

युग-युग के वर्जन निषेध से
मुँदे हुए थे कर्म वचन मन—
इच्छाओं का जीवन!

द्वार मुक्त कर अपनेपन के
पाता अब मैं
पूजन के नव साधन!

मेरे बिना भला क्या सम्भव
ईश्वर का अस्तित्व
करे उर अनुभव?

मैं ईश्वर पर
ईश्वर मुझ पर
न्योछावर होते रहते अब
अनुभव बन नव !

मुझसे निकट
न कोई ईश्वर के,
ईश्वर से
निकट न कोई मेरे,—
इसमें संशय ?

प्रतिक्षण हम आमने-सामने
बैठे रहते—
तन-मन रहते तन्मय !

पैंतीस

मैं नव किरणें
भू जीवन में बो जाऊँगा,
नये सूर्य-शशि उगें क्षितिज में,
ज्योति पंख गाने गाऊँगा !

व्याकुल वन कोयल के स्वर में
व्यथा गूँथ जन-जन अन्तर में,
मैं भावी स्वप्नों से सुरभित
नव वसन्त जग में लाऊँगा !

नव जीवन कांक्षी
रस विह्वल
गर्भित मेरे जीवन के पल,
मैं अपने को देकर जग को
जग में
अपने को पाऊँगा !

ज्वार उठा जीवन सागर में
नया शब्द बनकर अम्बर में—
पंख खोल
प्रिय देश काल में
निखिल विश्व-भर में छाऊँगा !
ज्योति स्नात
गायन गाऊँगा !

छत्तीस

मुझे चाहिए फूल परी-सी
सुन्दर नारी,
अपनी ही उर-सौरभ में
लिपटी सुकुमारी !

देह गन्ध ही में वह
बसी नहीं हो मांसल,
उसे कभी छू लूं तो
प्राण न हों रति-विह्वल !

मन के मुख पर
मधुर शील का हो स्मित गुण्ठन,
रमा चेतना की
श्री शोभा में हो जीवन !

गृह में तन, सामाजिकता में
हो उसका मन,
अधिक प्रीति से करुणा हो—
जग के प्रति चेतन !

पद तल स्पर्शों से उसके
भूतल हो पुलकित—
मन के स्पर्शों से
मरणोन्मुख जग नव जीवित !

सैंतीस

पंच तत्व में जल समीर
मुझको हैं प्यारे,
कितने चंचल, कितने कोमल,
सबसे न्यारे !

कितने श्रान्ति क्लान्तिहर
दोनों कितने सहृदय
ये कोई हैं देव,
न इसमें मुझको संशय !

भाव मुग्ध जब इन पर
करने लगता चिन्तन,
लगता तब पागल
हो जायेगा मेरा मन !

सोचो, किस वंशी ध्वनि-सा
रेशमी तरंगित
अंचल मलयानिल का—
किन सूत्रों से गुम्फित !

लगता, मृदुल मृणाल तन्तु से
छिल जायेगा
सौरभ का तन, क्या रेशम से
गुंथ पायेगा?
सम्भव, इतनी सूक्ष्म
चेतना हो मानस की
प्रणय भावना हो या
युवती उर के रस की!

तुम कात नीहार
बना हो मसृण समीरण
पिघला कर-पुट में समीर को
ढले सलिल कण!
तरल सलिल, यदि नहीं
डूबने का होता भय
मैं उसमें ही रहता
कोमलता में तन्मय!

उसका शीतल स्पर्श
ओढ़कर लेटा रहता,
किसी नदी सरवर उर की
लहरों में बहता!
किन गीले तारों से
किसने गूंथा जल को
फूलों के कूलों में क्यों
बांधा चंचल को!

अनिल सलिल को
आलिंगन जब करता उच्छल
हँसता मैं तात्विक शोभा में
लय फेनोज्वल!
रभस वेग ज्वारों का
गाता उर के भीतर
आंधी पर चढ़
करता पार दुरन्त दिगन्तर!

अड़तीस

गंगा की-सी धारा बहती
लगती निखिल धरा पर,
जाने किसका प्रीति स्पर्श
रस पुलकित करता अन्तर!
बिछे काल के क्षण बालू कण
जीवन तट पर विस्तृत,
आओ, खेलें बना घरौंदे,
क्रीड़ा स्थल जग निश्चित!

गति, अविरल गति ही जग जीवन,
उसे रोकना दुष्कर,
मन की नाव भले ही डोले
ध्येय सरित का सागर!
आशा की सित पाल चढ़ाओ,
उच्छल प्राण समीरण,
नव-नव इच्छा की हिल्लोलें
देतीं मिल आलिंगन!
जीवन क्या केवल संघर्षण!—
अर्ध सत्य युग दर्शन,
पूर्ण सत्य—आनन्द स्वयं ही
डांड चलाता प्रतिक्षण!

उनतालीस

पास तुम्हारे होता हूँ जब
मन से ओझल हो जाता जग,
लौट जगत् पर आता जब मैं
नयी धरा पर धरता मन पग!
कितना सत्य जगत् लगता तब
तुम प्रकाश हो जिसके निश्चय,
बिना सृष्टि के तुम्हें समझना
आध्यात्मिक अज्ञान असंशय!
स्पर्श तुम्हारा अपरिहार्य, प्रिय,
खोले मर्म जगत् का जीवन,—
जगत् सत्य है, जगत् सत्य,
श्री शोभा मुख का शाश्वत दर्पण!
पंकज वह, उसको होना अब
ज्योति स्पर्श पा तुमसे विकसित,
नित्य सत्य जीवन-यथार्थ ही
जिसके उर में ईश्वर बिम्बित!

चालीस

श्री सुषमा के सन्देश मूक,
प्रिय फूल, सहज हरते तुम मन,
सौन्दर्य प्रतीक, अधर सस्मित,
किस विस्मय से अपलक लोचन?
मैं भूल स्वयं को जाता हूँ
जब तुम्हें देखता अन्त:स्मित,
शोभा बखेरते तुम जग में,
मग में, गृह-आँगन, वन में नित!

सुन्दरता ही है सत्य परम,
सुन्दरता ही शिव भी निश्चय,
शिव सत्य नहीं यदि सुन्दर हों
तो मुझे न भायें निःसंशय !

आओ, भर दें जग के दिगन्त
नव युग-शोभा में हो कुसुमित,
मैं कवि हूँ, तुम स्वर्गिक कविता,
नव रूप-दिगन्त करें सर्जित !

पीड़ित अभाव से जन जीवन
औं कामक्षुधा से भू यौवन,
कुण्ठित उर में बरसा प्रहर्ष
हम भरें भाव-मधुमय गुंजन !

इकतालीस

राग द्वेष से दग्ध आज
युग मानव का मन
निखिल विश्व में
घोर विषमताओं का जीवन !

जनगण से भी जग के बौद्धिक
मन के निर्धन,
स्पर्धाऽहन्ता के पाटों में
मर्दित प्रतिक्षण !

जलते रहते मेरे
विद्वेषी आलोचक
छोटे मुँह जो बड़ी बात
कहते नित अनथक !

भारत में रहना जिसको
जीते पहिले मन—
नव निर्मित करना उसको
जगती का प्रांगण !

धिक् सबसे दयनीय देश
अस्त्रों से सज्जित,
नहीं जानते वे भीतर से
होना विकसित !

बाहर के ही पशु प्रयत्न
उनके खर साधन,
नयी सभ्यता को होना
भीतर से चेतन !

बाहर से ही हाँक रहे वे
भू जीवन को,
युग यथार्थ यह—
आज बदलना अन्तर्मन को!
बाहर से भी सहज सँजोये
भू निज आँगन,—
जीवन आस्था में आने को
नव परिवर्तन!
ऊपर से भी अब दबाव
अनुभव करता मन,
भोगेंगे जन नयी
चेतना का नव यौवन!

बयालीस

बिछ जाता मन हँस दूबड़-सा
तुम धरो धरा पर नये चरण,
लोटे वसन्त नव जन-भू पर
जागे दिगन्त-तम ज्योति नयन!
पग-पग पर सुलगे नयी क्रान्ति,
फैले नव जीवन की ज्वाला,
जन वरण करें तुमको, पहना
नव आशाऽकांक्षा की माला!
चेतना सुरा नव पी प्रमत्त
जन आत्म त्याग को हों तत्पर,
भू पाप ताप अभिशाप मिटें
सुख सौध बने दुख का खँडहर!
तुम हो अविजेय तमस दैवी
जीवन की आकांक्षा—काली,
पग-पग पर चलते भूमिकम्प,
उड्गण टकरा देते ताली!
ढो पाती बोझ विषमता का
यदि अब न अभावों की पीढ़ी,
तो अट्टहास फिर करो भीम
युग विघटन बने प्रगति सीढ़ी!
देखें विनाश के ताण्डव में
जन नव जीवन को धरते पग,
नव भावों में होते मुकुलित
मन के दिगन्त, भावी का मग!
शोषण के मुण्डों से मण्डित
मा, सदय तुम्हारा वक्षःस्थल,
फिर पौरुष-सिंह बने वाहन,
विचरे जग में जीवन-मंगल!

सैंतालीस

बोध-मान मैं ही हूँ युग का—
जानें निश्चित,
झूठे द्रष्टा आत्म-प्रचारक
भू पर स्थापित !
स्वप्नों के आकाश कुसुम
मन करते मोहित,
भू यथार्थ से हटा दृष्टि
शिखरों प्रति प्रेरित !

सत्य-मान मैं,—धरा कर्म
छोड़ें न कभी जन,
हास अश्रु के जग में उतरा
युग नव चेतन !
कर्म स्वेद में सनी धरा रज
होगी उर्वर,
मैं आनन्द बखेरूँगा
उस पर पग-पग पर !

निकट सत्य के आयेगा
जब जन-भू जीवन
नयी चेतना से दीपित
होगा मानव मन !
नयी शक्तियाँ मुक्त करेंगी
सहज अवतरण
शाश्वत से गर्भित होगा
प्रति सृजन निरत क्षण !

निखिल सृष्टि रे सत्य,
सत्य से सर्जित पोषित
बिखरे जन-भू जीवन को
करना संयोजित !
आत्मा ही की लय में
होगा वह संयोजन,
मन में भीतर, जग में बाहर
पूर्ण समर्पण !

एक विश्व में एक मनुजता
होगी निश्चय,
सकल विविधताओं का
सतत करेगी संचय !
सत्य खोजना होगा नहीं
कहीं तब ऊपर,
भू पर होगा स्वर्ग,
यहीं विचरेगा ईश्वर !

चौवालीस

मैं न रहूँ वन में निर्जन
बन एकाकी संन्यासी
मनोगुहा में खोया दुर्गम
रिक्त मुक्ति अभिलाषी!

जन संकुल संसार में रहूँ
तुम पर अन्तर्निर्भर,
भू जीवन को नया मोड़ दूँ
तिरूँ न ऊपर - ऊपर!

इन्द्रिय वृषभों से मैं जोतूँ
जीवन क्षेत्र प्रतिक्षण,
बोऊँ किरणें श्री शोभा
आनन्द प्रीति की नूतन!

खर कण्टक दुख दैन्य निरा,
दे नयी चेतना का जल
सींचूँ जीवन की समग्रता
उगें शस्य श्री-मांसल!

अपरिमेय आत्मा की क्षमता—
उसे लुटाऊँ भू पर,
बना धरा-मुख मानवीय
सुन्दर से नित सुन्दरतर!

पैंतालीस

स्त्री श्री-सुन्दरता की प्रतीक
उसका अजेय उर आकर्षण,
स्त्री के प्रिय अंगों से लिपटा
रहता विस्मृत-सा जन-यौवन!

स्त्री भले रूप की हो प्रतिनिधि,
पर मन से सुन्दर ही सुन्दर,
गूलर फल-सा सौन्दर्य बाह्य
स्थायी न हृदय में करता घर!

युग वृत्ति काम के प्रति अर्पित
जिससे जन-भू जीवन कुण्ठित,
उपयोग न श्री सुन्दरता का
कर पाते जन तम से कवलित!

वैराग्य पराजय जन-मन की,
अनुराग सृष्टि रस का वाहक,
यदि अधोमुखी हो प्राण वृत्ति
वह मानव गरिमा की दाहक!

जग जीवन स्रष्टा प्राण शक्ति
उसको जन को करना धारण,
जो ऊर्ध्वकाम हो भू-यौवन
नव मनुष्यत्व का हो वाहन !

छियालीस

प्रिय सुरा पात्र-सा जग जीवन
अधरामृत में इसको ढालो,
ज्वाला में लिपटा इन्द्रिय तम
नव जीवन ज्योति बना पालो !
तुम कर्म चेतना श्री लक्ष्मी,
फिर कर्मठ राजस रूप धरो,
वाणी का सात्विक प्रज्ञा स्वर
इसमें उन्मद रस भाव भरो !
भावना कर्म में हो मूर्तित,
दर्शन आस्था में हो परिणत,
सीमा असीम से हो मण्डित,
क्षण के पग धर विचरे शाश्वत !
ओ कारयतृ विधि की प्रतिभे,
भू जीवन का स्तर हो विकसित,
तुम भावयतृ वाणी के सँग
नूतन भू-पीठ करो निर्मित !
युग कर्म शब्द से प्रेरित जन
नव जीवन छन्द करें गुम्फित,
श्रम स्वेद अश्रुमय जीवन में
तुम रस चेतस बन हो छन्दित !

सैंतालीस

दयावश छूती तुम भू-पंक
कमल बन खिल उठतीं पद चाप,
स्वर्ग के बनते प्रिय वरदान
धरा के पाप ताप अभिशाप !
कौन कहता जीवन दुखमूल?—
मुक्ति केवल छूंछा निर्वाण !
हृदय में हो जो आस्था सत्य
सुलभ हो पग-पग पर परित्राण!
बरसता रस प्रहर्ष का मेघ
अमित श्री शोभा में अम्लान,
बीन बन रोम-रोम के तार
हृदय में भरते स्वर्गिक तान !

जगत् रे अमर प्रेम का नीड़
जहाँ जीवन ईश्वर का वास,
पाप भू पथ के सहज पवित्र,
मनुज जीवन में निहित विकास!
खिलो फूलों-से अन्तःस्फीत
खगों-से गाओ जागृति गीत,
धरा जीवन में हो उत्क्रान्ति
दैन्य दुख अन्धकार पर जीत!

अड़तालीस

मैं मानव चैतन्य,—
सत्य कहता दृढ़ स्वर में
अमृत और अणुबम
मैं आज लिये हूँ कर में!
पथरा गया मनुज के मन का
वृहद् भाग अब,
विश्व परिस्थिति उगल-सी रहीं
गरल आग अब!
ज्ञात नहीं, कितना संहार
मुझे हो करना
जन-जन उर का दारुण घाव
मुझे अब भरना!
बाह्य परिस्थितियों ही से
अभ्यस्त मनुज मन,
स्पर्श न मिल पाता उसको
मेरा रस चेतन!
यों लगता, प्रतिदिन के
भीषण संघर्षों से
मानव उर में उगते
नित नव निष्कर्षों से—
लोग ऊब जायेंगे
क्षुद्र हृदयता से निज
नव प्रकाश बन जाग उठेगा
अन्धा मनसिज!
मुझे विनाश न करना पड़े
अधिक जन-धन का,
रूपान्तर हो सके शनैः
कुण्ठित भू-मन का!
नव विकास पथ का कामी
सम्प्रति भू मानव,
उसे वहन करना
नव मानवता का गौरव!

युग प्रभात के पूर्व तमस से
अब जग छादित,
नव प्रकाश में शीघ्र
दिशाएँ होंगी जागृत !
पावक लिपि में मुझको करना
भू पर अंकित
नव जीवन का सत्य—
जगत् पथ हो नव दीपित !
मैं अभिनव चैतन्य—
स्पर्श करता जन-मन को,
बाहर से भी भीतर
समधिक लड़ना जन को !

उनचास

असत् न रोको—कहते ईसा
जो जन जीवन सहचर,
असत् रोकने से हम देंगे
जन्म असत् को दुस्तर !
असत् नहीं यह सृष्टि,
बुरा होता न कभी कोई नर,
ये जग जीवन स्थितियाँ
घेरे नर को बाहर भीतर !
सत् ही सर्व जगत्, सत् मानव
अंश सत्य का अक्षय,
यही मनुज,—स्थितियों से पीड़ित
पिण्ड न उसका परिचय !
जाग्रत् करो मनुज का सत्—
पर कब ? जान लो असंशय
प्रथम स्वयं तुम अपनी सत्ता,
सत् में कर लो तन्मय !
इसी मनुज को ईसा देते
अशुभ न रोको—प्रवचन,
सत् का अपृथक् सहचर बनना
भू विकास का साधन !
सदसत् का द्रष्टा बनकर नित
रहो जगत् प्रति जाग्रत्
आत्म दान दो सत् का जग को
कर अबोध का स्वागत !

पचास

कौन आ रही सावित्री-सी
वह पग धर नव चेतन
विश्व सभ्यता को अणु मृत
देने नव जीवन-यौवन !

नयी चेतना का यौवन वह
श्री शोभा का जीवन,
नयी मनुजता अन्तः केन्द्रित
भू पर करती विचरण !

इन्द्रिय द्वारों से जिसके
अवतरण कर रहा ईश्वर,
सामाजिकता में दिङ्मूर्तित
सूक्ष्म सत्य शिव सुन्दर !

आत्मा अब न जनों को दुर्लभ
वह भू पर भी बाहर,
सबके अन्तर में भी निवसित—
यह आश्चर्य महत्तर !

हृदय खुल गया जन-जन के प्रति
स्वर्ग सुरभि-सा उड़कर,
हाव भाव सहृदय अन्तर के
छूते सबका अन्तर !

अपने प्रति अज्ञान घोर
था मानव शत्रु भयंकर,
मुक्त पारदर्शी अब जन-मन
बोध स्पर्श नव पाकर !

इक्यावन

काम भले हो सृजन शक्ति
भोगे उसको नव यौवन,
किन्तु प्रीति का शुभ्र स्पर्श
मन को करता नव चेतन !

अन्ध काम का संयम
जीवन मन को देता सौष्ठव,
बल देता वह धृति मति स्मृति को,
उच्च ध्येय का गौरव !

प्राण शक्ति संचय से तन-मन
होता पुनरुज्जीवित,
रोम-रोम के पुलिनों से
बहता आनन्द अपरिमित !

अन्तः सौरभ से हो उठती
प्राणवायु रस पुलकित,
भाव क्षितिज, नव बोध दिशाएँ
नव श्री शोभा कुसुमित !

काम सर्प के मणि फण पर धर
पौरुष के राजस पग
अन्तर्जीवन दृष्टि प्राप्त कर
गढ़ें विशद जन भू-मग !

बावन

ज्ञान ज्योति करती नीराजन,
भक्ति पदों पर मौन प्रणत
कर्म देख विस्तार अपरिमित
परिक्रमा करता अविरत !

तुम अभिन्न नित जग जीवन से
भाव जनों के आराधन,
वास्तव में जग ही प्रभु मन्दिर
प्रतिमाएँ मानस दर्पण !

सहज पार कर बोध क्षितिज को
अमित नील को छूता मन,
हृदय प्राण रस रोमांचित,
कर नव प्रकाश में अवगाहन !

अन्तस की शोभा वसन्त के
नव कलि कुसुमों में मुकुलित,
भीतर देखें बाहर—ईश्वर
वस्तु जगत में भी बिम्बित !

योग ज्ञान अनिवार्य न दर्शन,
व्यर्थ निखिल जप तप साधन,—
तन-मन-इन्द्रिय के विधान में
ईश्वरत्व ही का वितरण !

साँस-साँस में पीता चेतस
प्रभु ही का रस चरणाऽमृत,
दुर्लभ नहीं मनुज को कुछ भी—
आस्था प्रति जो उर अर्पित !

तिरपन

न जाने बहती कैसी वायु
देह में हो उठता रोमांच,
मधुरिमा में से डूबे प्राण,
हृदय अज्ञात प्रीति का मंच !

निखरते अंगों से स्मित अंग
उभरती शोभा स्वच्छ विदेह,
नयी चेतना अतिथि बन आज
उजागर करती नर का गेह !

भावनाओं का सित सौन्दर्य
कर्म जग में भरता आह्लाद,
चित्त अन्तर्यौवन पर मुग्ध,
मिट गया जग का दैन्य विषाद !

लोट भू रज में इन्द्रिय वृत्ति
मुक्ति में करती निश्छल स्नान,
स्वर्ग की पावनता में मग्न
रोम गाते पुलकित हो गान !

ध्यान में लीन दीप्त अनुभूति
मुझे ले जाती जग के पार,
इन्द्रियाँ आत्म तृप्त हो जहाँ
खोलतीं नये बोध के द्वार !

चौवन

खादी के सूतों - सी
मैंने बटी चेतना
जो अनन्त,—बुन सके
लोक मंगल पट सुमना !

नये बोध से गर्भित
खग-सी नीड़ बसाये
नव भावों की छाया में,
जन - मन में छाये !

मानव का छोटा घर
बड़ा क्षितिज-मन भाये,
छोटे-से घर में भी
मन में विश्व समाये !

और, विश्व से भी बढ़कर
अन्तस के भीतर
[illegible]ट विधायक
ईश्वर !

[illegible] हो,
[illegible] का मन,

[illegible] !

मुक्त चेतना हो
जग के ईश्वर को अर्पित,
दैन्य मिटे जग का,
मन हो आनन्द समाधित !

भावैश्वर्य मुझे ऐसा
चाहिए जगत् में
भौतिक सुख जिसके
अधीन हों मेरे मत में !

दृष्टिहीन विज्ञान—
भले भू बाहर दीपित,
अन्धकार से मानव
तन मन आत्मा पीड़ित !

पचपन

सीमा ही सीमाविहीन की
जग में साधक,
यदि असीम बनना चाहें
सीमा में रहिए,

प्राणों का आवेग न हो
आत्मा का बाधक,
सागर में मिलना चाहें,
कूलों में बहिए !

सीमा में रह मैं
असीम का अनुभव करता,
किरण डोर बन
अन्धकार जीवन का हरता !

आओ, पहचानें
जग जीवन के आनंन को
लघु तिनकों को गूँथ
सँजोयें भू प्रांगण को !

एक फूल—सौन्दर्य
वनस्पति जग का बिम्बित,
भाषा का ऐश्वर्य
व्यर्थ कर देता इंगित !

नाम रूप की जड़
सीमाओं में जग खण्डित,
दे असीम को नींव
करें नव सीमा निर्मित !

छप्पन

लगता, ज्यों पहिली बार धरा पर
आज चरण मैं धरता हूँ,
जीवन प्रभात में पहिले ही
मैं जग के दर्शन करता हूँ!

उग रहा यथार्थ नया भू पर
लगता अब सब कुछ ठोस घना,
मेरी आँखों के सम्मुख ही
दिखता जग जगत् नवीन बना!

लगती दिग् ज्योति अधिक उज्ज्वल,
निशि अन्धकार तन तड़ित् स्नात,
मेरा मन तन्मय अग-जग से,
क्षितिजों पर हँसता नव प्रभात!

यह नहीं रिक्त कल्पना मात्र,
अनुभूति प्रबुद्ध हृदय मन की,
नव मानवता में-सी ढलती
लगती अब आकृति जन-जन की!

बहता नव रक्त शिराओं में,
बरता फिर मुझको नव यौवन,
मन, बुद्धि, प्राण, तन अस्थि स्नायु
सब कुछ हो उठे अधिक चेतन!

सत्तावन

कैसे न सृष्टि का लूटूँ रस
मन में जग के प्रति आकर्षण,
ये दृश्य गन्ध रस स्पर्श शब्द
मेरी ही आत्मा के वितरण!

मेरी प्रतिमूर्ति जगत् अविकल,
विषयों में मैं ही वर्तमान,
इन्द्रिय द्वारों से अपने ही
रस का करता मैं अमृत पान!

पर, अधोमुखी इन्द्रिय पथ से—
कहता मेरा जीवन अनुभव—
ऊपर के भुवनों की शोभा
सुखमय है अधिक, अधिक अभिनव!

मन का रे सच्चा धाम वहीं,
जो बाह्य जगत् से भी वास्तव,
वह सूक्ष्म,—स्थूल से अधिक तृप्ति
उर को देता, नर को गौरव!

छोड़ो न स्थूल को, गहो उसे
रस-सूक्ष्म पकड़ से मानस की—
ये स्थूल सूक्ष्म ज्यों शब्द अर्थ
जिनसे परिणति सम्भव रस की !

अठावन

जो तुम्हें समझना सृष्टि तत्त्व
तो देखो शैशव का स्मित मुख,
भूलो चिन्ता के कीचड़ में
डूबे जीवन के लघु सुख-दुख !

कितना असहाय अबोध उसे
छोड़ा विधि ने जीवन पथ पर
वह मातृ प्रकृति का अमृत पुत्र
उसको अग-जग में किसका डर ?

कैसा निश्छल आनन्द स्रोत
बहता उसके उर के भीतर ?—
कैसी अद्भुत क्रीड़ा लीला,
मोहित पशुओं का भी अन्तर !

स्वर्गिक चेतना तुहिन जल-सी
उसके उर में पावन चंचल,
यह प्रीति तत्त्व की अभिव्यक्ति
जिसकी अंचल छाया कोमल !

कण्टक वन में वह फूल तुल्य
हँसता निःस्पृह, विस्मय पुलकित,—
कृत्रिम भाषाओं से समर्थ
उसके तुतले गोपन इंगित !

विश्वास मुझे, शैशव के हित
जग का विस्तृत आँगन निर्मित,
भू का मल धो, नव शैशव को
चेतना केन्द्र बनना ज्योतित !

शिशु बनना ही रे चरम लक्ष्य,
यह आत्मज्ञान की भी सित स्थिति,
गत अभ्यासों का जीवन रण,—
समरूप चेतना की अथ-इति !

उनसठ

तुम रति सुख को अतिक्रम करती
बहती मन में रस बन झरझर,
पुलकित हो उठते अंग-अंग
कँपता अन्तर आनन्द मुखर !

इस सुख में ही खो जाय न मन
मुझको चलना जग के मग पर,
भू जन का मुख मेरे उर में
जगता जाने क्यों पग-पग पर !

मैं तुमको अर्पित हूँ—तुम जो
जन भू के, जन जग के ईश्वर,
साकार हो सको तुम जग में
अविराम प्रतीक्षा में युग नर !

युग-प्रसव वेदना से पीड़ित
गर्भित तुमसे भीतर अन्तर,
नव मानव को दे सकूँ जन्म
मैं नव जीवन की जन-भू पर !

निज विश्व कार्य से तुम परिचित
तुम जननि जनक, तुम ही शिशु नव,
पद-नत भावी स्वप्नों का शिशु
ढोता जग में बिम्बित गौरव !

साठ

वह नाम सुने, वह नाम गुने,
पर नाम तुम्हारा ही अविजित,
वह अनुच्चरित रस -शब्द
गगन अन्तर में जो निःस्वर गुंजित !

वह प्रतिध्वनित होता उर में
विस्मित चेतस को कर तन्मय,
रोओं से झरते रस निर्झर
जाग्रत समाधि लगती सुखमय !

कितने नामों में जन जग में
होता वह नाम मधुर मुखरित,
शब्दों से वन नव अर्थ
अर्थ से भाव—चेतना में अवसित !

देखे वह रूप सुभग सुन्दर
पर रूप तुम्हारा चिर निरुपम,
प्रतिपल ही वह निज शोभा से
निज शोभा को करता अतिक्रम !

कितने रूपों में जगती की
श्री सुषमा में होता मूर्तित,
तुम परम रूप जन संसृति के
तुम मूर्त अमूर्त स्वतः भासित !

तुम हरित चेतना धरती की
मेरा तन-मन करती मोहित,
नव रूप गढ़ सकूँ जीवन में
जिससे नव मानव हो शासित !

इकसठ

भू रज पर मन लोटा करता
बन जाती रज मुझको पराग,
भू पर मन नहीं, तुम्हीं पर स्थित,
घेरे रहती पद प्रीति आग !
तुम मुझमें, तुममें रहता जग,
मैं जग जीवन का क्षुद्र अंग,
तुमने जो गौरव दिया मुझे
उससे न करूँगा नियम भंग !
स्वप्नों की भाषा में अब तक
करता था तुमको सम्बोधित,—
अब अपने को भी स्वप्नों से
विस्मृत-सा कर लेता वेष्टित !
जब स्पर्श तत्त्व का पाता मन
संसार अधिक ही प्रिय लगता,
वह दृष्टि नहीं मुझको भाई
तुमको पा जीवन से भगता !
तुम हो, निश्चय ही जगती में
वपु कभी हो सकेगा मूर्तित,
तुमको जग में, मानवता में
चाहूँगा देख सकूँ मूर्तित !

बासठ

कल बतलाऊँगा, क्या है वह
जो आत्ममुक्ति का पन्थ सुगम
जो लोकमुक्ति का भी पथ हो
जीवन के भी हो निकट परम !
दी स्वप्न दृष्टि मुझको प्रभु ने
जो जन भावी की सत्य दृष्टि,—
जीवन में रत अन्तस्तल में
होती नित जिसकी स्वर्ण वृष्टि !
नत शिर हूँ द्रष्टाओं के प्रति,
युग ऋषियों को करता प्रणाम,
जग मनीषियों का ऋण स्वीकृत,
उपकृत जिनके प्रति उर प्रकाम !

आस्था का सित रस स्रोत अगम
इनसे गहरा करता मज्जित,
वह बहिरन्तर जग जीवन को
नव गरिमा से करता छादित !

चित् ईश्वरीय, रस सूत्र पकड़,
अब उमड़ प्रकट होता बाहर,
नव मानवीय बन—छलक रहा
वह भर अन्तर-घट, वह झर-झर !

भूमा के अन्तर्गत रहता
जीवन विकास क्रम—जन पोषक,
होगा समग्र में परिणत वह
कवि केवल उसका उद्घोषक !

तिरसठ

आस्था जो हो मन में सच्ची
जग के प्रति निष्ठा बढ़ जाती,
ईश्वर ही की प्रतिमा जग में
विचरण करती-सी दिखलाती !

भव भेद दृष्टि से निर्मित मन
जिससे 'बहु' भू-मन को भाता,
इस बहुता में जो परम एक
उसको पहचान न मन पाता !

किरणों की बटकर तर्क रज्जु
होंगे न सूर्य मणि के दर्शन,
अपने में या जग में डूबो,
हट जायेगा दृग से गुण्ठन !

जो सूक्ष्म सूक्ष्मतम से भी पर
वह महत् स्थूल में भी बाहर,
वह दृष्टि, देखती जो जग ही,
वह दृष्टि, देखती जो ईश्वर !

समझो न पहेली बुझा रहा—
पर सबसे सरल सुगम जो पथ
वह सबसे जटिल अगम भी है
हाँके न सारथी जब तक रथ !

चौंसठ

वह एक मुक्ति—जो तोड़ निखिल
तन-मन के बोध ग्रथित बन्धन
(युग सम्प्रति जिसका उदाहरण !)
उच्छृंखल कर देती जीवन !

वह मुक्ति अपर—जो खोल बुद्धि
मन प्राणों के बन्धन दुर्गम
अर्पित करती उर उसके प्रति
जिसके प्रति पद-नत निगमागम !

आध्यात्मिकता की सूक्ष्म भित्ति
निर्धारित नित करती इह-पर,—
इस पार असत् का भुवन अन्ध
उस पार सत्य का धाम सुघर !
सदसत् विद्याऽविद्या मिलकर
रचते रहस्यमय लोक अमर,
ईश्वर का रस साम्राज्य जहाँ,
जो दोनों में, दोनों से पर !
आस्था की लेकर ज्योति रश्मि
इन्द्रिय अश्वों की जोत सबल,
मन के रथ पर स्थित—पार करो
जन-भू पथ, हो जीवन मंगल !

पैंसठ

अनुभव से ही बात
ज्ञात होती नित सारी,
जीवन का सुख सहज
सरल शीतल होता है !
जाग्रत करता वह मन को—
रस पावनता में
अपने भीतर डूब मनुज
न कभी खोता है !
दुरुपयोग आनन्द का किया
सिद्धों ने वर
सूक्ष्म स्नायु उत्तेजन को
आनन्द समझकर !
शील नम्र होता वह,
सहृदय जग जीवन प्रति,
स्वाभाविकता ही होती
उसकी विशिष्ट गति !

सहज कर्म में रत रहता मन
बिना श्रान्ति में,
इन्द्रिय रस बरसाती स्पर्शी में,
बिना भ्रान्ति में !

मिट जाता कार्पण्य हृदय का—
भू का आँगन
मोहक लगता—निर्मल पावन
तीर्थ स्नात मन!

मनोयन्त्र का एक अंग रे
सहज शान्त सुख,
कहीं उसी में बिम्बित रहता
शाश्वत का मुख!

क्लान्ति सकल मिट गयी
स्पर्श पा सुख का भीतर,
सुलझ समस्या गयी
निकट लगता जग बाहर!

छियासठ

आज सवेरे
समाचार सुनता था जब मैं
चित्र मुकुर में मेरे
नयनों के जग उठतीं
हरी दूब की कोमल रेखाएँ—
आँगन के
पत्थर की स्लेटों की
कृपण दरारों से जो
झाँक-झाँक कर बाहर
सहज निकल आयी थीं—
हरी हँसी में डूबी
लोट-पोट आँगन पर!

मुझसे स्पष्ट स्वरों में वे
कहती जाती थीं—
'हममें जो जीवनी शक्ति
उसको तो देखो!

'तुम सहजन के प्रेमी हो!—
विस्मय में डूबे
सोचा करते—
डालें कटने छँटने पर भी
वह प्रतिवर्ष
नयी शाखाओं में खिल उठता,—
नव फूलों फलियों से
श्री मण्डित हो पुष्कल!
कैसी संजीवनी शक्ति दी
उसको विधि ने!'

"मैं कहती हूँ'—हर्ष हरित
रोम्रों में पुलकित
सहज खिलखिला—बोली दूब,
'मुझे देखो ना !

'पत्थर हो पाषाण—
फूट आती मैं बाहर,
हलकी - फुलकी हरी
तृणावलि में परिधानित !

'लू झड़ अन्धड़ सहकर भी
मुसकाती रहती !
मुझे पाँव के नीचे
यदि कोई कुचले भी
नम्र शील में लिपटी मैं
अपना आहत सिर
ऊँचा कर, साँसों में भर
सद्यःसमीर—फिर जी उठती हूँ !

'सहज स्नेह से बिछकर
पैरों तले जनों के
मृदुल पाँवड़ा बन
जन-जन का स्वागत करती !
न्योछावर रहती हूँ भू पर
स्मित अंचल भर!

'तुम दुर्बलता इसे समझकर
हँस सकते हो!—
क्योंकि बुद्धि की और हृदय की
भाषा अपनी-अपनी होती !

"भू की संजीवनी शक्ति मैं,
लिपटी रहती हूँ धरती से
रज में गुम्फित !—

'फिर अन्तर यह—
सहजन ऊर्ध्वमुखी हो
फलता गगन क्रोड़ में !

मैं समतल गति में भी
चलती पलती रहती !

'मैं कहती हूँ—
भले ताड़ - से ऊँचे हो तुम
अपने गहरे मूल
जमाये रहो धरा में !

'मानवीय दो रूप उसे
संस्कार नया दो—
बने रहो पृथ्वी ही के ही—
उसके आँगन में
जीवन की हँसी बखेरो,—
'देवों पितरों की माता वह,
भगवत् लीला स्थली
सनातन !'......

सड़सठ

जीवन प्रेमी हों जन
मनोगुहा में रहें न खोये,
युग प्रबुद्ध हों,
जीवन के अनुभव में न्हाये-धोये!

जीवन का प्रिय क्षेत्र
धरा की श्री शोभा का आँगन,
हास अश्रु का, तम प्रकाश का
जो स्वर्णिम आलिंगन !

त्रुटियाँ कर हम जग में
सीखें सदसत् का मूल्यांकन,
अधिक योग से रे
प्रयोग का जन धरणी का आँगन !

नयी सफलता की सोपान
बने फिर-फिर असफलता,
आँख मिचौनी खेले मन से
जीवन की चंचलता !

जीवन, प्राणों की सरिता,
जो स्वयं खोज लेती पथ,
कर्म सृष्टि का चतुर सारथी
जग जीवन जिसका रथ !

कर्म करो, दो जन्म कला को,
रचो धरा मुख सुन्दर,
रचना जीवन मंगल वाहक—
पृथक् न जग से ईश्वर !

अड़सठ

आज बड़ी कुण्ठा जीवन में
बड़ी वितृष्णा मन में
विकट शकट जगती का
जन को रौंद रहा क्षण-क्षण में !

घोर विषमता भू जीवन में
पूँजीपति निर्धन में—
खड़े विरल नभ चुम्बी सौध
कुटज असंख्य आँगन में!

बाह्याडम्बर जग का यह
चिन्ता का बने न कारण,
भीतर से जो बदले जन-मन
बदले बाहर जीवन!

क्रान्ति-चरण धर विचरण करते
आज धरा पर प्रभुवर,
आओ, उनके कर-पद बन
हों नव युग हित न्योछावर!

यदि कुबेर निधि प्राप्त—
नहीं ईश्वर संग,—सब कुछ तृणवत्,
यदि प्रभु सँग, सिकता कण भी
सोने में होते परिणत!

बोझ बाह्य सम्पद् मानव हित
हर्म्य विपद् के खँडहर,
अक्षय निधि का कोष हृदय में,
शक्ति स्रोत नर अन्तर!

तुम न अभागे,—निर्धन हो यदि
गहो प्रीति से प्रभु-कर
निखिल वैभवों के स्वामी बन
आत्म - दान दो निर्भर!

उनहत्तर

स्नेह तुम्हारा सदा
सदानीरा - सा बहकर
जीवन की भू को रखता
भावों से उर्वर!

चन्द्रकला - सी नाव रूप की
सुभ्रू - इंगित
पार लगाती भव सागर में
दिखा तीर नित!

कर्म प्रेरणा, सहजोल्लास
हृदय के सहचर
पावन करते दिव्य स्पर्श से
मेरा अन्तर!

पग-पग पर पाता हूँ मैं
अपने को अर्पित,
नहीं जानता, किसे बताऊँ
अपना अर्जित!

अहंहीन नर, दंष्ट्र रहित
मणि फण-सा स्तम्भित
खल जन से पीड़ित,
तुमसे रहता संरक्षित!

सत्तर

जाड़े की प्रिय धूप
सहज लिपटी विटपों से,—
मुझे खेलने को ललचाता
भू प्रांगण!
काँटे उग आये
जन धरणी की छाती में
कब से जाने नहीं निराया
भू का वन!

रूढ़ि रीतियों में युग-युग की
जकड़ा भू-मन,
कंकालों-से खड़े
अन्ध विश्वास घोर,

जाति, सम्प्रदायों, धर्मों ने
जन-भू पंजर
जकड़ लिया!
घन अन्धकार का नहीं छोर!
परिवर्तन की आँधी
दौड़ रही जगती में
नये बीज बोती जो
बंजर जन - मन में!

फूट नये रस अंकुर
कुम्हला जाते असमय
बुद्धि पराजित
विविध विचारों के रण में!

दिशा विविधता की श्री-
शोभा से समलंकृत
काल गर्भ में
ऐक्य धर्मिता संरक्षित!

धैर्य धरो मन, वह युग
आने को अब भू पर
भव स्थितियों से मनुज
उठ सकेगा ऊपर !

इकहत्तर

पशु स्तर पर ही अभी
सभ्यता भू पर जीवित
जो कि भ्रूण हत्या को करती
धिक् विधि-स्वीकृत !

पथरा गया हृदय
युग मानवता का निश्चय,
पशु भी मुझको आज
मनुज से लगते सहृदय !

शिशु के सबसे निकट
सहज शुचिता में ईश्वर,
सृष्टि भ्रूण-अंकुर पर
पग-पग पर न्योछावर !

आध्यात्मिक नैतिक शिक्षा से
जनगण वंचित,
आध्यात्मिकता तुच्छ
कर्म काण्डों में सीमित !

बाहर से ही मनुज सभ्य,
भीतर वह बर्बर,
आन्तर क्रान्ति मनुज को
लानी जनधरणी पर !

सभी मनुष्य समान रीति से
जग में होते,
मानव-वंशी बच्चे
वंश न अपना खोते !

आत्मा का प्रतिनिधि हो
जग का जीवन बाहर,
विचरे धरती पर
संस्कृत नर वेशी ईश्वर !

बहत्तर

मेरा गीत रहेगा
अभी जगत् में अलिखित
सूक्ष्म स्वरों से
बधिर जनों के श्रवण न परिचित !

मेरा प्रेम अतृप्त रहेगा
भू जन के प्रति
हृदय ले सका जन्म न
जिसमें हो निश्छल रति !

मेरा कर्म रहेगा अभी
जगत् में निष्फल,
जन उसका उपभोग कर सकें—
नहीं मनोबल !

कैसे ईश्वर परिक्रमा
कर पायेगी गति ?—
जग में प्रभु को स्वीकृत
कर पायी न मनुज मति !

जहाँ समापन होता
युग के मन का चिन्तन
वहीं झरोखे से उर के
प्रभु देते दर्शन !

तिहत्तर

जाने क्यों आनन्दवाद के
पीछे मोहित
सुख-दुख के जीवन को
सुज्ञ समझते गर्हित !

मैं प्रेमी हूँ, मुझे
प्रेम ही की परिणति नित
लगती है आनन्द, ज्योति में,
शान्ति में प्रमित !

यह छूंछा आनन्द
भुला देता जो जग को,
निर्मित करता नहीं
लोक जीवन के मग को !

रिक्त स्नायविक उत्तेजन यह
लक्ष्य से रहित,
आत्म भाव में लीन—
समग्र बोध से वंचित !

शान्ति ज्योति आनन्द
सत्य आत्मा के निश्चित,
जीवन रचना में करना
जिनको संयोजित !

प्रेमी मधुकर गुंजन भर
मधु छत्र बनाता,
हृदय खोलकर कोयल
मधु ऋतु स्वागत गाता !
वे भी किसी रहस्य—
स्पर्श से होते प्रेरित,
निज उर का आनन्द
जगत् प्रति करते अर्पित !

अतः न ऊपर के वैभव में
साधक हो लय,
जन-भू रचना करे
प्रीति रति रस में तन्मय !

चौहत्तर

नवल युवतियो, आओ,
निज कवि के सँग बैठो,
सहज भाव से उसके
मुक्त हृदय में पैठो !

मुग्धा तुम, धरती की
श्री शोभा की प्रतिनिधि,
रूप-बोध में खोयी,
यौवन-चंचल सब विधि !

नयी भूमिका तुम्हें निभानी
जन-भू मग में,
मनुज सभ्यता नव विकास के
पथ पर जग में !

विश्व मंच यह, जहाँ
प्रसाधन से भी बढ़कर
आन्तर श्री चाहिए—
वही साधन श्रेयस्कर !

तन से श्री सुन्दर तुम
नव यौवन से वेष्टित,
मन की सुन्दरता का मूल्य
अधिक, यह निश्चित !

भू गृहिणी तुम रहीं
स्नेह-गृह में संरक्षित,
जग के सम्मुख तुमको
होना आज उपस्थित !

शील, मन: संस्कारों ही का
मूल्य महत्तर,
अन्त: संस्कृत हो तुमको
संस्कृत करना नर !
मुक्त हृदय से मिलो,
भाव हों अन्तर्दीपित,
स्वस्थ आत्मविश्वास चाहिए
तुम्हें अपरिमित !

जीवन को व्यक्तित्व नया
देना दिग् भास्वर,
भावी जग में तुम
ईश्वर की प्रतिनिधि सुन्दर!

पचहत्तर

आज सवेरे
एक बरस की बच्ची सुमिता
अपने फूलदार गद्दे के ऊपर बैठी
कमरे की गुदगुदी फ़र्श पर—
बार-बार
निज चंचल मृदुल हथेली फैला
और बन्द कर,
पकड़ रही थी तन्मय
हँसमुख स्वच्छ धूप की
प्रिय टुकड़ी को,—
जो जाली की खिड़की से छन
उसके सम्मुख पड़ी हुई थी
चाँदी की गुड़िया-सी उजली,—
चिड़िया की नन्ही बच्ची-सी
अपने रोमिल पंख खोल
उड़ने में अक्षम !
उसकी उस निरीह चेष्टा को
देख अचानक
मैं विस्मय से डूब
हर्ष अभिभूत हो उठा !
यह अबोध चेष्टा थी
या अद्भुत साहस था ?
मन अनजाने लगा सोचने—
क्या हम सब भी
नहीं बाल चेष्टा करते
अज्ञात रूप से—

जो अमूर्त को मूर्त समझकर
बार-बार
उसका विश्लेषण
संश्लेषण कर—

परम सत्य को
अल्प बुद्धि की मुट्ठी में भर
उसे ग्रहण करने का
सतत यत्न करते हैं ?

छिहत्तर

तुम रूप सरोवर हो निर्मल
मैं तीर्थ स्नान जिसमें करता,
भावों के कोमल स्पर्शों से
अकरुण विषाद मन का हरता !

सौन्दर्य तुम्हारा केन्द्रित हो
खिल उठता उर में बन सरसिज,
प्राणों के अलि भरते गुंजन,
गीतों की लय बुनता मनसिज !

अन्तर की मोहित लहरों में
होती असीम की छबि बिम्बित,
मैं कूल तुम्हारा बन जाता
जिसमें अकूल बँधता सीमित !

क्षण में अमूर्त होता मूर्तित
श्री शोभा वैभव में पुष्कल,
अंगों की संगति में ढलकर
तन्मय हो जाता अन्तस्तल !

सतहत्तर

फूलों की सेज नहीं जीवन
रे, ज्ञात मुझे कटु सत्य गहन,
विरला ही काँटा हो जिसने
बेधा हो नहीं सतत तन-मन !

पर फूलों की कोमलता का
रस बोध मुझे देते काँटे,
ऐसा कुछ नहीं कि, विधि निर्मम,
दुख आये मेरे ही बाँटे !

आनन्द स्पर्श से मुझको प्रिय
सुख-दुख का दंश सदा लगता,
मेरे अन्तस्तल में सोया
खोया मानव उससे जगता !

मानव की ममता कहीं अधिक
सुख-दुख की क्षमता से निश्चय,
यदि हो अन्तर में सूक्ष्म दृष्टि
जीवन-ईश्वर लगता सहृदय!

जो सुख जग जीवन की भू पर
वह नहीं रिक्त मन के ऊपर,
मत वाष्प बने अटको नभ में
बरसो रस सीकर बन भू पर!

अठहत्तर

अन्तर-नभ से मैं जीवन की
भू पर आया हूँ सहज उतर,
सुरधनुभृत वाष्पों के जग से
शस्यस्मित रज पर मुक्त विचर!

जन भू का सीमित हरा क्षितिज
मन को देता हँस आलिंगन,
अब रंग गन्ध, कलि कुसुम नवल
रँगते मन, सुरभित करते तन!

श्रम स्वेद हृदय को प्रिय लगते
सित कर्म पंक में सनता मन,
जीवन के अभिनव अनुभव से
लगता असीम घर का आँगन!

आश्वस्त हृदय, नव पीढ़ी में
मेरा अमरत्व सतत मूर्तित,
उनके नव जीवन यौवन में
मेरा मैं जग में संरक्षित!

मैं बनकर आये तुम मुझमें
मैं समझ सका था मर्म नहीं,
अनुरूप तुम्हारे बनकर अब
भोगूँ ईश्वर सम्भूति यहीं!

उन्यासी

छनकर गवाक्ष से प्रथम किरण
मेरा स्वागत करती सहर्ष,
मधु वायु लिपट जाती तन से
कह, मंगलमय हो नया वर्ष!
मैं अधिक जगत् के निकट आज
जग मेरे अधिक निकट निश्चय,
मिट गया हृदय का दैन्य द्वन्द्व,
अब रहा न मन में भय संशय!

सित प्रीति करों से सृष्टि रचित
जीवन पदार्थ जन मंगलप्रद,
सुख-दुख के भव संघर्षों में
अन्तर्हित प्रभु की रस सम्पद् !
जो दें, उससे सन्तोष न हो,
जो लें, उससे पा परम तोष,—
हमको अपूर्ण यदि लगे सृष्टि
अपने ही को दें पूर्ण दोष !

आओ, मन की कुण्ठा छोड़ें,
देखें उन्मुक्त जगत् का मुख,
नीला नभ निरख हरी धरती
भोगें प्रभु की सत्ता का सुख !

अस्सी

आओ, देखें शिशुओं का मुख,
लूटें प्रिय वन-फूलों का सुख,
सन्तुलित चित्त जब हो मानव
तब दूर करे वह जग का दुख !

करवट लेती जब एक लहर
हिल्लोलित हो उठता सागर,
सुख-दुख न व्यक्ति के भिन्न कभी
जग से,—दोनों युगपत् निर्भर !

अब गया व्यक्ति चिन्तन का युग
श्रेयस्कर सामूहिक मन्थन,
जीवन विकास पथ पर, क्रमशः
आ रहा वृहद् युग परिवर्तन !

पकड़ो जीवन की बागडोर
जग का विकास हो पग-पग पर,
भूमा—सामूहिक जीवन—पर
जन हास अश्रु, निज-पर निर्भर !

नव दृष्टि मिले युग मानव को
दुर्बल कुण्ठित उर को सम्बल,
प्रभु पृथक् न विश्व प्रगति पथ से
भव कर्म करो, हो भू मंगल !

इक्यासी

श्रम स्वेद मनुज काया के गुण,
श्रमहीन रहे जो मन, उत्तम !
मन हो प्रकाश स्मित, झेल सके
वह बाह्य जगत् जीवन का तम !

तम ज्योति भ्रातृ भगिनी निश्चय,
दोनों ही चिर पावन सुन्दर,
छूछा वह ईश्वर, जो केवल
ज्योतिर्मय,—नहीं तिमिर सहचर!

तम औ' प्रकाश के स्वामी जो
मेरा उर उनका चिर अनुचर
तम औ' प्रकाश के सित स्वर्णिम
संयोजन का प्रेमी अन्तर!

जीवन रे जग की निधि जनप्रिय
यदि जन ईश्वर पर अवलम्बित,
तम रथ, प्रकाश सारथि बनकर
पथ पार करें उनका निश्चित!

प्रिय रूप जगत ही सत्य मुझे
शाश्वत अरूप जिसका दर्पण,
निर्गुण अमूर्त में भी मुझको
मिलते स्वरूप ही के दर्शन!

बयासी

जिनको प्यारा भू-जीवन
मन उनको देता आदर,
जो कुछ जीवन दे, नत सिर
स्वीकार करें उसका वर!

भंगुर रूप, अमर गुण जिसमें,
यह जीवन जगदीश्वर,
व्याप्त चराचर में जन मादन
मन मोहन मुरली स्वर!

आओ, मिल जग के आँगन में
फूलों के संग खेलें,
उड़े विहग पंखों पर मन,
अन्धड़ दिशि-दिशि के झेलें!

भरी हलाहल के प्याले में
मधुर सुधा जीवन की
मदिरा की मादकता, सर्जन-
क्षमता नव यौवन की!

धूपछाँह जिसमें स्वप्नों का
वास्तवता का गुम्फन,
मानवता को स्वर्ग करो
निर्माण, न हो हे कुण्ठित!

तिरासी

नाम धाम का भले न हो
गौरव, जीवन साधारण,
हृदय आत्म सन्तुष्ट रहे,
छोटा घर, छोटा आँगन !

जीवन प्रति हो आकर्षण,
भव कर्म निरत हो तन-मन,
फूल खगों से सहज स्नेह
हँसता-सा हो गृह उपवन !

जीवन की गति-विधि में रस ले
उच्च अभीप्सा रत मन,
आशान्वित उर सुख स्वप्नों का
क्रीड़ास्थल हो प्रतिक्षण !

सुहृद एक दो हों अभिन्न,
सम भाव शत्रुओं के प्रति,
द्वेषी जन के प्रति उदार मन,
ईश्वर दे ऐसी मति !

सम्भव हो तो, कला साधना में
दीक्षित हो अन्तर
जन-भू स्वर्ग रचे मंगलमय
सार्थक जीवन हो, नर !

चौरासी

सौ-सौ आँखों से देख रहा
मुझको ताराओं का अम्बर
भावी स्वप्नों के अंकुर-से
जो लगते मुझको दिग् भास्वर !

नभ के आँगन की दीपावलि
देदीप्य चेतना जो करती
मैं उससे परिचित हूँ कब से
वह मेरा जीवन-तम हरती !

ताराओं के नभ से मुझको
फूलों की भू लगती सुन्दर,
तारे रहस्यमय हैं अवश्य,
पर फूल जनों के प्रिय सहचर !

रवि शशि, तारों दीपों ही में
आलोक नहीं केवल द्योतित,
फूलों के रंगों, मानव के
स्वच्छ अंगों में भी वह दीपित !

आलोकों का आलोक एक
जो नहीं ज्योतिमय या तममय,—
वह अभिव्यक्त जग में समस्त,
वह रचना प्रिय, न मुझे संशय !

पचासी

जो देश गरलवत् गत युग के
उनसे हमको लड़ना न कभी,
उनको करना नित आत्मसात्
हम हो सकते दिग्जयी तभी !

जो रे समर्थ, जो शक्तिमान
उनकी न विजय जग में निश्चय
जन इच्छा, जन संकल्प शक्ति
सर्वोपरि अस्त्र—नहीं संशय !

सम्भव, अणु अस्त्रों से भू की
भित्तियाँ टूट जायें दुर्जय,
रस स्पर्श तुम्हारा पाकर ही
सम्भव भू-रचना निःसंशय !

अणु अस्त्रों के दारुण युग में
अब असुर शक्ति हो चुकी विजित,
सद्भावों से, सद्यत्नों से
भू की भावी होगी शासित !

रस अमृत मेघ अभिनव जीवन,
रण अस्त्र नहीं उसके साधन,
जन रक्तपात से वह अजस्र
पंकिल न करेगा भू-प्रांगण !

उसके साधन हैं दया क्षमा
वह मनुज-प्रेम का आराधक,
कटु राग द्वेष, शत्रुता समर
उसके रचना-पथ के बाधक !

जन सामूहिक संकल्प करें
कर घृणा द्वेष भय का वर्जन,
नखशिख निर्माण करें जग का—
जो वास्तव में प्रभु का पूजन !

छियासी

गूँथ चुका प्रिय वेणी कितनी बार
गन्ध मधु के सुमनों से—
मूर्ति गढ़ चुका हूँ सुकुमार
मधुर स्वर्गिक कल्पना क्षणों से !

पहना चुका सुरभि के हार
सँजो वक्षः स्थल,
लतिका के कंगन
कलियों की गुंजित पायल !—
भावों से शृंगार तुम्हारा
करता आया प्रतिक्षण,
सुरँग कुसुम जिनके प्रतीक-भर
रहे अकिंचन !

कितनी कोमल हो तुम
कोमलता से कोमल,
कितनी निरुपम, पावन,—
निखिल विश्व में व्याप्त अनिर्वच
शोभा छू लेती मन !

बन भावी प्रेयसी
मनुज की, हृदय चेतने,
करो उपस्थिति से
उपकृत भू प्रांगण !

सत्तासी

देख रहा हूँ एक बृहत् शव जीवन के आँगन में,
भौतिकता के यत्नों से संरक्षित अपनेपन में !
जड़ अतीत के भावों, वचनों, कर्मों का वह प्रतिनिधि,—
वही जीर्ण मृत रूढ़ि रीतियाँ परम्पराएँ, गतिविधि !

बदल गया उसका गत स्मारक सौध गगनचुम्बी बन,
बाहर के परिवेश शेष में भी आया परिवर्तन !
दिखता वह अब भी जीवित-सा, उर स्पन्दन से विरहित,
जन जीवी आकाश बेलि-सा मन प्राणों में गुम्फित !
मृत्यु - दृष्टि से उसकी जगती का जीवन सम्मोहित,
विकसित हो पाता न रंच गत भय संशय से पीड़ित !
समय आ गया, देवासुर मिल करें सिन्धु मन्थन नव
नव मूल्यों के रत्नों से मण्डित निखरे नव मानव !

जीवित हो जो जग के प्रति, जन के प्रति हो उर स्पन्दित,
गत सदसत् को अतिक्रम कर नव करे सभ्यता निर्मित !

युग प्रबुद्ध नर, विचर सके जो ईश्वर के सँग भू पर,
शव का कर संस्कार रचे परिवेश जगत का सुन्दर !
मत अतीत शव को ढो हे, देखो भविष्य का आनन,
धरा - स्वर्ग रचना प्रतीक हो वर्तमान का प्रांगण !

अठासी

आत्म बोध कर प्राप्त
पहुँचकर सत्य शिखर पर
क्यों भारत का जीवन प्रांगण
जर्जर खण्डहर?

दुःख दैन्य से दंशित
घोर अविद्या पीड़ित
भू के बर्बर हिंस्र जनों से
शोषित, शासित!—

कभी प्रश्न पूछता
विकल होकर मेरा मन
क्यों खोया भारत ने
बहिरन्तर संयोजन?—

द्रष्टा के गौरव से
होकर आभा-मण्डित
उसको होना था सम्पन्न,
अजेय, अखण्डित!

उत्तर देता तव निगूढ़
चिन्तन रत अन्तर
भारत भारत नहीं,
अपृथक् विश्व - अंग - भर!

भारत का संघर्ष
विश्व - संघर्ष असंशय,
उसको पाना निखिल
धरा की जड़ता पर जय!

निश्चेतन के अन्धकार का
पर्वत जीवन
आलोकित करना उसको
धरती का कण - कण!

जब तक हटे न घृणा द्वेष
स्पर्धा भू - मन से
तब तक स्वर्ग बसा सकते
जन भौतिक धन से?

भू के प्राणों के जीवन को
होना संस्कृत,—
जाने कितने युग बीते
हो सका न इच्छित!

जब तक अवचेतन कर्दम से
उठे नहीं नर
आध्यात्मिकता हो सकती
चरितार्थ न भू पर !
पर अप्रतिहत जीवन की
चेतना
कानों में अनजान—
कहती—
नर होगा स्नेही सहृदय !
आभा - रत
कटेगा जन-भू भारत का तम,
धरती का - सा धैर्य चाहिए,
अविरत तप श्रम !

नवासी

बोल रही पहिली कोयल
तरु की डाली से—
स्वागत, स्वागत !
बौरा उठी नयी अमराई !—
सोने चाँदी की छायाएँ
तिरती वन में,
नयी चेतना, नयी भावना
भू पर छायी !
नव वसन्त प्रेरणा-दूत
तरुओं के जग का,
लता कुंज तृण गुल्म
सभी मधु-मद से पागल !
मलय समीरण की सौरभ से
मत्त दिशाएँ
सोया पतझर जाग उठा
बन जीवन - मांसल !
पृथक् कभी भी नहीं
जगत् में प्राक्तन नूतन,
नये सदा से प्रातः सन्ध्या,
शैशव यौवन !
आत्मा का आगरन
भोगते तन मन जीवन—
नित नवीन क्षण आते
चादनत से गर्भित क्षण !

लोग फलों के प्रेमी,
आम फलों का नृप भी,
आम्र वनों में छायी अब
पीताभ ललाई !—

कलाकार, मधुवन का कवि पिक,
उसको भाती
धरती की मंजरित
सुगन्ध मदिर तरुणाई !

नब्बे

कितने कोमल हो तुम
कोमलता से कोमल
स्मरण तुम्हारा आते
खिल उठता अन्तस्तल !

मृदुल मृदुलतम हृदय
वज्र संकल्प असंशय,
इच्छा कर लेने से ही
तुम पा जाते जय !

निर्मम से निर्मम भी
मार न सकता निश्चय
कोमलतम जन को
जो सच्चा स्नेही, सहृदय !

यह मेरे अर्पित जीवन का
जग में अनुभव
जहाँ ग्राह मुँह वाये—
बाहर से बन मानव !

काली से भी काली
छाया के छूने पर
भय से विचलित
होने दिया न तुमने क्षण-भर !

तुम ही जैसे चुपके
मेरा हाथ पकड़कर
सदसत् का गुण-भेद
बताते रहे निरन्तर !

अब भी, जब तुम आते
तन-मन को कर तन्मय—
अवचनीय कोमलता में
उर हो जाता लय !

इक्यानवे

पग-पग पर आनन्द
जो दिया तुमने जग में
सुख-दुख के भावों में जिसको
मानव अन्तर अनुभव करता !

वे ही केवल दुःखी हैं जो
तुम्हें भूलकर
गले - गले डूबे हैं
धरती की कीचड़ में—

स्पर्श तुम्हारा पाकर जो
पंकज शोभा में
खिल उठती, मन्तुलित दलों में
जग जीवन के !

वे ही विध्वंसक भी हैं
जो देश काल के
दुसह बोझ को ओढ़े
अपने ऊपर जग में
वहिर्विभव को
संचय करने में रत
अगणित लोभ करों से !—
भूल दिव्य सम्पद
शत-शत स्वार्थों से कवलित !

धरा स्वर्ग का निर्माता
होगा वह मानव
देश काल से उठकर जो
तुममें स्थित रहकर
जीवन का निर्माण करेगा—
सुख - दुःखों में
सुख - दुःखों से ऊपर !

व्यक्ति सुसभ्य समाज के लिए
यही समर्पित पथ
श्रेयस्कर,
विश्व के लिए !

बयानबे

पापी नहीं जगत में कोई!—
यह दायित्व नहीं मनुष्य का
उसके भीतर
काम क्रोध की, लोभ मोह की
प्रवृत्तियाँ हैं!—
विश्व प्रकृति ही इनकी जननी!
सबका ही उपयोग
जगत के क्रम विकास में!

मानव से आशा की जाती
सदुपयोग वह करे
वृत्तियों का जीवन में!
उसकी स्थितियाँ
इस सबमें बाधक हो सकतीं!
अतः क्षम्य उसकी दुर्बलता,
मानवीय जो!

मुक्त हृदय वह रहे
कर्म फल छोड़ जगत् के
स्रष्टा पर, जीवन ईश्वर पर!
शिव से शिवतर हो उसका पथ—
मूल्य सृष्टि क्रम में होता
प्रत्येक चरण
प्रत्येक कर्म का!

तिरानबे

बहुत दुःख झेला अह,
भारत की नारी ने!
एक तरह से निखिल विश्व में
सब देशों की नारि जाति ने!
बन्दी उसका जीवन,
तन - मन,
बन्दी उसकी आत्मा
नर के काम पाश में!

स्त्री गंगा है!
नाले भी मिल जायें उसमें
वह पवित्र, निर्मल ही रहती!
मा है वह!

नया सन्तुलन आज चाहिए
स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों में—
काम द्वेष से मुक्त हो मनुज,
मुक्त हो धरा!

स्त्री व्यतीत कर सके
मुक्त जीवन—
पुरुषों की
तप्त लालसा के दंशन से
संरक्षित हो !

रचे नया मानव अन्तस वह,
क्षुद्र वासना
शुद्ध प्रीति रस में
परिणत हो !

स्त्री मस्तक हो उच्च,
मुक्त वैधव्य चिह्न से !
चन्द्र कला - सी
वह नवीन ही रहे नित्य प्रति,
स्निग्ध प्रीति ज्योत्स्ना बरसाती
शुष्क हृदय में !

श्री सुषमा की
प्रीति मधुरिमा की
प्रतिनिधि वह
जन धरणी पर !

सभ्य न हो सकता समाज वह
जिसमें नारी मुक्त न हो !—
कर्दम से ऊपर
अपनी ही सुन्दरता में
निखरी सरोज - सी !

चौरानबे

दर्शन ने युग-युग से
अस्वीकार ही किया
जीवन को !—
चेतस के मूल्यों को विकसित कर !

हम केवल मन के मन के
मूल्यों से रहते !
जीवन के प्रति आशंकित,
सन्त्रस्त, विरागी !

जीवन के मन को हमको
विकसित करना है !—

जो समस्त जीवन के
क्रिया - कलापों को फिर
स्वीकृत कर,
उनका मूल्यांकन कर
प्रवृत्ति की मुक्त दृष्टि से
निखिल इन्द्रियों के वैभव को
नया मूल्य दे !—

जिससे मानव मुक्त रूप से
जीवन का उपभोग कर सके
नव समाज रच !—
गत विरक्ति, निर्वेदों के
कण्टक उखाड़कर
जीवन - भू से !—

मन का नव संस्कार करे
जीवन के स्तर पर !
इन्द्रिय हों ईश्वर की प्रतिनिधि,
संस्कृत जीवन,
धरा स्वर्ग नव गढ़े मनुज !
उर सिंहासन पर
स्थापित कर जीवन-सम्राट्
पूर्ण गौरव में !

दर्शन के आक्रमणों से
रक्षा कर जन की !

पचानबे

स्वप्नों की शय्या पर
सोये भाव हृदय के
खोज रहे स्वर शब्द
व्यक्त कर सकें तुम्हें जो—

मन्त्र गुंजरित नीड़
बसा नव सकें तुम्हारा
मनुज हृदय में !
उसे प्रेरणा पंखों पर
प्रेरित करने को
आतुर हो !
प्रिय भाव,
धैर्य रखना सीखो तुम,
बन्द द्वार अब मानव मन के—
घोर अँधेरा छाया भीतर !

जुगनू - सी जो स्फूर्ति
जाग उठती क्षण - भर को
वह निःशब्द महान्धकार में
लय हो जाती !

दीप्त करो अपने को समधिक
प्रथम किरण बन शुभ्र सुनहली
वेधो तम की दृढ़ प्राचीरें—
स्वप्न
भंग हो मन का !

स्वयं गा उठेगा वह
चिन्मय रश्मि स्पर्श से
प्रथम विहग शिशु - सा
पुलकित हो !—
मातृ क्रोड़ में जगकर
जग के नये क्षितिज में !

नवोल्लास के कलरव से
भर जायेगी दिशि,
अन्तर का उन्मुक्त नील
पंखों की गति से
आन्दोलित हो
उतर पड़ेगा जन-भू पथ पर !
नये शब्द को
तभी जन्म दे पाओगे तुम !

छियानवे

मेरे मन,
सर्जना करो,
सर्जना करो तुम,
जीवन ईश्वर के प्रति
अपने को अर्पित कर !
ज्योति, प्रीति, आनन्द इसी में
शान्ति इसी में !

सारथि-भर मन जीवन-नृप का
जिसके संकेतों पर ही वह
कर्म चक्र संचालित करता
निर्धारित कर लक्ष्य की दिशा !
यह निगूढ़ गोपन पद्धति
भूपति जीवन की !

वन्दी नर
गत अभ्यासों के
पथराये मानस पिंजर में,—
पंख कट गये उसके
रस प्रेरणा बोध के !
रूढ़ि रीतियों की जड़ता में
जकड़ गया वह
निःस्पन्दित
पथराये शव - सा !
मन से सर्जित
कृत्रिम स्थिर
संकीर्ण लोक में
विचरण कर नित

भूल गया निश्चय ही वह
ईश्वर के जग को,
विश्व प्रकृति के प्रांगण में जो
व्याप्त आक्षितिज !—
राग द्वेष स्पर्धा विरहित,
निष्कलुष, नित्य नव !

अपने ही अन्तर नियमों से
परिचालित जो
मौन प्रतीक्षा करता—
मानव जागे उसमें
श्री शोभा आनन्द प्रेम की
रचना में रत !

सतानवे

भीतर का मन ही
वास्तव में मन है सच्चा,
उसे हमें आश्वस्त प्रथम
करना होता है !
वही सत्य के प्रति भी
निर्णय ले सकता है—
बाहर का मन
वस्तु जगत् का मन है केवल !
बाहर के जीवन में उलझा !
उसका ज्ञान
अधूरा ही होता,—
वह हाँ-ना
कहने में असमर्थ,
—सत्य का प्रश्न जहाँ है !

वस्तु मनस पर
भाव मनस की
छाया रहती अनजाने ही !
शुद्ध भाव मन
यदि वह पूर्ण समर्पित है
सच्चा निर्देशन कर सकता है
सत्य मृषा का !
ठीक दिशा दिखला सकता
जीवन यात्री को !

वस्तु बोध
केवल सूचना मनुज को देता,—
वह शुभ हो या अशुभ !

भाव मन
शिव का बोध
हृदय को देता !

अतः भाव मन के विकास को
मनुज प्राथमिकता दे—
पूर्ण तभी होता नर
जब वह
ईश्वर के प्रति अर्पित होता,
उसमें ही स्थित !

अठानवे

जीवन के गुण गायें
चाहे मन आत्मा के—
आस्था बिना नहीं सार्थकता
जग में इनकी !

रिक्त अनास्था
संशय त्रास व्यक्त करते जो
कला शिल्प में—
वे भी आस्था रखते
मैं कह सकता निश्चय !

बाहर से वे भले
सुज्ञ बौद्धिक बनने का
अभिनय कर
जग के मायावी रंगमंच पर
अपने को ऊपर दिखलायें
इन सबसे ही !—

क्षण - भर को भी कोई
आस्था रहित जगत में
रह सकने का दम्भ
नहीं भर सकता !—
आस्था
भले स्वयं पर हो,
अथवा अपनी स्थिति पर हो !
ऐसे भी हैं जो
अपने को जग के सम्मुख
नास्तिक बतला—
घर के भीतर
शीश नवाते रहते प्रतिक्षण
अनगिन देवी देवों के
चरणों पर अविरत !—
यह जो भी हो !
आनेवाला युग
आस्था ही का युग होगा !—
यन्त्र सभ्यता जब
बालू की भित्ति की तरह
नष्ट - भ्रष्ट होने को होगी—
अणु अस्त्रों से नहीं,
मनुज के अहंकार से—
उसके उर के अन्धकार से !
(मुझे सहज विश्वास
न आयेगी ऐसी स्थिति !)
मानव मन ऊपर के
सूक्ष्म सबल दबाव से
आस्थावान स्वयं बन जायेगा !—
जन-भू पर
वही मात्र
ईश्वर का प्रतिनिधित्व
बन सकता है !

निन्यानबे

गंगा यमुनी युग अब
विचर रहा धरती पर,
प्राक्तन नूतन बहते
गुंथे एक वेणी में,
सामूहिकता एक ओर
व्यक्तित्व दूसरी
ओर, शनैः चढ़ते युगपत्
जीवन श्रेणी पर !

विघटित होता गत युग का
जीवन मन धीरे,
अन्धकार गहरा ही
घिरता जाता प्रतिक्षण,
गहन तमस को चीर
फूट-सी रही नव किरण,
नव युग बोध, विकास
बढ़ाते मन्द गति चरण !

वह अतीत के अन्धकार के
साथ धरा जन,
कुछ नवीन का स्वागत
करने को अब तत्पर !
एक ओर पर्वताकार
अभ्यास युगों के
सूक्ष्म दूसरी ओर
चेतना धार क्षीणतर !
आओ, बैठो कवि के सँग,
भावी नारी नर,
नया क्षितिज जो खुलता
ज्योति द्रवित दृग सम्मुख
तीर्थ स्नान कर उसके
रस आलोक में मधुर
नव भू जीवन रचना के प्रति
हों हम उन्मुख !

श्वेत पंख फैलाये
समता छायी भू पर
गुण वैशिष्ट्य
सहस्रों वर्णों में दिग् शोभित,
मानवीय एकता महत्
जन समता से जो
भू मानस को प्रज्ञा से
करती आलोकित !

अश्रु स्वेद में सन आओ,
श्रम तप साधन से
भू जीवन को करें
स्वर्ग जीवन में परिणत,
हम धरती के पुत्र
करें मा का संरक्षण,
अन्तः केन्द्रित,
जीवन ईश्वर के सम्मुख नत !

सौ

आज प्राविधिक कौशल के
वैज्ञानिक युग में
निर्धनता ही नहीं
सम्पदा की काष्टा भी
बना रही जीवन को
क्षुब्ध, अशान्त, असंयत !

हिप्पी बनते युवक,
सनैतिक—प्रौढ़ स्वार्थ रत,
बहु वैभव सम्पन्न राष्ट्र
करते प्रयोग अब
अपनियमों पर—
सामूहिक सम्भोग कर्म पर !

वस्तु जगत के बोध से दबी
आन्दोलित अब मानव आत्मा,
युवकों की पीढ़ी विद्रोही
निखिल विश्व में !
सत्य मात्र विद्रोह
मात्र विद्रोह के लिए !
कला आज विद्रोह कर रही
शिल्प जगत् विद्रोह कर रहा
गीति, काव्य, साहित्य समीक्षा
विद्रोही गत संस्कृति के प्रति !
क्या कहते वे ?
यही, हमें सन्तोष नहीं
जो कुछ है उससे !—
यान्त्रिकता से मर्दित
क्रूर व्यवस्था
चबा रही मानव को !
असन्तोष मथता अविराम
हृदय को जन के !

व्यक्ति समाज
पृथक् धाराओं में अब बहते,
संकट घोर मनुष्य चेतना में छाया है
निखिल विश्व में !
क्या उपाय हो इसका ?
वस्तु जगत का पूजन
छोड़ मनुज,
अपने अन्तर में
केन्द्र सत्य का खोजे !—
रस, आनन्द, प्रेम का !—
मनुज सत्य जो !

कृत्रिम जड़ में रहना छोड़—
बाह्य नर मन ने
जिसको प्रसरित किया—
प्रकृति के
ईश्वर के जग में रहना सीखे
भविष्य में !
यही दृष्टि भारत की रही
जगत् जीवन
भोगे नर भू जीवन प्रति !
अन्त: केन्द्रित
भाव बोध रहकर !
भगवत् संकेतों से चालित हो !
अर्पित हो तन - मन
समग्र के प्रति
भूमा प्रति !
अन्त:स्थित ही
उपभोग कर सकता
विश्व का !

एक सौ एक

जय बाङ्ला ! बीसवीं सदी में
तुमने जो भोगा झेला
दूसरा
उसका भू इतिहास में नहीं ! निदर्शन
सम्भव, बर्बर युग में पहिले
जब असभ्य था मनुज
प्रखर नख दंष्ट्रा हिंसक
मारे काटे हों लाखों जन
सब नर पशु ने
रक्त चूसकर उनका जी-भर !

राग द्वेष वश, लोभ क्रोध वश
खाल उधेड़ी हो निरीह की,—
अन्ध काम वश
बलात्कार कर टूटा हो वह
पीन स्तनी
नग्न जघनों वाली वन्या पर—
रति की भूखी !

चंचल मृग नयनी
स्वाभाविक अंग भंगि से
कामोन्मत्त बना देती हो
तव वनचर को !

सामूहिक संहार,
आसुरी अत्याचार
नहीं सम्भवतः तब ऐसा हो हुआ,
क्रूर चिंगेज, असुर हिटलर का स्मरण
दिलाता जो अब !
बाङ्ला जन ने जिसे
खून की तिक्त घूंट
आँसू पी - पीकर सहा
विवश हो !
दारुण बलि वेदी पर
सौ - सौ शीश चढ़ाकर
अत्याचारी के सम्मुख !

रुण्ड-मुण्ड, नर अस्थि पंजरों से
बाङ्ला भू
अभी पटी है !
गीताएँ, राधाएँ
मुग्धाएँ, श्यामाएँ
गर्भवती हैं,

लोक लाज में लिपटीं गर्हित
अनचाहे बच्चों की माँ बन !—
र से लुण्ठित
नक जन
उन्होंने
कोमल
नोंक

मनुज क्रम पद्मा
गर्जन
खोले
शत -
के !
क्रोधित
सद्यः
पावक
लिपटी
ज्वालामुखी
अन्ध

शान्तं पापं ! शान्तं तापं !
मुक्त हुए
मुक्ति वाहिनी तुम
भारत के रण कौशल के
साहस, शौर्य, पराक्रम, बल से !

सफल हो सका
कृच्छ्र वज्र संकल्प
तुम्हारे वीर जनों का !
दिया आत्मबलिदान जिन्होंने
कष्ट झेलकर
दारुण भीषण नरक लोक का !

सामूहिक संकल्प अजेय !
झुकेगा उसके सम्मुख निश्चय
क्रूर आततायी सदैव—
यदि सत्य निष्ठ हो !
वह बाङ्ला भू,
वियतनाम हो !
सामूहिक संकल्प
लौह प्राचीर बना—
जिसने कि निहत्थे
बाल वृद्ध तरुणों को
प्रेरित किया—
अस्त्र शस्त्रों से सज्जित
आसुर अरि को
ध्वस्त पराजित करने—
उसका मान भंग कर !

एक लक्ष अरि-योद्धाओं ने
आत्म समर्पण किया
नवा निज मस्तक
जनता काली के सम्मुख,
शरणागत बनकर जन का !
और खून की घूंट स्वयं पी
तुमने उनको
अभय दान देकर
निरस्त्र कर दिया उसी क्षण !

भारत ने सहृदय प्रबुद्ध
प्रतिवेशी की भूमिका निबाही
साथ सत्य का दे जन-मन के !
पृष्ठ - भूमि भर यह
है सोने की बाङ्ला भू !
समारम्भ भर
मानवता के नये युद्ध का !

चंचल मृग नयनी
स्वाभाविक अंग भंगि से
कामोन्मत्त बना देती हो
तब वनचर को !

सामूहिक संहार,
आसुरी अत्याचार
नहीं सम्भवतः तब ऐसा हो हुआ,
क्रूर चिंगेज, असुर हिटलर का स्मरण
दिलाता जो अब !
बाङ्ला जन ने जिसे
खून की तिक्त घूंट
आँसू पी - पीकर सहा
विवश हो !
दारुण बलि वेदी पर
सौ - सौ शीश चढ़ाकर
अत्याचारी के सम्मुख !

रुण्ड-मुण्ड, नर अस्थि पंजरों से
बाङ्ला भू
अभी पटी है !
गीताएँ, राधाएँ
मुग्धाएँ, श्यामाएँ
गर्भवती हैं,

लोक लाज में लिपटी गर्हित
अनचाहे बच्चों की माँ बन ! —
पद प्रहार से लुण्ठित
कामुक सैनिक जन के,
भोग जिन्होंने उन्हें
काट डाले कोमल स्तन,
बच्चों को ऊपर उछालकर
वेध प्रखर संगीन नोंक से !

मनुज रक्त से रक्तिम पद्मा
गर्जन भरती
शत - शत फेनिल फन खोले
क्रोधित लहरों के !
सद्यः शोणित धारा
शस्यश्यामला भू पर
पावक की लपटों - सी
लिपटी लगती भीषण !
ज्वालामुखी फटा हो जैसे
अन्ध क्रोध का !

शान्तं पापं ! शान्तं तापं !
मुक्त हुए तुम
मुक्ति वाहिनी के
भारत के रण कौशल से,
साहस, शौर्य, पराक्रम, बल से !

सफल हो सका
कृच्छ् वज्र संकल्प
तुम्हारे वीर जनों का !
दिया आत्मबलिदान जिन्होंने
कष्ट झेलकर
दारुण भीपण नरक लोक का !

सामूहिक संकल्प अजेय !
झुकेगा उसके सम्मुख निश्चय
क्रूर आततायी सदैव—
यदि सत्य निष्ठ हो !
वृहु बाङ्ला
वियतनाम भू,
सामूहिक हो !
लौह प्राचीर संकल्प
जिसने बना—
बाल कि निहत्थे
वृद्ध तरुणों को
प्रेरित किया—
अस्त्र शस्त्रों से सज्जित
आसुर अरि को
ध्वस्त पराजित करने—
उसका मान भंग कर !

एक लक्ष अरि-योद्धाओं ने
आत्म समर्पण किया
नवा निज मस्तक
जनता काली के सम्मुख,
शरणागत बनकर जन का !
और खून की घूंट स्वयं पी
तुमने उनको
अभय दान देकर
निरस्त्र कर दिया उसी क्षण !

भारत ने सहृदय प्रबुद्ध
प्रतिवेशी की भूमिका निवाही
साथ सत्य का दे जन-मन के !
पृष्ठ - भूमि भर यह
हे सोने की बाङ्ला भू !
समारम्भ भर
मानवता के नये युद्ध का !

जैसी जन मानवता
तुम निर्माण करोगे
साक्षी होगी वही
तुम्हारी दूर दृष्टि की!

कैडमस ने भू पर बोये थे
दाँत सर्प के,
सेना क्रूर उगायी उनसे!
रुण्ड मुण्ड बोये जन ने
निज बाङ्ला भू पर!—
उनसे सहृदय मनुज उगाओ!
भूलो बीती को,—
यह घोर विवर्तन का युग!

गूँजें फिर मछुओं के स्वर
नदियों नावों पर,
फूटे खेतों में
शस्य श्यामल तरुणाई!

किलकारी मारे नव जीवन
भू प्रांगण में,
फूसों की कुटियों के भीतर
पोषित, रक्षित!
और, आधुनिक यन्त्रों के
स्पन्दन कम्पन से
बढ़ें नये उद्योग—
देश सम्पन्न बने फिर!

महाक्रान्ति आ रही गरजती,
जन धरणी के
पाप ताप सन्तापों का
करने विनाश सब!

पुनः महाभारत में जन
बँट दो शिविरों में
लोक सत्य के, लोक न्याय के
लिए
युद्ध के कटिबद्ध!
खड़े हुए

महा संक्रान्ति काल यह,
एक हाथ में अमृत
दूसरे में दिग् दाहक
अणु बम लिये हुए जो!

हम हैं अमृत कलशधर युग के,
अतः शान्ति से, साहस से,
धीरज, विवेक से
जन भू रचना
नव मानवता की रचना में
कर्म निरत हम रहें!
अमृत छिड़कें अणुबम से
आहत मनुष्यता के उर में! —
भस्मासुर अपने ही सिर पर
स्वयं हाथ रख
भस्मीभूत मरेगा—
यह नव युग का निर्णय,
यही मनुज की भावी!
शुभ के साथ रहें हम,
आसुर शक्ति स्वयं ही
आत्म विभक्त
विलीन धरा में हो जायेगी!
यही नियति उसकी निर्धारित!

स्वतन्त्रता है
पराधीनता सबसे बढ़कर!
क्योंकि परस्पर निर्भर रहना होता
जन को लोकतन्त्र में!

उसका नव निर्माण
जनों को करना होता,
सदा सत्य के रह अधीन
बढ़ लक्ष्य ओर नित!

भारत है माँ वसुधा!
भारत अमृत कुम्भ ले
पुनः जिलायेगा
अणु मृत भू-मानवता को,—
विश्व सभ्यता को,
संस्कृति को!

सत्यवान की प्रेमी है
उसकी सावित्री!
उसकी प्रतिभा
अन्तर्जग की वैज्ञानिक!
निर्माण कर रही
मनुष्यत्व नव
स्थूल सूक्ष्म का संयोजन कर!
तम प्रकाश का
स्वर्ग धरा का नव परिणय कर!

निर्बल के बल राम भले हों,—
निर्बल का संसार नहीं है!
सत्य, वीर भोग्या वसुन्धरा!
भारत का नभ गर्जन भरे
तुमुल ध्वनि वज्रास्त्रों से मण्डित!

सिन्धु दहाड़े
सिंह वाहिनी का वाहन बन!
स्थल सेना के चापों से
कम्पित हों भू के पाप ताप!
भारत भौगोलिक
रक्षा करने में समर्थ हो
शोषित पीड़ित की,—
जन-अरि का मद मर्दन कर,
विगत ज्वर रह!

तुम सोनार बाङ्ला,
दायित्व तुम्हारे सिर पर!
मानवता निर्माण करो नव
युग पुकार सुन!
मानवता निर्माण करो
श्रम तप रत भू पर,
मानवता— निष्ठ,
कर्त्तव्य
सहृदय प्रवुद्ध जो—
कवि रवीन्द्र के स्वप्न रूप लें!
मानवता निर्माण करो
जो जाति धर्म के गत भेदों को
कर
अतिक्रम
नव मानवीय सामाजिकता में
संयोजित हो,—
धरा स्वर्ग रचना रत
मनुज प्रीति में डूबी!

निखिल विश्व तक विस्तृत हो
उसका मनः क्षितिज,
जीवन ईश्वर के प्रति
पूर्ण समर्पित हो मन!
एवमस्तु!

आस्था

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७३]

नये अनास्था के युग को

विज्ञापन

'ग्रास्था' में मेरी 'समाधिता' के बाद की नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं। ये रचनाएँ सांस्कृतिक-सामाजिक युग-जीवन-परिवेश सम्बन्धी विश्लेषण की दृष्टि से प्रेरित होने के कारण ग्रधिकतर ग्रतुकान्त छन्दों में लिखी गयी हैं। धरती के जीवन एवं मन के ग्रधिक निकट होने के कारण इनमें ग्रादर्श के साथ यथार्थ का भी चित्रण मिलता है।

इस ग्रास्थाहीन युग में ये ग्रपनी सहज ग्रास्था से मन को छू सकें, इन्हें लिखने में यही ध्येय रहा है।

सुमित्रानंदन पंत

शरद पूर्णिमा,
२२-१०-'७२

एक

भगवद् द्रष्टा होते कवि
    भगवत् स्रष्टा भी,
सृष्टि चाहती
    ईश्वर जीवन में ही विकसित !

नये राम रच रही
चेतना
    अभिनव सीता,
उसे नया रामायण लिखना
    अब नव गीता !

विगत युगों के सत् में लिपटा
    नील कलेवर,
नव युग चित् रज से मण्डित
    श्री स्वर्णिम भास्वर !

ईश्वर ही कवि में द्रष्टा
    कवि में स्रष्टा नित,
धरा स्वर्ग में ईश्वर होता
    शनैः अवतरित !

दो

देश काल कारण छू पाते
    आस्था को न असंशय,
वह चौथा आयाम
    जगत जीवन हित चिर मंगलमय !

थामे रहो हृदय,
    आस्था-कर,
वह जननी करुणामय,
देश काल की क्रूर कुटिल
    गलियों में विचरो निर्भय !

सूक्ष्म सुनहली आभा-सी
    आस्था में तन्मय अन्तर
अन्तर्मुख सुख में निमग्न हो
    विचरण करना बाहर !

भू-रज लिपट न पाती उर से,
भले सना हो तन-मन,
बौद्धिक शिशु,
पग धरना सीखो,
विस्तृत जन-भू प्रांगण !

तीन

कभी नहीं करते भगवान् प्रयोग शक्ति का,
फिर भी अन्तिम विजय उन्हीं की होती निश्चय !
जब वे अनजाने छू देते जन का अन्तर
मन में भर जाता तब निःस्वर श्रद्धा का भय !

वे चुपके रचना करते रहते भीतर से,
परिवर्तित होता जाता बाहर का भी जग !
नयी दृष्टि पाकर अन्तर तब नये रूप में
निज मन का संसार बसाता खोज नया मग !

अन्तर के संस्कार शनैः धुल जाते उसके,
तम के गोपन कोने हो उठते आलोकित !
जड़ यथार्थ को ढाल नये आदर्श जगत् में,
वह अनन्य आस्था बल से होता सम्पोषित !

मन अनेक उत्थान पतन की भूमि पार कर
स्थिर हो जाता सागर-सा व्यापक गभीर बन !
सत्य मृषा, शाश्वत भंगुर का बोध प्राप्त कर
कर्म न बन्धन, सृजन मुक्ति का बनता साधन !

सहज रूप से ईश्वर बनता जन-संरक्षक,
सहज रूप ही से करता जीवन सम्पादित,—
वही अन्त में होता जीवन में निःसंशय,
जो चिर मंगलमय ईश्वर को होता स्वीकृत !

चार

वट पादप भू संस्कृति,—बहु, शाखा, उपशाखा
शोभित, जीवन हरीतिमा छायी दिगन्त में !
छायातप प्रांगण में एकत्रित हों जनगण
कर्मश्रान्त विश्राम कर सकें स्वच्छ वायु को साँसों में भर,—
विविध विचारों भावों के खग,
कलरव मुखरित धरें धरा जीवन को अहरह—
कला स्वप्न बरसा सुवर्ण पर्णों की छवि से
नयी भावनाओं के, नव सौन्दर्य बोध के !

धरती में पैठे हों गहरे मूल, नील की
किरण तरंगों में तिरते हों श्वसित पत्रदल !
प्राण शक्ति का हो प्रतीक दृढ़ स्कन्ध ऊर्ध्वमुख,
जो धारण कर सके भार बहु शाखाओं का—
रूप बोध कर विविध दिशाओं में बहु वितरित !

नये-नये वह मूल (मूल्य) जन भू मानस में
रोपे नित,—प्रत्येक मूल बन सके स्कन्ध नव
जीवन-आस्था का,—दिगन्त व्यापी प्रसार से
गौरवमय व्यक्तित्व धरा जीवन को दे वह !

पाँच

क्या कहता इतिहास ?—
यही, चैतन्य पुरुष जब
होते हैं अवतरित धरा पर—

बदल जगत् का
मानचित्र ही जाता !
नव चेतना ज्वार में
डूब सकल जाते
लघु तर्क, विचार, रूढ़िगत
जीवन पद्धतियाँ,
आकाश बेलि-सी छायीं
मानव उर में,
क्रूर जाल फैला नियमों का !

जन-मन के मित स्वार्थ,
मोह, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा,
जिनके कर्दम में
हाथी-सा फँस भू-जीवन
प्रगति नहीं कर पाता,
स्तम्भित रह जाते युग !

कुण्ठा, मृत्यु, निराशा का
घन अन्धकार, जो
संशय, त्रास, अनास्था के
पट में लपेटकर
जीवन को दुःसह
दुःस्वप्न बना देता—वह
पलक मारते ही
कुहरे-सा आँधी में उड़
तितर-बितर हो जाता—

नया दिगन्त खोलकर
नव प्रकाश, आनन्द,
प्रेम का, नव आशा का,—
नव जीवन रचना प्रति
प्रेरित कर मानव उर,
नव भावों की ज्योति वृष्टि में
नहला भू को !—
घोषित करता युग
चैतन्य-पुरुष का आगम !

छः

विश्व चेतना में मिल
मेरी हृदय चेतना
मानवता का नया दुर्ग
निर्मित करती अब—
हृदय स्वर्ग जो !

कैसे सैनिक मुझे चाहिए ?—
मनुज हृदय की
जो रक्षा कर सकें निरन्तर !

महाभाव के साधक हों जो,
वस्तु जगत् से
अपराजित रह,
भेद-बुद्धि की दीवारों में
रहें न खण्डित
जड़ यथार्थ के बोझ से दबे !

देश - देश में जो
विभक्त देखें न धरा को !
लाँघ खण्ड भौगोलिक सीमा
मानवता को
हृदय चेतना की
असीमता में तन्मय कर
गूँथ सकें नव मानवीय
सांस्कृतिक सूत्र में !
भू-बन्धन ढह,
मुक्ति बन सकें देशों के हित !

जड़ता के साधक
अस्त्रों-शस्त्रों से सज्जित
हृदयहीन जो,
अहं बुद्धि के मद से प्रेरित,

मानव से पशु बन,
पशु से भू दानव, दुस्तर
बाधाओं के पर्वत
खड़े करेंगे निश्चय
युग-युग के प्रेतों-से
कीलित जाति वर्ग में !
पर आँधी में वे
तृणवत् न ठहर पायेंगे !
मनुष्यत्व की
विश्व प्रेरणा से संचालित,
हृदय चेतना के सम्मुख
निरस्त, निरहं बन !

सात

यन्त्र सभ्यता आज घोर अभिशाप बन रही !
जड़ द्रव्यों का ढेर जोड़कर उसने जग में
दबा दिया मानव को—बृहत् हिमालय-सा गुरु
वस्तु-बोझ रखकर दुःसह उसकी छाती पर !

स्वाभिमान बिक गया मनुज का जीवन गौरव,
वस्तु जगत् की कृत्रिम जगमग से आकर्षित !
बहिर्प्रकृति वरदान मूत विज्ञान शक्ति भी
दानवीय प्रक्षेपास्त्रों की मुट्ठी में अब
बन्दी,—जन-भू का विनाश करने को उद्यत !

हृदय प्रतीक्षा करता उस नव युग द्रष्टा की
जो जड़ द्रव्यों के टुकड़ों को निरख-परखकर
उनकी सार्थकता खोजे जन-भू जीवन में—
अर्थ दे सके उनको, स्वर संगति में बिठला
नये बोध से भाव दीप्त नव मानवता की !
मानव गरिमा के प्रतिकूल उन्हें समझे यदि
जड़ द्रव्यों के कूड़े को द्रुत डुबा सिन्धु में
लौह पाश तोड़े भूजन की दास वृत्ति के !

हृदय बुद्धि दो चरण चेतना के अभिन्न जो
हृदय पंगु उनमें अब,—स्वतः बुद्धि भी अपना
सहज सन्तुलन खो बैठी लँगड़ा पग-पग पर !

कौन बुद्धि को मनुज हृदय से करे समन्वित !
महत् भाव ले जन्म धरा आँगन पर जिससे,
स्वर्ग मर्त्य की सम्पद हो जग में संयोजित,
रचनात्मक विज्ञान बने नव बोध चक्षु गा !

आठ

कौन बनाता है समाज? इतिहास बनाता?
उत्पादन के यन्त्र, वस्तु सम्पत्ति बनाती?
तर्कबुद्धि, चिन्तन, विचार, आदर्श बनाते?
रीति नीति नियमों के जड़ सम्बन्ध बनाते?
दर्शन के सिद्धान्त, भावगत मूल्य बनाते?
या आवश्यकता, रक्षा का बोध बनाते?

नहीं, समाज नहीं बनता इन जड़ द्रव्यों से
ज्वार चेतना का उठता जन-भू-जीवन में—
डुबा बाह्य उपलब्धि सभी देता जो जग की!
नये सांस्कृतिक सम्बन्धों में बाँध मनुज को
भू जीवन की रचना करता नयी दिशा में!
महाभाव की स्वर संगति में गूँथ विश्व को
एक नया आलोक उतरता भू-आँगन पर!

नये रक्त से हृदय शिराएँ होतीं झंकृत,
अन्तर का उन्मेष लाँघ बाधा के पर्वत
नव समाज को देता जन्म—डुबा स्वार्थों को!
नयी ज्योति लिखती मानव के जीवन-मन की
गाथा, अभिनव भावों के इतिहास पृष्ठ पर!

नौ

महाभाव में मग्न हो सके जन-भू जीवन,
वस्तु जगत् के मूल्य नयी स्वर संगति में बँध
नव संस्कृति की पादपीठ बन सकें समर्पित,
मानवीय चेतना स्पर्श पाकर अन्तर्मुख!

नयी शक्ति संजित हो मानव सम्बन्धों से,
सार्थकता पा सके वस्तुओं की समृद्धि जड़,
जन सेवा का आध्यात्मिक साधन बन अभिनव!
नया अर्थ पा सके वस्तुगत शब्दाडम्बर
रस-तन्मय हो नव जीवन सौन्दर्य ज्वार में!

आज विभेदों में खोया भू देशों का मन,—
नहीं मात्र आर्थिक स्पर्धा ही इसका कारण!
कुण्ठित अब हो गयी मनुज की बहिर्भ्रान्त मति
स्पर्श भाव का खो बैठी जड़ भौतिक सम्पद्!—

मनुज बुद्धि को हृदय ज्योति में अवगाहन कर
मनुष्यत्व की रचना करनी अब दिग् व्यापक,
वस्तु मूल्य हो सके समन्वित मानवता के
भाव मूल्य से, अन्तर के व्यक्तित्व से महत्:
नव चेतना गढ़े इतिहास धरा जीवन का!

दस

बदल डालता क्यों न मनुज धरती के मुख को ?—
असन्तोष जब इतना काला छाया भीतर !
कुतर रहा जो प्रतिक्षण कीड़े-सा जन-मन को !
क्रूर पर्वताकार वस्तुओं के जड़ दुःसह
दैत्य बोझ से दबा हुआ अस्तित्व मनुज का,
हृदयहीन सभ्यता पीसती जाती जिसको !

क्यों न भावना भूमि - कम्प अनिरुद्ध दौड़कर
तोड़-फोड़ देता जीवन के कृत्रिम बन्धन ?
भारहीन उन्मुक्त हृदय से मानव फिर से
ईश्वर के निष्कलुष विश्व में विचरे निर्भय,—
सुख सहृदयता स्नेह विनीत सहानुभूतिमय
अक्षय विभव हृदय का बाँट निरन्तर जन में !—
क्षुब्ध, अतृप्त, क्षुधित रहते जो बिना भाव के !

भला लाभ ? नर स्वर्ग विचुम्बी सौध में रहे
और नरक यातना सहे कटु स्पर्धा दंशित !

वर्ग स्वार्थ वह गला दबाये विजित मनुज का,
वह मुक्तात्मा नहीं, वस्तुओं का चिर वन्दी देहयन्त्र-भर !
विविधवासना के कृमियों से जर्जर मन !
युग परिधि कूप मण्डूक मनुज कृमि !
भाव ज्वार उट्ठे भी कैसे छिछले उर में ?

ग्यारह

कौन कमी है, कौन दोष या त्रुटि मनुष्य में
सर्वाधिक सम्पदा, शक्ति, शिक्षा(समृद्ध हो
विश्व सभ्यता के इतिहास-युगों में सम्प्रति
धरा ध्वंस ढाने को जो उद्यत वह दानव !

मूल शक्ति पा भूत जगत् की अणु विदीर्ण कर
व्यापक जीवन-मंगल—रचना के बदले वह
विध्वंसक अणु अस्त्र बनाने में अब तत्पर,—
जिससे जीव जगत् विनष्ट हो सकता क्षण में !

पुनः प्रश्न उठता मन में वह कौन कमी है
जो न मनुज को अब मनुष्य रहने देती है !
क्या वह धन, पद, शिक्षा क्षमता का अभाव है ?
नहीं, प्रचुर मात्रा में अब ये सुलभ मनुज को !

उसके भीतर कटु अतृप्ति है, असन्तोष है,
बहिर्विभव की कमी नहीं यह, आत्मबोध की !
आत्मज्योति के बिना अतृप्त मनुज का अन्तर,—
बाह्य भोग में रत वह, कुण्ठित उसकी आत्मा !

वस्तु जगत् की जगमग में निज को बन्दी पा,
आत्ममुक्ति पाने को वह विध्वंसक बनता!
आत्मज्ञान के ओ दाताओ, सम्मुख आओ,
मानव को मानव बनने की शक्ति, सिद्धि दो!

बारह

क्या उपयोग भला बौद्धिकता का इस युग में?
जड़ीभूत जन को देकर चैतन्य स्पर्श नव
बहिर्भ्रान्ति जग में क्या वह जागृति भर सकती?

तन-मन के दारिद्र्य दैन्य से व्यथित धरा जन,
बौद्धिकता केवल वर्गों की वाग् विलास भर!
आज जनों को अन्न-वस्त्र आवास चाहिए,
भूखे भजन न होय—सूक्ति का यह संकट-युग!
भला हृदय परिवर्तन हो भी कैसे सम्भव
जब यन्त्रों के दास शक्ति पद मद के भूखे
हृदयहीन मुट्ठी-भर जन शासन करते हों
सरल असंख्य जनों को बहका कृत्रिम जग में!

आज हृदय की शिक्षा रखती अर्थ न कुछ भी,
सच्चरित्रता, मनुष्यता का मूल्य न तिल-भर!
कुटिल बुद्धि से जटिल परिस्थितियों को जो नर
जन्म जगत् में दे सकता वह बुद्धिमान है!
वही महान् . यशः किरीट शोभी नरेन्द्र भी!
राज्यवाद का युग न रहा हो जग में, तो क्या?

भू से ऊपर उठ जन नायक का रथ चलता,
पथ हो जाते रुद्ध सभी साधारण जन को!
जो कि प्रतीकात्मक है! जन-जीवन विकास के
सभी मार्ग वह रुद्ध किये रहता निज बल से!
शीश झुका जन उसके सम्मुख—इंगित करते
मनुष्यत्व मर गया—जी रहा यन्त्र-तन्त्र युग!

तेरह

सभ्य जगत् यह!
यन्त्रों से पददलित असंख्य
जहाँ कीड़ों-से रेंगा करते
अन्न-वस्त्र की
आवश्यकता के कीचड़ में—
रीढ़हीन जन!

दो प्रतिशत रहते
अम्बर चुम्बी श्रेणी के
सौधों में धरती से ऊपर,
कृत्रिम क्रूर
लोक कर निर्मित !

भू पर अब बहुमूल्य
यन्त्र, बहुमूल्य वस्तुएँ—
मनुष्यत्व का
कौड़ी-भर भी मूल्य नहीं !
भावना शून्य
नर हृदय,—बुद्धि का
अहंकार पर्वत-सा भारी !
राष्ट्रों में बहु बँटे देश
प्रतिस्पर्धा पीड़ित !
एक ओर दिग्भ्रान्त मनुज
फिर से अतीत के
आदर्शों की कोरी
केंचुल को पकड़े हैं,—
और दूसरी ओर
आधुनिकता का विषधर
दाँत गड़ाये मनुष्यत्व के
जीवित शव पर !

आस्था औ' विश्वास
शंख घण्टों का रव बन
रोते झिल्ली-से,
उजाड़ निर्जन मन्दिर में !

पत्थर बनकर भी प्रभु
जहाँ नहीं टिक पाये,
लोक भक्ति श्रद्धा के
रिक्त प्रदर्शन से क्रुद्ध !
पौ फटने से पूर्व घिरे
घन अन्धकार से
भीत नहीं मेरा मन,
दूर न युग प्रभात अब !

चौदह

मूत भविष्यत् का समरस्थल वर्तमान युग,—
गत अभ्यासों से निर्मित जन-भू का जीवन,
उसे बदलना मानव को कर यत्न अनवरत,
दुर्गम अवरोधों को लाँघ मनःग्रन्थियों के !

महाक्रान्ति के मेघ घुमड़ते उपचेतन में
आवेशों की आँधी में पतझर-पत्तों-सी
रूढ़ि रीति पद्धतियाँ झर, मिटतीं भू रज में!

प्रेतों-से आदर्श विगत युग के मँडराकर
लौह पगों से सूक्ष्म प्ररोहों को भावों के
कुचल रहे, संशय-भय मृत्यु अनास्थावादी
जड़ अतीत के प्रतिनिधि ऋण संगठित धरा पर,—
आग्नेयों से विश्व ध्वंस ढाने को उद्यत,
मानवता से वंचित, पाशवता के रक्षक!

धीरज रक्खें, भावी मनुष्यत्व के प्रेमी,
असुरों को कर आत्मसात् पोषित होते सुर!
निःसंशय, इतिहास बदलने को करवट अब,
विजयी होगी मनुज नियति युग संघर्षण में,
विजयी होगा मनुष्यत्व जड़ चेतन रण में!

पन्द्रह

अन्तरिक्ष में आज तुमुल रणशृंग बज रहे!—
विद्युत् अश्वों पर चढ़ आते नव संवेदन
घन गर्जन भर, मनोभूमि पर युद्ध के लिए!

अन्धकार घिरता जाता युग परिवर्तन का
आवेशों की झंझा दौड़ रही अति गति से,—
बड़े-बड़े वृक्षों को भू से उन्मूलित कर
सदियों से जो जड़ें जमाये थे जन-मन में!
भाव क्रान्ति मथ रही हृदय को रक्त वेग भर,
ज्वार उठ रहा जीवन सागर में नभचुम्बी
जड़ अतीत पुलिनों को नव जीवन प्लावित कर!
युग सन्ध्या जलती धू-धू कर विश्व क्षितिज में,
गहराता जाता सन्तमस निगल मृत दिन को!

विगत युगों के भग्न खँडहरों के कन्धों पर
उतर रहा नव युग प्रभात चैतन्य ज्योति स्मित,—
स्वर्णिम किरणों से रेखांकित शिखर-कोण कर
मानवता की भावी के सौन्दर्य सौध के!

डूब रहा रण गर्जन मादन मर्मर ध्वनि में,
मनुज प्रेम के विजय-गान से मुखरित अम्बर!

सोलह

रुद्र मन्यु अब टूट रहा हो वज्र क्रूर बन
भय संशय, सन्त्रास अनास्था हरने जग की!
तिग्म ज्योति के तीर घुस रहे मनुज हृदय में
धरा प्रकृति की क्षुद्र वृत्तियाँ दीपित करने!

घूम रहे घायल दिगन्त अब महावेग से
विस्तृत करने सीमित परिधि जगत् जीवन की !
काँप रहे भू-धर थर-थर जड़ बोझ से दबे
भाव सिन्धु का ज्वार डुबाता मूल्यों के तट !

जीर्ण केंचुली झाड़ रही दुश्चिन्ता साँपिनि,
शोकमुक्त आस्था के पंखों में उड़ खग-सी !
कहाँ गया उर-अन्धकार अब बुद्धिभ्रान्ति, भय ?
नव प्रभात में लीन हो गये विगत प्रेत सब !
भँवर दीख पड़ता था जो जीवन-समुद्र में
वह सहस्रदल विकच कमल निकला चेतस का !

लोक क्रान्ति, परिवर्तन, वाहक बन विकास के
नव मानवता की स्वर संगति में अब बँधते !

सत्रह

देख रहा मैं, मनुजों की पसलियाँ उड़ रहीं
पतझर के पत्तों-सी छितरा युग अन्धड़ में !
शत सहस्र फन विषधर हों फूत्कार भर रहे,
प्रलय नाचता भू पर उन्मद दानव डग धर !

रुद्ध श्वास हो वायु कराह रही भू रज पर,
लोट-पोट हो मूर्च्छित पादप भूमिसात् अब !
घायल-उर पर्वत धँसते जाते धरती में,
भवन खड़े निर्जीव, साँप ज्यों सूँघ गया हो !

नभचुम्बी सब महानगर वीरान पड़े हैं,
साँय-साँय करते सूनेपन में जन-वंचित !
ध्वंस मनुज ने ढाया अपने कृत्रिम जग में,
रंच न बिगड़ सका ईश्वर की अमृत सृष्टि का !

दीप टिमटिमा रहे अभी कुछ ग्राम कुटी में,
ढोरों-की घण्टियाँ गोचरों में बज उठतीं !
विश्व हृदय सन्तप्त मनुज दुर्बुद्धि के लिए—
एक बात : गत पथरायी चेतना मिट गयी !

भेद-विभेदों में विदीर्ण जग लीन हो गया,
चीर विपँले धूम उतरती मानव भावी
कोटि उपाओं की शोभा गरिमा से मण्डित !

अट्ठारह

अट्टहास करता अम्बर मानव-दुर्मति पर,
अट्टहास कर रहीं दिशाएँ जन-दुर्गति पर—

रिक्त सभ्यता का आडम्बर रचकर नर ने
सर्वनाश का किया सभ्य भू पर आवाहन !

अन्न-वस्त्र-आवास हुए दुर्लभ भू-जन को,
पशु-पक्षी भी अब जीवन-मृत प्रकृति-क्रोड़ में !
बहिर्भ्रान्त गत युग मानव की रुग्ण सभ्यता
दिशाहीन हो, भटक गयीं गिर ध्वंस गर्त में !
ऊँचे-ऊँचे हर्म्य चूमते थे अम्बर-मुख,
वायुयान में उड़ता था तन विद्युत् गति से—
मानव आत्मा ? नरक द्वार थी अभिशापों की,
अन्ध गर्त से उबर सकी न क्षुद्र तामस-मति !

बुद्धि प्रखर थी, हृदय रिक्त,—जल-थल नभ भुज-बल,
संयोजित सभ्यता न थी संस्कृति प्रकाश में !
आध्यात्मिक सोपानों पर चढ़ सका न अन्तर,
स्वार्थ मनुज पर्याय, एकता शब्दाडम्बर !

घोर विषमता ही थी समता की परिभाषा,
मुट्ठी-भर से शासित था जीवन असंख्य का !
यही आज सन्तोष—मनुज की दुष्कृतियों से
मुक्त हुआ जग,—नव रचना मंगल प्रति प्रेरित !
युग प्रभात डेरा डाले अब भू आँगन पर
नम्र समर्पित मनुज विचरता देव-धरा पर !

उन्नीस

विथक गया वह बैल साधना जुए में बँधा,
जोता करता था जो भावों के खेतों को—
मन की रज को सहला उलट-पुलट प्रकाश में
नव जीवन शोभा की फसल उगाता उसमें !

सींग मारता अब वह मुझको जुआ छुड़ाकर
कहता है फुंकार—व्यर्थ तुम श्री शोभा की
फसल उगाने को मुझको जोते हो हल से !
भला, यथार्थ क्षुधा से पीड़ित लोग, तुम्हारे
श्री शोभा स्वप्नों से क्या निज पेट भरेंगे !

मुझे मुक्ति दो, मैं स्वतन्त्र हो चरने जाता !
खेत दूसरों का चरना ही आज धर्म है !
मैंने छोड़ दिया उसको, चारा भी क्या था ?
वह कुछ दिन मदमस्त घूमकर आपा खोकर
चरता खेत रहा पड़ोस के, आसपास के,—
और एक दिन भाग रँभाता आया दौड़ा
अश्रु बहाता, चरणों पर गिर पड़ा अचानक !

वह घायल था, रक्त-सिक्त था
शिथिल कलेवर,
टूट गये थे सींग नुकीले !
उसे चीन्हना
सहज नहीं था !—
दया-द्रवित हो मैंने
उसको सहलाया,
मरहम-पट्टी की,
वह फिर धीरे स्वस्थ हो गया !
और जुए में गरदन दे दी !

मैंने उसको चारा-पानी दे, समझाया—
अहंकार की यही अन्ध परिणति होती है !
ठोंक-पीटकर उसको वश में रखना होता !
तुम मर्यादा लाँघ भाग निकले थे घर से—
मर्यादा का अर्थ सर्व हित पालन होता !

बीस

अन्तर्मुख उन्नत प्रयत्न आधे प्रयत्न - भर,
बाह्य परिस्थितियों का भी चाहिए उन्नयन !
पाप ताप, दुख, रागद्वेष सर्वदा रहेंगे,
बाहर स्वच्छ न हो जब तक जन भू का जीवन !

काम कला अनिवार्य सत्य रत सृष्टि सरणि की,
बिना काम स्वीकृति के अर्धमूल्य सब निष्फल,
वही योग-साधना सत्य मानव जीवन हित
जिसमें संस्कृत कामवृत्ति से हो जन मंगल !

प्रकृति धर्म पर ही हो मानव जीवन निर्भर,—
पूर्ण प्रकृति जग अपने ही में प्रतिपग पावन !
मनुज इन्द्रियाँ दिव्य द्वार आत्मिक वैभव की,
इन्द्रिय रथ सारथि हो नव युग जीवन दर्शन !

सूक्ष्म सूक्ष्मतर की कर कृश साधना भ्रान्त नर
क्या पायेगा ? तन्मय हो चिन्मय अम्बर में ?
धरा चेतना की जड़ स्थितियों प्रति विरक्त हो
त्याग स्थूल को, देही रहता जिसके घर में !

बहिरन्तर निर्माण करें आओ, जीवन का,
निखिल ज्ञान विज्ञान विभव को कर संयोजित,
सत्य निष्ठ हो मानव जन भू-जीवन के प्रति,
आध्यात्मिक बन भू रचना से रहे न वंचित !

स्वाभाविक जीवन ही रे आध्यात्मिक जीवन,
कहाँ खोजते प्रभु को भू जीवन से बाहर?
ईश्वर ही का तो स्व-भाव प्रसारित अग-जग में
अपने ही में पाना है मानव को ईश्वर!

इक्कीस

युग-युग के कर्दम में सने मनुज के तन-मन,
धोओ इनको नव श्रद्धा निष्ठा के जल से!
जागो, ओ मिट्टी की जड़ प्रतिमाओ, जागो,
पार करो बीहड़ पथ नव आस्था के बल से!

मन अतीत का बोझ ढो रहा कब से गर्हित
अतल गुहाओं में मृत आदर्शों की खोया!
जन जीवन के प्रति नयी प्रेरणाओं से वंचित
स्वप्नों के दिग्भ्रान्त सुनहले तम में सोया!

जीर्ण विचारों का करता आया जड़ संचय
उनके कृत्रिम जग में करता जीवन यापन!
भग्न रीढ़ वह रेंग रहा गत रूढ़ि पद-दलित,
चीन्ह न पाया धरा धाम में प्रभु का आँगन!

खोलो हे, खोलो अवरुद्ध हृदय वातायन,
नव प्रकाश का स्पर्श मिले अन्तर को प्रतिक्षण!
नयी चेतना के वैभव से गढ़ो नया मन,
भाव-बोध-गरिमा से मण्डित हो जग जीवन!

बाईस

साँस-साँस प्रार्थना कर रहा जिस ईश्वर की
वह हममें ही रात-दिवस सोता-जगता नित!
मौन प्रार्थना करता वह भी, जन-धरणी पर
नव श्री शोभा गरिमा में हो सके अवतरित!

अप्रतिहत प्रार्थना जीव जग का भू जीवन,
शाश्वत पल छिन बनकर जिसमें करता विचरण!
रचना-कर्म-रहस्य गूढ़, नव अभिव्यक्ति हित
ध्यान निष्ठ चाहिए लगन अन्तर में पावन!

अनुभव अब करता मन, निखिल पदार्थ जगत् के
योगक्षेम हित मौन प्रार्थना करते अर्पित!
सत् का ही अस्तित्व, असत् को सूक्ष्म स्पर्श से
सृष्टि-सत्य में जो नित करता रहता मूर्तित!

तेईस

सत्य असत्य गये ब्रह्मा के पास झगड़ते,
बोला सत्य, नमन कर, ब्रह्मन् !
मैं क्या प्रतिनिधि नहीं तुम्हारा जग में शाश्वत ?
फिर असत्य ही सदा फूल-फल, पाता क्यों जय ?

तब असत्य बोला, नत सिर हो
प्रभो, सत्य की छाया-सा सँग रहता प्रतिक्षण,
जीवित कैसे भला रहूँगा मुझे न यदि अपनायें भू जन ?
मैं विलोम क्या नहीं सत्य का ? सत्याऽनृत ही तो जग जीवन !

नित जाग्रत समाधि में रहनेवाले बोले
हँसकर तब ब्रह्मा चतुरानन, तुम दोनों ही निश्चय
विजयी होगे जग में—क्षणिक अनृत की विजय
सत्य की विजय चिरन्तन ! धूपछाँह-से तुम
जग-जीवन में हो गुम्फित—सत्य न शाश्वत समझे निज को,
उसे महत्तर सत्य-बोध में होना विकसित !

चौबीस

जाने क्या सम्बन्ध गूढ़ मेघों से मेरा
रिमझिम-झिम सुन मन अनजाने हर्षित होता !
मेघों के कोमल स्वप्नों के अँधियाले में
श्रमतप से श्लथ मेरे अन्तर का दुख सोता !

कलकल चंचल सरिता जल मेरे मानस में
स्मृति की बीन बजाकर निःस्वर गाता रहता !
सुख-दुख के पुलिनों को लाँघ न जाने कैसे
एक नये ही भाव लोक में मैं तब बहता !

मधुसमीर सौरभ मन्थर आनन्द स्पर्श से
मेरे उर को नव छन्दों से झंकृत करता !
जाने क्या सम्बन्ध नील दृग नभ से मेरा
पुलकित कर तन-मन तन्मय बाँहों में भरता !

मुझे न संशय मेरे ही पद तल छूने को
भू श्यामल दूर्वादल बन बिछती रोमांचित,
ज्ञात मुझे सम्बन्ध विश्वमय मातृ प्रकृति से
उससे अधिक निकट न कोई मेरे निश्चित !

पच्चीस

कैसे छोड़ तुम्हें सकता मैं प्रेयसि कविते,
क्या न आम की डाली पर अब कोयल गाये ?
या पावक की लपटों में सुलगा दिगन्त स्मित
मुग्धाओं का उर उकसा ऋतुराज न आये ?

स्वाभाविक जीवन ही रे आध्यात्मिक जीवन,
कहाँ खोजते प्रभु को भू जीवन से बाहर?
ईश्वर ही का तो स्व-भाव प्रसारित अग-जग में
अपने ही में पाना है मानव को ईश्वर!

इक्कीस

युग-युग के कर्दम में सने मनुज के तन-मन,
धोश्रो इनको नव श्रद्धा निष्ठा के जल से!
जागो, ओ मिट्टी की जड़ प्रतिमाओ, जागो,
पार करो बीहड़ पथ नव आस्था के बल से!

मन अतीत का बोझ ढो रहा कब से गर्हित
अतल गुहाओं में मृत आदर्शों को खोया!
जन जीवन के प्रति नयी प्रेरणाओं से वंचित
स्वप्नों के दिग्भ्रान्त सुनहले तम में सोया!

जीर्ण विचारों का करता आया जड़ संचय
उनके कृत्रिम जग में करता जीवन यापन!
भग्न रीढ़ वह रेंग रहा गत रूढ़ि पद-दलित,
चीन्ह न पाया धरा धाम में प्रभु का आँगन!

खोलो हे, खोलो अवरुद्ध हृदय वातायन,
नव प्रकाश का स्पर्श मिले अन्तर को प्रतिक्षण!
नयी चेतना के वैभव से गढ़ो नया मन,
भाव-बोध-गरिमा से मण्डित हो जग जीवन!

बाईस

साँस-साँस प्रार्थना कर रहा जिस ईश्वर की
वह हममें ही रात-दिवस सोता-जगता नित!
मौन प्रार्थना करता वह भी, जन-धरणी पर
नव श्री शोभा गरिमा में हो सके अवतरित!

अप्रतिहत प्रार्थना जीव जग का भू जीवन,
शाश्वत पल छिन बनकर जिसमें करता विचरण!
रचना-कर्म-रहस्य गूढ़, नव अभिव्यक्ति हित
ध्यान निष्ठ चाहिए लगन अन्तर में पावन!

अनुभव अब करता मन, निखिल पदार्थ जगत् के
योगक्षेम हित मौन प्रार्थना करते अर्पित!
सत् का ही अस्तित्व, असत् को सूक्ष्म स्पर्श से
सृष्टि-सत्य में जो नित करता रहता मूर्तित!

तेईस

सत्य असत्य गये ब्रह्मा के पास झगड़ते,
बोला सत्य, नमन कर, ब्रह्मन् !
मैं क्या प्रतिनिधि नहीं तुम्हारा जग में शाश्वत ?
फिर असत्य ही सदा फूल-फल, पाता क्यों जय ?

तब असत्य बोला, नत सिर हो
प्रभो, सत्य की छाया-सा सँग रहता प्रतिक्षण,
जीवित कैसे भला रहूँगा मुझे न यदि अपनायें भू जन ?
मैं विलोम क्या नहीं सत्य का ? सत्याऽनृत ही तो जग जीवन !

नित जाग्रत समाधि में रहनेवाले बोले
हँसकर तब ब्रह्मा चतुरानन, तुम दोनों ही निश्चय
विजयी होगे जग में—क्षणिक अनृत की विजय
सत्य की विजय चिरन्तन ! धूपछाँह-से तुम
जग-जीवन में हो गुम्फित—सत्य न शाश्वत समझे निज को,
उसे महत्तर सत्य-बोध में होना विकसित !

चौबीस

जाने क्या सम्बन्ध गूढ़ मेघों से मेरा
रिमझिम-झिम सुन मन अनजाने हर्षित होता !
मेघों के कोमल स्वप्नों के अँधियाले में
श्रमतप से श्लथ मेरे अन्तर का दुख सोता !

कलकल चंचल सरिता जल मेरे मानस में
स्मृति की बीन बजाकर निःस्वर गाता रहता !
सुख-दुख के पुलिनों को लाँघ न जाने कैसे
एक नये ही भाव लोक में मैं तब बहता !

मधुसमीर सौरभ मन्थर आनन्द स्पर्श से
मेरे उर को नव छन्दों से झंकृत करता !
जाने क्या सम्बन्ध नील दृग नभ से मेरा
पुलकित कर तन-मन तन्मय बाँहों में भरता !

मुझे न संशय मेरे ही पद तल छूने को
भू श्यामल दूर्वादल बन बिछती रोमांचित,
ज्ञात मुझे सम्बन्ध विश्वमय मातृ प्रकृति से
उससे अधिक निकट न कोई मेरे निश्चित !

पच्चीस

कैसे छोड़ तुम्हें सकता मैं प्रेयसि कविते,
क्या न आम की डाली पर अब कोयल गाये ?
या पावक की लपटों में सुलगा दिगन्त स्मित
मुग्धाओं का उर उकसा ऋतुराज न आये ?

भ्रू-रेखा सी शशि लेखा क्या उगे न नभ में,
शरद चाँदनी-अंचल में मन मुँह न छिपाये ?
या स्वप्नों के सुरधनु सोपानों पर चढ़कर
भाव-गगन के सागर की मन थाह न पाये ?

क्षिप्र मनोजव-सूक्ष्म कल्पना पंख मारकर
रवि न सही, कवि मनोगुहा का तम न मिटाये ?
क्या न तुम्हारे सँग रस-सागर का मन्थन कर
वह मानव मूल्यों के नव रत्नों को लाये ?

और लुटा आदित्य वर्ण आत्मा का वैभव
प्रिये, तुम्हारे सँग न धरा पर स्वर्ग बसाये ?
कैसे तुम्हें छोड़ सकता कवि प्रेयसि कविते,
शोभा वन में क्या मधुप्रिय न मधुप मँडराये ?

छब्बीस

यह महान् दुर्भाग्य रहा द्रष्टा भारत का
मध्य युगों से भटका मन के मायावन में !
निर्जन छायाभा बीथी में चिन्तन करता,
रजत श्रृंग पर आत्मा के आरोहण करने !

ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर, जन भू के
जीवन से बँध सका नहीं वह प्रीति-सूत्र में—
देख सका न जगत् के दर्पण में दृग पावन
ईश्वर की शाश्वत शोभा गरिमा प्रतिच्छवित !

क्षण भंगुरता उसे सालती रही शूल-सी
वह न सँवार सका धरती के जीवन का मुख !
उसे स्नेह से सँजो, भाव सुमनों से उर के
पूज, बाँध भंगुर को शाश्वत प्रीति पाश में !

जीवन ही सर्वोपरि प्रतिनिधि रे ईश्वर का
मन आत्मा केवल उसके चिर अनुचर, सहचर,
ईश्वर को दें अभिव्यक्ति जीवन की भू पर,
आत्मा के आलोक शलभ जागें तन्द्रा से !

सत्ताईस

प्रेम महत् है कहीं सत्य शिव से, सुन्दर से,
अतिक्रम करता वह सबको निज समग्रता में !
लाँघो लँगड़ी नैतिकता को माया मन की,
दया प्रेम में बाँधो जीवन की दुर्बलता !

दुर्बल दुर्बल नहीं,
दयामय उसके पीछे,
वह दुख सहता, क्योंकि
सबल से शोषित अब वह!

शोषक का कल्याण
न जीवन के विधान में,
भले निबल पा सके कभी
ईश्वर का आसन!

शक्ति अन्ततः अपने ही को रौंदा करती,
इसके विविध निदर्शन भू-इतिहास में भरे!
निर्बल के प्रति सहृदयता से पा सकता नर
ईश्वर को,—सन्देह न इसमें युग चारण को!

अतः प्रेम के ईश्वर को अर्पित कर तन-मन
आओ, बदलें जन-भू जीवन की परिभाषा,—
कौन भला पापी परितप्त प्रेम के पथ में,
प्रेम सृष्टि का सार—वही दर्शन की आत्मा!

अट्ठाईस

अतिक्रम कर श्री सीता, राधा, सावित्री को
अग्नि परीक्षा, विरह वेदना, दास्य भाव के
स्वर्णिम पिंजर के गुण्ठन से मुक्त, अनाहत,
नयी प्रीति की बन प्रतीक तुम उतरो भू पर!

ओ भावी प्रेयसी, शील शोभा में भूषित
विचरो भू के आँगन को महिमा मण्डित कर!
देह देह में, मन मन में, आत्मा आत्मा में
तन्मय हों, प्राणों के वैभव से आलिंगित!

संस्कृत हो भावना वेग, संस्कृत प्रबुद्ध नर,
जन धरणी पर अमर हृदय का स्वर्ग बसाओ,—
इन्द्रिय स्पर्शों को पवित्र, रस-मुक्त, अभयकर!
प्राणों के छिद्रों से फूट सूक्ष्म वंशी ध्वनि
नव स्वर लय में गूँथे आत्मा को जीवन में!

जीवन के स्तर पर
जन भू पर विचरे ईश्वर
दर्शन के छायाभासों को
छिन्न भिन्न कर
नयी चेतना में स्त्री की
सौन्दर्य-मूर्त हो!

उनत्तीस

सूंघो, धरती का मुख सूंघो, इसकी प्रिय सुगन्ध ही ईश्वर,
चक्खो, जग जीवन को चक्खो, इसका मधु ईश्वर ही का वर!
देखो, विशद विश्व का आँगन, ईश्वर इसकी शोभा सुन्दर,
श्रवण करो जन का कोलाहल, मुखरित जिसमें ईश्वर के स्वर!

शैल अस्थियाँ पृथु पृथ्वी की, सरिता रक्त शिराएँ स्पन्दित,
वायु श्वास, सागर गभीर उर, ईश्वर ही रज तन में मूर्तित!
मूर्छित पड़ीं इन्द्रियाँ कब से, करो देवता उनके जागृत,
पशुता का संस्कार करो नव सामाजिक सम्बन्धों में सित!

जीवन ईश्वर ही परमेश्वर, अतल गुहा से निकलो मन की,
आत्मा के शिखरों से उतरो, निरखो शोभा शाश्वत क्षण की!

तीस

मन का युग अब बीत रहा
बौने डग धरकर—
लँगड़ाता जो चला धरा पर
गिरता पड़ता,
दिशा-भ्रान्त हो फिर-फिर
अपने ही से शंकित,—
आँख मिचौनी खेल
चेतना की द्वाभा में!

जीवन-भू पर आज चाहती
सहज खेलना
स्वर्ग चेतना !—
मुक्त रूढ़ पिंजर से मन के—
सृजन स्वप्न के पंख मार

नव क्षितिज पार कर,
वह असीम में तन्मय हो,
जन के प्राणों में
बरसाना चाहती
शान्ति, आनन्द, प्रेम रस,
भू-रचना की शोभा में
मज्जित कर अन्तर!

नयी उषाएँ उतर रहीं
अब अन्तरिक्ष से
आलोकित कर नये शिखर
जीवन वैभव के!

स्वतः स्फूर्त हो भाव बोध
निर्देशित करता
नये सत्य के उन्मेषों का
पथ मंगलमय !
मनुज मनुज का भेद
बाँधती नयी एकता
नये विश्व में शनैः
नयी समता की भू पर !

इकत्तीस

पृथक् नहीं अब मुझसे कविता !
जीवन में जो पाता
उसे अनूदित करता
काव्य-बोध में !—
बाँध छन्द लय में
अनुभव को !
भले दुराराधा हो राधा—
किन्तु अधिक ही कृच्छ्र
साधना सुन्दरता की !—
रूप भावना धरती जिसमें !
उठते भीषण ज्वार
बहिर्जग के जीवन में
टकराते जो
सूक्ष्म चेतना से अन्तर की !
झुककर मैं
उनको ऊपर से जाने देता !—
विश्वभावना में कर स्नान
लोक मंगल हित !
विश्व प्रकृति पाती अभिव्यक्ति
विराट् छन्द में
जो मेरी मानस तन्त्री में
होता झंकृत !
नया साम्य सन्तुलन
विषमताओं में जग की
स्थापित करने आया हूँ मैं
तप खँट मन में !
मुझे बाँधना नये छन्द में
जग जीवन को,—
वस्तु जगत् को
भाव जगत् में कर
रस परिणत !

बत्तीस

शंखनाद कर सके काव्य
जग जीवन रण में,
पांचजन्य बन
नव प्रबोध दे सके मनुज को !

युद्धक्षेत्र भू जीवन—
सुख-दुख, तम प्रकाश का,
रागद्वेष स्वार्थों के जग में
सत्य विजय का !

कहां आज वह शक्ति काव्य में
मनुज वृत्ति को
सूर्य दिशा दे सके—
भेद कर तमस हृदय का !

विद्युत् स्पर्श न भाषा में
सौन्दर्य भाव में,
नवोन्मेष भर सके
रूढ़ि जर्जर जग में जो !

कर्मचेतना से वियुक्त
गत जीवन दर्शन,
धर्मभीरु जन
अभिनव के प्रति
मन में शंकित !

पिसते परम्परा की
पथरायी चक्की में,
अन्धकार को तूम
गाढ़तम अन्धकार में !

कैसे बोये ज्योति पंख
रस बीज कृपक कवि
क्रूर अनास्था से कुण्ठित
युग जन के मन में !

स्वर्ण प्ररोहों से भर दें
जीवन दिगन्त जो
स्वर्गिक नव श्री सुषमा
गरिमा में रोमांचित !

तैंतीस

कहां देखते वर्ग युद्ध ?—यह नयी भूमि है !
जहां नहीं हैं वर्ग, स्वर्ग अपवर्ग श्रेणि हैं !
क्रूर शक्तियां कार्य कर रहीं आज जगत् में,
विषम परिस्थितियां निःसंशय भू जीवन की !

वर्ग युद्ध ? परमाणु युद्ध भी सम्भव जग में !
कौन मरेगा ? कौन कटेगा ?—पथराया मन !
धनियों का हो या कि निर्धनों का हो जड़ मन—
मानव जीवित सदा रहेगा !—मानवता की !
नव गरिमा से मण्डित करने देश काल को !
जीर्ण वस्त्र-सा नर उतार फेंकेगा गत मन,
नयी चेतना के प्रकाश से उन्मेषित हो !

दीप्त कर सकेगा वह भू के अन्धकार को—
मनुज हृदय के वैभव से जग को समृद्ध कर !
लोक-प्रेम का स्वर्ग बसायेगा धरणी पर !
नयी उषाएँ उतरेंगी तब नयी भूमि पर !—
स्वर्णिम समता का आलोक जगत् में फैला !

चौंतीस

कौन बो गया काँटे जन धरणी के मग में ?
मानव का अज्ञान ? द्वेष, स्पर्धा कि स्वार्थ मति ?
रक्त पंक से लथपथ मानव यात्री के पग,
त्रास, निराशा, चिन्ता से कुण्ठित जीवन-गति !

जी करता कि अजस्र आँसुओं से कवि मन के
धो डालूं भू का कल्मष कर्दम दिग् विस्तृत !
नये बोध की तीक्ष्ण धार से खोद निराकर
जग जीवन का क्षेत्र गढूं सौन्दर्य पल्लवित !

लक्ष्य भ्रष्ट अब दिशाहीन भू जीवन का पथ,
विविध मतों-वादों में बिखरा भू-मानव मन !
उसके अन्तिम दिन अब ! युग सन्ध्या दिग् धूमिल,
निबिड़ अमा तम को गहराते-से हत उडुगण !

नव प्रभात के लिए प्रतीक्षा-रत आशाएँ,
दीपित हो कनकाभ चेतना से भू-मण्डल !
ज्योति विहग जग गाते युग चारण के मन में,
हृदय रक्त में नहला जन-भू जीवन मंगल !

पैंतीस

कवि उर का आक्रोश महत् वाणी में फूटे,
मज्जित कर दे महती करुणा भू जीवन तट—
ओ विराट् जीवन के प्रतिनिधि सहृदय भूमा,
नयी चेतना से अभिषिक्त करो जन अन्तर !

मानव समता का युग आया आज धरा पर,
अभिव्यक्ति पा रहीं क्षुद्र वृत्तियाँ जनों की !
युग-युग के संस्कार उभर, खुल खेल रहे हैं—
स्वार्थ, लोभ, तृष्णा, ईर्ष्या, स्पर्धा स्वतन्त्र हो !

बौने तुच्छ घिनौने नर कुल वंश की जिन्हें
लाज न खोनी—धृष्ट निरंकुश निर्मम बनकर
लूट रहे दोनों हाथों से पर सुख सम्पद,
अनाचार से कुण्ठित भू जीवन विकास गति !

कब से रुका हुआ कुसुमाकर दिशा ओट में,
कोयल गूंगी-सी खोयी मंजरित गहन में,—
लहर प्रतीक्षा करती उठ-गिर सरसी उर में
नयी उषाएँ मुख न दिखातीं अन्तरिक्ष से !

आओ, नव चैतन्य ज्वार पर चढ़ युग द्रष्टा,
महत् कर्म प्रति प्रेरित करो मनुज का अन्तर !
नया भूमितट उभरे विप्लव के सागर से,
समता का युग मनुज प्रीति के ऐक्य में बँधे !

छत्तीस

अगर मृत्यु से ऊपर उठना बन्धु, चाहते,
त्यागो तुम निज क्षुद्र प्रकृति को, क्षुद्र वृत्ति को—
देह मोह भी छोड़ो स्थित रह अन्तरतम में,
हृदय कमल के भीतर ही ईश्वर का आसन !

उनको पकड़े रहो ध्यान रत भाव-सूत्र से
अर्पित हो प्रभु के प्रति पूर्ण अनन्य रूप से !
मानवीय भू पर तुम सहज प्रवेश करोगे,
नव भूलोक रचोगे काम्य समग्र दृष्टि से !

सार्थक होगी जीवन की साधना प्रकृति की,
रक्त युद्ध से नहीं मिटेगी हृदय पिपासा—
विचलित हो न अभावों से, जीवन दैन्यों से,—
गत स्थितियों के अभिशापों से मानव पीड़ित !

नया स्वर्ण युग निश्चय ही आयेगा जग में,
मानव निज अन्तर गरिमा से होगा परिचित !
त्याग प्रेम, संयम, साहस, धीरज, विनम्रता
उपादान भावी मानवता की रचना के !

सैंतीस

कौन नये वे मूल्य ?—जिन्हें भू-रज में बोकर
तुम जीवन की स्वर्णिम फसलें उगा सकोगे ?
सर्व प्रथम साहसिक संगठन हो मनुजों का,
जो अत्याचारों का दृढ़ सामना कर सकें !—

अन्यायी को जनगण के सम्मुख लांछित कर
मुक्ति दण्ड दे सकें उसे सत्पथ पर लाकर !
पूर्ण हो सके भू जीवन की आवश्यकता,
सर्व जीव समता जन की रह सके सुरक्षित !

श्रम-सुविधा, अवकाश सुलभ हों सब मनुजों को
हों समान अधिकार, विनय में हो उर दीक्षित !
गुण विशिष्टता का आदर, प्रतिभा का स्वागत,
मानव मूल्य समादृत, जन की रुचि हो संस्कृत !

प्रेरित हो सौन्दर्य-प्रेम के प्रति विकसित मन,
नये बोध के क्षितिज रहें खुलते अन्तर में !
सर्वोपरि, रचना प्रेमी हो भू जन का मन,
नयी उषाओं को आमन्त्रित करे धरा पर !

अड़तीस

अन्तर्दृष्टि मिली जो
उससे देख रहा हूँ
कितना क्षत विक्षत
आहत जर्जर मेरा मन
जग जीवन के आघातों से—
हृदय शिराएँ
दुखतीं घायल, सांस-सांस में
भू स्थितियों के
संघर्षण के शूलों से
छिद गये प्राण हों !

जीवन कांक्षा कुण्ठित
नवल प्रेरणा वंचित
कुम्हलायी-सी पड़ी
निराशा तम में लुण्ठित !

किन्तु भर दिये सभी घाव
तुमने अनजाने
अमृत स्पर्श से ! संघर्षण की
कटु झंकारें
पहुँच न पातीं उर श्रवणों में
अब मन को डँस !

मौन शान्ति के रस में
तन्मय मेरा अन्तर
सृजन निरत नित,
अन्तरिक्ष की नयी भूमि पा !
आस्था का आलोक व्याप्त
अस्तित्व में अखिल !—

ओ मानव मन,
जन भू-जीवन में चाहो यदि
नया सन्तुलन,
नव स्वर संगति,
नयी प्रगति या,
उठो, नयी मानवता की
भू पर विचरो तुम !

आस्था का कर पकड़
चढ़ो अन्तः शिखरों पर,
नव शोभा गरिमा
वितरित करने जन-भू पर !
अर्पित कर भूमा को जीवन—
मनुष्यत्व के
गौरव वाहक बनो विश्व में,—
आत्मजयी बन !

उनतालीस

आज साँप फुफकार भर रहे
मनुज जगत में
राग द्वेष के भद्दे फन
फैलाकर भीषण—
विगत युगों की
मनोवृत्तियों के
प्रतिनिधि ये,
तिक्त विषैली गन्ध
वायु मण्डल में छायी !

मानव विद्वेषी,
सत्कर्मों के प्रतिस्पर्धी,
घृणित स्वार्थ के
कृपण लोभ के
चितकबरे अहि !—
मनुज भद्रता से
ये लाभ उठाकर पलते
विश्व - प्रगति के पथ पर
कटु अवरोध खड़े कर !
आगे बढ़ो मनुष्यो,
वह नव भावभूमि है,
मानव की सद्वृत्ति जिसे
करती आलोकित !—

मनोविकृति को कुचल
लौह-पैरों के नीचे
मनुज क्षुद्रता का कर्दम
धो डालो मन से !

वहाँ नहीं विष भुजग रेंगते
निम्न स्वार्थ के—
मनुज वृत्तियाँ गुँथी
पुष्प हारों-सी सुरभित,
सहज स्नेह सहृदयता की
बाँहें फैलाकर,
भू-यात्री का स्वागत करतीं
आलिंगन दे !

वहाँ सृजन चेतना
सुनहली किरणें बरसा
भू रचना के प्रति
प्रेरित करतीं जन अन्तर !
अन्तरिक्ष खुल
नये भाव वैभव के विस्तृत
पथ निर्देशन करते
भटकी भ्रान्त बुद्धि का !

मनुज चेतना के विकास में
बनो सहायक,
विलमो मत हे,
प्रतीकार करने असत्य का !
लघु असत्य छाया - भर
बृहत् सत्य की धूमिल,
धरा परिस्थितियों के कारण
जो दिग्-धूसर !

चालीस

क्या है अन्तः सुख ?
उन्मद आकांक्षाओं के
उठे फनों पर पग धर,
नव प्रहर्ष से प्रेरित
सृजन-नृत्य करना
भावों की नयी भूमि पर !

उपचेतन की गुह्य वासना
अन्धकार हो भले उगलती
मदिर विपाक्त धूम फैलाकर !

ऊपर का आलोक
शक्ति की स्वर्णिम असि से
छिन्न-भिन्न कर
वाष्पों के घन
अन्तरिक्ष दे खोल नया
आँखों के सम्मुख—
जहाँ उषाएँ
निज सलज्ज मुख से
अवगुण्ठन उठा द्विधा का
नये सत्य का मुख दिखलायें
सौम्य रश्मि स्मित,
मनुष्यत्व की गरिमा
अंकित कर अन्तर में!

नव जीवन-सौन्दर्य
प्रेरणा दे भू मन को,
चित्त वृत्तियाँ
नव संस्कारों से हों भूषित!

काव्य बने धरती की
वास्तवता—शब्दों का
शिल्पी जन-भू जीवन-
शोभा का शिल्पी हो!—

निम्न वृत्तियाँ
स्वर-संगति में बँधें
सृजन की!

इकतालीस

शिशुओं के हित
धरा-स्वर्ग निर्माण करो नव,
काँटे नहीं गड़ें
विकास-प्रिय मृदु चरणों में!

कोमल अंकुर जीवन के वे
सतत बढ़ सकें
सुदृढ़ समृद्ध विश्व पादप में,
उन्नत रख सिर!

इनके लिए गढ़ो
प्रबुद्ध शिक्षा पद्धति नव,
समझ सकें वे अपने को,
जग को, जीवन को!—

ईश्वर के प्रति बँध
अटूट स्वर्णिम आस्था में !—
जिसके वे निश्छल
पवित्र प्रतिनिधि पृथ्वी पर !
नयी पौध अतिक्रम कर
गत इतिहास का गरल,
लाँघ रूढ़ियों का समुद्र
खारा, पथराया—
नव मानवता की प्रतीक
बन सके धरा पर !
खुलें नये आलोक क्षितिज
उनके दृग सम्मुख,
नयी उषाएँ
नयी प्रेरणाएँ दें उनको—
नव जीवन की रचना जग में !

राग-द्वेष से मुक्त—
शान्ति, आनन्द प्रेम
परिवेश से घिरे
वे सौन्दर्य बखेरें जग में
मनुज हृदय का !

बयालीस

एक विश्व है और एक ही ईश्वर,
गहरा होता सत्य हृदय के भीतर !
छोटे ही घर से सन्तोष करे मन,
सुलभ न जन को झाड़-फूंस के आँगन !

अन्न-वस्त्र से हीन जहाँ नर-पंजर
जिह्वा रस लोलुपता वहाँ भयंकर !
यह नैतिक दायित्व मनुज कन्धों पर
सुख से रहें जगत् में सभी चराचर !

नारी को वन्दिनी किये गत पशु नर,
प्रीति-मुक्ति का स्वर्ग धरा पर दूभर !
भू कुटुम्ब जब, श्लाघ्य नहीं तब निज-पर
विश्व व्यवस्था बने सर्व श्रेयस्कर !

स्वर्ग धरा पर उतर न पाता निश्चय,
लूट नहीं ले मनुज-स्वार्थ सुर-संचय !
स्वाभिमान से कैसे रहे मनुजवर
विश्व सभ्यता कोरी बाह्यडम्बर !

गहराता जाता दिगन्त में जब तम,
नव प्रभात रहता न दूर,—यह विधि क्रम !

तैंतालीस

कितनी धरती हैं जाने
धरती के भीतर,
शस्य - श्यामला यह जो
जन जीवन की धरती
यह अनन्त यौवना धरा !
शाश्वत वसन्त नित
विचरण करता जहाँ
वनों, क्षितिजों, अजिरों में ?

गूँजा करते मधुप
वृन्त कुसुमित कुंजों में,
आम्र मंजरी का प्रेमी पिक
मर्म कूक भर
प्रणय वेदना
उकसाता रहता अन्तर में,
आशा-कांक्षा, हास-अश्रु की
मिलन - विरह की
जन धरणी यह
जन्म-मृत्यु की, हार-जीत की
रंगमंच क्षण भंगुर—
दृश्य बदलते जिसमें !
जब मैं प्रौढ़ हुआ,
आँखों से स्वयं यवनिका
उठ-सी गयी ! मंच पर धीरे
दृश्य नया ही
परिवर्तित हो गया अजाने !
क्या देखा तब
एक मनोमय नया धरातल
निखर रहा है
जीवन की जड़ धरती से !—
जो गौण हो गयी !
सारे सुख-दुख, आशा-कांक्षा
कर्म प्रेरणा
मिमट-से गये ! एक
सुव्यवस्थित चित् पट पर,
जहाँ मूल्य निर्धारित
उनका होता प्रतिक्षण !

खोटा खरा निकष पर
परखा जाता सोना,
मुक्त नहीं बाहर की भू
इस अन्तर्जग से ?—

ज्वाला-ज्योत्स्ना का प्रदेश जो
सूक्ष्म गुह्यतर !
दिग् विस्तृत, संकीर्ण
यहाँ भी पन्थ अनेकों
मतान्तरों, वादों,
आदर्शों से पद-चिह्नित !
श्रान्त हुए जब चरण
बुद्धि के विविध पथों पर
भटक-अटक कर,—
मन्थन जगा गभीर हृदय में !

सहसा घूमा ज्योति चक्र-सा
उर के भीतर,
एक नया ही अन्तरिक्ष
खुल गया दृष्टि में !
मनोदेश से जो व्यापक
निःसीम, गहनतम !

अमृत कृपा के कनक हास्य से
आलोकित था
जिसमें मानव भावी की
श्रीमुख रेखांकित !
स्वर्ग क्षितिज था वह
धरती के वक्ष में छिपा
जहाँ स्रोत थे मन के,
प्राणों के जीवन के !

व्यक्त जगत् से था
अव्यक्त असीम महत्तम,
मनुष्यत्व की श्रीशोभा
महिमा गरिमा से
रश्मि विमण्डित वह
अनिन्द्य चैतन्य लोक था !

वयोवृद्ध मैं ! हृदय भोगता
नयी चेतना का
यौवन अब, पूर्ण काम
आनन्द समाधित !

चौवालीस

भाव साधना सबसे कृच्छ्र धरा पर,
यदि सुन्दरता प्रेमी भी हो अन्तर !
पंक ग्रस्त रहता साधक उपचेतन,
नैतिक उससे जन-भू में डूबे जन !

जग जीवन के कर्दम से हो परिचित
भू-मानस करता वह सागर-मन्थित!
तुच्छ पंक से ऊपर उठ, हो निश्छल
हृदय कमल के खिल उठते आभा-दल!

जब तक भव आघातों से उर दंशित
काम वेग करता भय कुण्ठा मज्जित!
उच्च दिगन्तों को जब छू लेता मन
उसे नहीं लगते तब जीवन-दंशन!

आत्मा का सौन्दर्य स्पर्श पा अक्षय
भाव लोक में विचरण कर मंगलमय
भव-संघर्षों में नव स्वर संगति भर
प्राण फूंकता जन-मन में लोकोत्तर!

अन्धकार का स्पर्श न उपजाता भय
उर रहता स्वर्णिम,—प्रकाश में तन्मय!
कवि अन्तर आनन्द-स्रोत से प्रेरित
जीवन-कांक्षा को करता रस-संस्कृत!

पैंतालीस

वह अपने को बना सका न विनम्र पूर्णतः
और न अर्पित ही कर सका अहंता अपनी—
हाँ, विशिष्ट अपने को रहा समझता निश्चय!—
इसीलिए कर सका ग्रहण न विभव प्रकाश का!

महत् भाव को जन्म नहीं दे सका जगत् में
दिशा भी न निर्देश कर सका मानवता को!
भले रहे वह आज प्रतिष्ठित पिछलगुओं के
हृदयों में!—औ' जीवित भी उनकी साँसों में!

नाम लिखे इतिहास स्वर्ण वर्णों में सम्प्रति,
कालजयी वह नहीं बन सकेगा निःसंशय!
वस्तु जगत् के बोझ से दवा, निज में सीमित,
महत कर्म करने के लिए रहा अक्षम वह!

आज भव्य स्मारक बनते उसकी मृत स्मृति को
संरक्षित रखने को! जन-मन में प्रचार कर
उसे देवता बना रहे नव मानवता का!—
संघ शक्ति की रज-बाँहों में उसे उठाकर!

किन्तु, उच्च चैतन्य शिखर का दीप्त स्पर्श पा
रीढ़हीन जन में न भर सका अमर शक्ति वह!
आभिजात्य गरिमा के स्वर्णिम पिंजर का खग
पंख मारता रहा बुद्धि की रिक्त परिधि में!

छियालीस

जीवन में घटते विचित्र परिवर्तन
तम प्रकाश की आँख-मिचौनी भू मन !
अविश्वास-विश्वास हृदय को मन्थित
करते—श्रद्धा अश्रद्धा से प्रेरित !

कभी परिस्थितियों से मनुज पराजित,
जयी कभी वह, अर्जित उर का इच्छित !
कर्म प्राण जन-भू यथार्थ का आँगन,
सत्यानृत जीवन-यथार्थ के साधन !

सुख-दुख के पाटों से जन उर मर्दित,
राग द्वेष तृष्णा ममता से पीड़ित !
जड़ यथार्थ जन-भू का अभी अविकसित
हृदय रक्त से धोना इसको निश्चित !

जब तक हो न जगत् बहिरन्तर संस्कृत
विश्व सभ्यता स्वप्न रहेगा खण्डित !
भौतिक आध्यात्मिक हों लोक समन्वित,
ज्ञान और विज्ञान-शक्ति संयोजित !

जगत् द्वन्द्व से ईश्वर परे असंशय,
आस्था पथ से पाते उसको सहृदय !

सैंतालीस

बीते जीवन की स्मृतियाँ घिर
धूप - छाँह के
पंख मारकर
मँडराने लगतीं अन्तर में—
फिर अतीत के प्रिय खूँटे में
बाँध चित्त को !

विस्मय होता, पिछला जीवन
कहीं चित्रपट में
अब भी जीवित है,
मन के सूक्ष्म लोक में ! ···

सात साल का शिशु
मखमल के कपड़े पहने
पूज रहा शिवजी को
आँगन के कोने में—
एक लाल चिकने पत्थर को
खोज नदी से
स्थापित कर उसको
निश्छल शैशव निष्ठा से !

रंग - बिरंगे उपल
अनेकों बहते रहते
क्षिप्र पहाड़ी उत्सों के
फेनिल प्रवाह में
स्रोतों-सा ही चंचल रहता
शैशव का मन
घूर्णित प्रतिपग
हास-अश्रु के आवर्तों में !

वह देखो, भूरे रँग का
बिल्ली का बच्चा
घर में है आ गया कहीं से !
उसके
पागल रहता है मन ! पीछे
उसको
साथ खिला-पिलाकर
सुलाकर
उसका प्रिय रुरुआना सुनता!

मेरी बहिनें उसे प्यार से
जोगी
मँझले भाई उसे पीटते कहतीं !
मुझे
रुलाने !

मुझमें मँझले भाई में
सोने से पहिले
अधिक दूध पीने की
होड़ लगी रहती है !

घर का बूढ़ा नौकर
बिस्ना बड़ा चतुर है !
वह दोनों के लिए
एक-से ही गिलास में
दूध नित्य लाता है !

मैं घर में छोटा हूँ
मुझे रिझाने को वह
कानों में कहता—
भैया, जल्दी पी लें
मैं
दूध दबा-दबाकर
आपके लिए
बहुत मीठा लाया हूँ !
तह पर तह बालाई की
मोटी परतें रख !

मैं अपने भोलेपन में
उससे प्रसन्न हो
दूध गटक लेता तुरन्त—
खाली गिलास कर !

झाड़ू देने में वह
गिरी बहिन की चूड़ी
या सोने की बाली
कानों में लटकाकर
काम किया करता चुपके,—
सबसे अजान रह !

बहिन देख, जब कान खींचती,
हँसकर कहता—
बहुत बालियाँ लगीं
धान-जौ के खेतों में !
आप कहें तो
अभी तोड़कर ला दूं !

विस्मित, बहिन पूछती—
सच कहते हो !
बिस्ना चुपके मुसका देता !

अब जाड़े की सन्ध्या
गहराती जाती है !
मैं आँगन की
चारदिवारी पर बैठा हूँ !
और पैर के तले पड़ी
लम्बी रस्सी से
खेल रहा हूँ—हिला-डुला
उसको पाँवों से !

इतने में भाई आ जाते
मुझे खोजते—
वे भयार्त हो चिल्ला उठते—
क्या करते हो !
इतना मोटा साँप
रेंगता पैर के तले,
मूर्ख, उसे तुम कुचल रहे
तलुओं के नीचे !
अगर उलटकर कहीं
काट ले तो ? ···स्तम्भित-सा
सिट्टी-पिट्टी भूल गया हूँ
मैं कुछ क्षण को !

साँप ?···खड़े हो गये
देह के त्रस्त रोंगटे,
कूद हिरन - सा
गलियारे के पार तुरत मैं
पहुँच गया कमरे में
भाई को घसीटता !
विस्मय मूढ़ कि
क्यों न साँप ने काटा मुझको!

साधू बाबा एक आ गये
लो, अब घर में,
आँगन में धूनी ली रमा
उन्होंने अपनी !

बूढ़े हैं वे, एक दाँत है
केवल मुँह में !
हँसकर कहते,
एकदन्त का वर यह बच्चे !
रामायण, भागवत,
महाभारत सब उनको
है कण्ठस्थ ! प्रसंग सुनाते
उनसे चुनकर,
श्लोकों को धारा प्रवाह
उद्धृत कर मुख से !

पिता सहज श्रद्धालु
सन्तजन के सेवक हैं !
मुझे दिखाकर कहते उनसे—
मेरा सबसे छोटा
मातृहीन बच्चा है !

आँख मूँदकर
साधू कहते—
छोटा ? या कि बड़ा यह सबसे ?
इतने में कौआ आ एक
बैठकर तरु पर
काँव-काँव कर उठता—
देख उसे साधू ने
जा, बच्चा, जा—कहा,
और उड़ गया काक वह !
वे बोले,
मैं मन्दिर बना रहा हूँ
शिव का, सोमेश्वर में,—
पत्र एक उसके बारे में

यहाँ डाकघर में आता है,—
    कौन ले या
यहीं आन बतलाये!

    मैं आश्चर्य चकित हो
गया डाकघर में जब दौड़ा—
    निकट रहा जो—
सचमुच, बाबाजी के नाम
    एक चिट्ठी थी!
पता लिखा था—
    बाबा शंकर गिरि को
यानी मिले—
    डाकघर कौसानी में!

मैंने चिट्ठी खोल
    सुना दी बाबाजी को—
        आशा पाकर!

शिव प्रतिमा की
    प्राणप्रतिष्ठा की तिथि उसमें
        लिखी हुई थी!
बाबाजी को, बाद नमन के,
यहाँ बुलाने का आग्रह था;
    तिथि से पहिले!
        ऐसे कितने अद्भुत
            आश्चर्यों से जाने
        मेरा शैशव का संसार
            गढ़ा था विधि ने!

अब भी मुझको
    कभी स्मरण हो आता उनका!—
तर्क बुद्धि की सीमा
    तब मन अनुभव करता!
        बड़ा सुखद होता निःसंशय
            शैशव का जग,—
        सभी नया लगता,
            सबसे मिलता दुलार है!
        शुभ्र हिमालय की
            गरिमामय पृष्ठभूमि में
        अब भी लगता
            जीवन की पगडण्डी पकड़े
        विस्मय मुग्ध किशोर एक
            बढ़ता अनजाने
        छाया संकुल जग जीवन के
            दुर्गम वन में!

जाने कौन उसे दिखलाता
राह अपरिचित,
वयोवृद्ध मन भी
रहस्य यह जान न पाया !

अड़तालीस

हाय, जन्म दे सकी नहीं
सभ्यता अभी तक
महत् भाव को !—
जो उल्लसित करे मानव को
सूक्ष्म स्पर्श से—
खुलें नये वातायन उर में
ज्योति प्रज्वलित !
पिटी - पिटायी भू से उठकर
मनुज चेतना
दीप्त रूप-क्षितिजों में विचरे,
नये बोध के पंख खोलकर,
लोक प्रेम की
विश्व मुक्ति में !
वस्तु भार से दबी न रेंगे
मात्र बाह्य जग के कर्दम में
विश्लथ पग धर !
जड़ यन्त्रों की तरह
बँधी नियमित भव गति में !
आज हृदय की क्रान्ति,
भाव की क्रान्ति चाहिए
मानव जग को !
बुद्धि भ्रान्त जो
महाध्वंस लाने को उद्यत ;—
वस्तु बोझ से जिसकी आत्मा
बहिर्भ्रमित, कुण्ठित,
आस्था-बल आज खो चुकी !
महाभाव चाहिए—
सभ्यता
नव संस्कृति का
रस संजीवन पा वह
नव स्वर-लय में बाँधे
जड़ीभूत बिखरी
मानव-जीवन की गति को
नया ध्येय दे, नयी दिशा,—
नव सूर्योदय कर रहा प्रतीक्षा !

उनचास

निश्चय ही, बहुमुखी सत्य मानव स्वभाव का,
दृष्टिकोण मिलते अनेक, नित मानव मन में—
विविध विचारों, तर्कों, सिद्धान्तों के आश्रित
पृथक् अनुभवों, रुचियों संस्कारों से प्रेरित !

लगता, जीवन एक बृहद् वर्तुल गुम्बद हो,
दर्पण के टुकड़ों से जुड़ा हुआ—अनेक मुख
जिसमें बिम्बित भिन्न रूप रेखा आकृति के
भिन्न प्रकृति के,–विश्व सत्य में सहज समन्वित !

व्यक्ति व्यक्ति को समझ नहीं पाता है, इससे
वैमनस्य, ईर्ष्या, स्पर्धा है जग जीवन में !
ऐसी व्यापक लोक चेतना नहीं बन सकी
जो समेट ले भिन्न प्रकृति, रुचि, संस्कारों को
संयोजित कर उन्हें महत् भू-संस्कृति पट में !

सतत प्रतीक्षा में रत प्राज्ञ जनों का अन्तर
एक महत्तर मनुष्यत्व ले जन्म जगत् में ! —

मग्न कर सके भू-विरोध जो भाव-जलधि में ! —
हृदय-ज्वार में डुबा युगों की जड़ सीमाएँ
मुक्त चेतना आलिंगन में बाँध जनों को !

पचास

कहाँ जा रही ये सरिताएँ ?
कौन बुलाता इन्हें
मौन गोपन इंगित कर ?
किसे समीरण
अर्पित करता, निज अंचल में
वन कुसुमों की
सौरभ संचित कर चुपके से !

शैल खड़े ये
किसके दृढ़ संकल्प सदृश
ऊँचा मस्तक कर !

अग्नि शिखा होकर प्रज्वलित
तेज से किसके
पहुंचाती भू-कर्मों की हवि
स्वर्ग द्वार तक ?
सब कुछ जग में गूढ़
अदृश्य रहस्य में मग्न !

किसके इंगित से
स्पन्दित हो हृदय मनुज का
शिरा जाल में प्रतिक्षण
धावित करता शोणित ?—

आदि प्रश्न ये !
सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण
किसकी परिक्रमा करते
अविरत गतिलय में ?

उत्तर सम्भव नहीं !
बिन्दु की स्थिति - भर हो
परिमाण नहीं हो
उससे ही बनतीं रेखाएँ
रूपाकृतियाँ !—
निराकार साकार स्वयं
हो उठता हो ज्यों !

आज अनास्था, त्रास,
निराशा, मृत्यु, नास्ति से
(सत्य-बोध की ऋण अनुभूति
मनुज मन में जो !)
सृष्ट हो रहा नया जगत्
मानव अन्तर में—
उदय हो रहा सूर्यों का
नव सूर्य—नव हृदय—
चिदाकाश में,
नव प्रभात
होने को भू पर !

इक्यावन

भारत का नेतृत्व ग्रहण फिर करो, महात्मन्,
जन-मन में ले जन्म आज दो अक्तूबर को !
पुनः तुम्हारी आवश्यकता, सत्य के व्रती,
सत् संकल्प शक्ति पर्वत, फिर विचरो भू पर !

युद्ध करो मन की दरिद्रता से वर्गों की,
जन को कर संगठित, पुनः अन्यायों के प्रति !
अनाचार रोको अविजेय अहिंसक रण से,
पद-मदान्ध भू-शासक बनें विनत जन-सेवक !

बढ़ती जाती घोर विषमता भू-जीवन में,
दैन्य दुःख पंजर आँखों में घूमा करते
नगरों की भीड़ों में, गाँवों की गलियों में !

नग्न स्वार्थ, धन-लिप्सा के जड़ कंकालों से
पद मर्दित भू—रूढ़ि रीतियों के प्रेतों से !

कातो जड़ता के तम को चेतन सूत्रों में
मानवीय पट बुनो पुनः श्रद्धा आस्था का,
जीवन-मांसल हो जन, मानव गरिमा मण्डित !
ज्योति जागरण की जो जगा गये थे मन में
काले मेघों से घिर कुम्हला गयी तिमिर में !
एक बार लो जन्म पुनः भारत के आत्मन्,
विश्व प्रतीक्षा में विनाश के छोर पर खड़ा !

बावन

पतझर के वन में जैसे आता वसन्त है
देख रहा, वैसे ही निर्मम नग्न ह्रास
विघटन के युग में बापू, तुम अवतरित हो रहे
शान्त सौम्य नव मानवता के प्रतिनिधि बनकर !

भू जीवन रचना में कर जन पुनः संगठित,
तुम नव युग निर्माण युद्ध के हित भारत के
स्वार्थ लुब्ध, पद-मत्त, शक्ति स्पर्धी शासन को
फिर जन-सेवा का व्रत सिखला जाओ अपना !

अत्याचारी को जन सम्मुख नत मस्तक कर
हृदय शुद्धि की विशद प्रेरणा दे युग-मन को,
मनुज बुद्धि के पट खोलो फिर वस्तु लोभ से अन्ध,
मुंद गये जो निःसंशय लक्ष्य भ्रष्ट हो !

विविध जाति वर्गों को सक्रिय सृजन सूत्र में
मनुज प्रेम के बाँधो फिर जन-भू मंगल हित !

भाव सम्पदा में परिणत कर वस्तु सम्पदा
सम्प्रदाय, प्रान्तों में खोये राष्ट्र के लिए !
कर्म चेतना के प्रतीक, नव युग प्रभात का
ज्योति रक्त फिर गाये हृदय शिराओं में वह !

तिरेपन

काँटों का मग, दुविधा के डग, खाई-खन्दक भीषण,
दूर क्षितिज में सुन पड़ता युग विस्फोटों का गर्जन !
प्रतिस्पर्धी देशों में खण्डित भग्न धरा का जीवन,
भटक गया अब ध्येय भ्रष्ट हो बहिर्भ्रान्त मानव मन !

हृदय द्वार खोलो निरुद्ध है भू जीवन के साधक,
मानवता के पथ में बहुमत बुद्धि बन रही बाधक !
खोलो द्वार हृदय-मन्दिर के श्रद्धा कर शित अर्पित,
नीराजन नित करो भावना दीपों से दिग् ज्योतित !

नयी चेतना के प्रकाश से हृदय बुद्धि हों मण्डित,
वस्तु जगत् के तम में खोया मनुष्यत्व हो जागृत !
भौतिक मरु की मृग तृष्णा से प्यास बढ़ेगी प्रतिक्षण,
अन्तर्मुख आस्था धारा में डूब करो अवगाहन !

चौवन

इसमें कुछ सन्देह नहीं—
कुसुमित वसन्त वय
बीत चुकी अब, कृच्छ्र ग्रीष्म
सुरधनु वर्षा भी
नहीं रहे अब ! मुझे शरद की
ज्ञान-नीलिमा के
आँगन में विचरण करना
सौम्य प्रौढ़ि में !—
भाव शुभ्र ज्योत्स्ना में
नम्र धुले आतप में !
दूर क्षितिज में
मुझे दीखता मनोदृष्टि से
जरा अस्थि पंजर
पतझर का शिशिर-विकम्पित—
जिसे पार कर,
जरा मृत्यु भय हीन चेतना
देख रही है नयी कोपलें
अन्तरिक्ष में
जन्म ले रहीं
नव श्री शोभा वैभव रञ्जित,—
नयी पौध के चरण बढ़ातीं
जीवन पथ पर
कहता मेरा अन्तर
भावी के दर्शन में
क्या न छिपा है
मानव का अमरत्व अगोचर ?
क्षण की भंगुरता को
प्रतिक्षण लाँघ न क्या वह
बढ़ता जाता आगे
शाश्वत के प्रतिनिधि - सा ?
पावस, ग्रीष्म, वसन्त
नहीं क्या जीवन में फिर
आते लौट ? नया शैशव,
नव यौवन बनकर ?
सृष्टि चक्र घूमता
मृत्यु को अमृत स्पर्श दे !

पचपन

नीचे से निर्माण हमें
करना है— कहते
रहते, भू-शासक,
पर, नीचे स्वयं उतरकर
जन जीवन का वे
निर्माण कभी करते भी ?

ऊपर की सुविधाओं के
अभ्यस्त बुद्धि मन
जनगण को बहकाकर
उनका जीवन दुहकर
अपनी सुख-सुविधाओं के
निर्माण में सतत
रहते रत !

नीचे तन - मन के
भूखे नंगे
जन कर्मियों के
कटुतम जीवन संघर्षण से
लाभ उठाकर !
पीस करों के खर पाटों में
अल्प आय की आयु
प्रजा की—
हृदयहीन बन !

धरती क्या चाहती ?—
उसे ऊँचे नभचुम्बी
हर्म्यों में रहनेवाले
क्या समझ सकेंगे ?

समता के बीजों के बदले
जो कि विषमता
बोते उर्वर जन-भू अंचल में—
वे शासक
बने रह सकेंगे क्या
लोगों के हृदयों के
सिंहासन के ?

धरा चाहती साथ अन्न के
महाभाव की स्वर्णिम फसलें भी
उसकी रज उगले जग में !

उदर क्षुधा संग
हृदय तृषा भी
तृप्त कर सके वह मानव की
जड़ ग्रौ' चेतन
दोनों मूल्यों का संयोजन
हो जीवन में !

छप्पन

ग्रपने भीतर
मुझे एक ग्रालोक पुरुष का
ग्रनुभव होता—
जो ग्रपने में पूर्ण है स्वयं !

उसकी श्री शोभा गरिमा को
देख ग्रलौकिक
मन ग्रवाक् रहता विस्मय से !—

ग्रौर सोचता—
कैसे मेरा जीवन
वैसा ही ज्योतिर्मय
ग्रन्तः श्री-सौन्दर्य-युक्त,
ग्रपने ही में स्थित
सहज बन सकेगा !—
जो जन-भू के जीवन को
ग्रपने ग्रन्तर के प्रकाश से
धोकर निर्मल
विश्व रूप में ढाल सके
महिमा मण्डित कर,
मानव का गौरव
ग्रक्षुण्ण रहे जिससे नित !
स्वाभिमान से विचर सकें
नर-नारी निर्भय !
हृदय बुद्धि रह सकें समर्पित
नव दम्पति से !

मनुज-प्रीति पर्याय हो हृदय,
भू मंगल प्रति
लोक कर्म प्रति
हो जन बुद्धि ग्रनवरत प्रेरित !
भू रज में सन
भू रज से ऊपर
मानवता
भाव स्वर्ग में रहे—
एकता में ग्रालिंगित !

सौंधी, भू गन्धी,
तारापथ-सी दिग् दीपित,
बहिरन्तर, जड़ चेतन
स्थूल सूक्ष्म संयोजित !

सत्तावन

सूर्य सूर्य की तरह
चन्द्र को चन्द्र की तरह
रखते हैं जो—वे दीपक को
दीप रूप ही में
रखते यदि—सृष्टि नियम यह !
यदि प्रदीप भी
रहना चाहे सूर्य की तरह—,
अनुचित होगा !
दीप रहे यदि दीप की तरह—
उसमें जो
शोभा गरिमा है,
वही सूर्य को सूर्य रूप में
रहने में है—
इसमें कुछ सन्देह न मुझको !
एक गुह्य पूर्णता
सृष्टि के नियमों में है !
अपने को अर्पित करने ही से
समग्र को
उसका सूक्ष्म बोध होता है !
जीव चेतना
एक विश्व स्वर संगति में
तब बँध जाती है !
हम हैं अल्प प्रजा उसकी
जो महापुरुष भी
निर्मित कर सकते जग में !
साधारणता में
छिपी असाधारणता भी है,—
मुझे न संशय !
मैं अन्याय नहीं कर सकता
अपने प्रति या
ईश्वर के प्रति, असन्तोष कर
उसकी लघुतम कृति से
—जो मैं—
महिमा के कन्धों पर निश्चय
होता नित दायित्व महत्,
कर्तव्य महत्तर !

अट्ठावन

तुमको पाकर मैं प्रिय सुमिते,
आज गोद में
अनुभव करता हूँ
चरितार्थ हुआ अब जीवन!

भूख प्यार की मेरी
तूने तृप्त पूर्णतः
कर दी : तू जो कुछ भी
चाहेगी जीवन में
तुझे नहीं रोकूँगा!

सदा समर्थन उसका
किया करूँगा! तुझे निकट से
निरख - परखकर
समझ सकूँगा मैं
मनुष्य की गहन प्रकृति को!—

क्योंकि प्यार करता मैं तुझको—
और प्यार ही
अन्तर्दृष्टि सदा देता है
सत्य बोध की!
मात्र प्रेम पर ही निर्भर हैं
कार्य सृष्टि के!
वह ऐसा असहाय बनाती
क्यों नव शिशु को?
जिसके पालन-पोषण में नित
प्रेम प्रतीक्षा
करता प्रतिक्षण
जननि जनक की औ' कुटुम्ब की!

बिना प्रेम के सहज बोध के
मृदुल मुकुल-सा
कोमल बालक
कभी बड़ा बनकर जीवित भी
रह सकता क्या
कुटिल कँटीले जीवन पथ पर?

इसमें क्या संशय
प्रत्येक नया शिशु जग में
नयी कल्पना को ईश्वर की
मूर्तित करता!

शिशु ही सदा रहेगा मानव
इस निःसीम
निसर्ग पालने में
नित ह्रास विकास दोल में
दोलित !
मनुज-प्रेम-कर से ही होता
पोषित, पूर्ण सुरक्षित
मनुज समाज—
हृदय का प्रतिनिधि !

उनसठ

अवचेतन की अन्ध शक्तियाँ कभी उभड़कर
राग-द्वेष, हिंसा-स्पर्धा का, क्रोध लोभ का
अन्धकार भर देतीं उर में प्रलय मेघ-सी !

तब लगता, किस स्तर पर भू संघर्षण जग में
चलता प्रायः, स्वार्थ मोह तृष्णा प्रमाद की
प्रवृत्तियों में ! अपसंचय की घृणित लालसा
वंचित रखती अन्न वस्त्र सुविधा से जन को !—
ऋण प्रवृत्तियाँ जो निर्मम मानव स्वभाव की !—

जिनके सम्मुख आज पराजित भाव चेतना !
जब तक व्यक्ति समाज न होंगे ऐक्य सन्तुलित,
वस्तु व्यवस्था, अर्थ शक्ति होगी न समन्वित
मनुज हृदय के भाव-मूल्य से भू जीवन में,
सम्भव तब तक नहीं सभ्यता का रूपान्तर !—

तर्कों वादों, कटु संघर्षों में खोये जन
निर्मित कर सकते न सौध सामाजिकता का…
मनुज प्रेम का स्वर्ण कलश धर उन्नत सिर पर,
मानवीय गरिमा का केतन फहरा नभ में !

साठ

कविते,
तेरे मुक्त कल्पना पंखों में उड़
पार किये मैंने
कितने ही बोध क्षितिज नित
भावों की स्मित
सुरधनु छायाओं से मण्डित !

सूक्ष्म चेतना के अव्यक्त अगीत स्वरों का
श्री-सौन्दर्य किया चित्रित रस सिद्ध तूलि से—
मणि शृंगों पर आरोहण कर अन्तर्मन के !

अट्ठावन

तुमको पाकर मैं प्रिय सुमिते,
आज गोद में
अनुभव करता हूँ
चरितार्थ हुआ अब जीवन!

भूख प्यार की मेरी
तूने तृप्त पूर्णतः
कर दी : तू जो कुछ भी
चाहेगी जीवन में
तुझे नहीं रोकूँगा!

सदा समर्थन उसका
किया करूँगा! तुझे निकट से
निरख - परखकर
समझ सकूँगा मैं
मनुष्य की गहन प्रकृति को!—

क्योंकि प्यार करता मैं तुझको—
और प्यार ही
अन्तर्दृष्टि सदा देता है
सत्य बोध की!
मात्र प्रेम पर ही निर्भर हैं
कार्य सृष्टि के!
वह ऐसा असहाय बनाती
क्यों नव शिशु को?
जिसके पालन-पोषण में नित
प्रेम प्रतीक्षा
करता प्रतिक्षण
जननि जनक की औ' कुटुम्ब की!

बिना प्रेम के सहज बोध के
मृदुल मुकुल-सा
कोमल बालक
कभी बड़ा बनकर जीवित भी
रह सकता क्या
कुटिल कँटीले जीवन पथ पर?

इसमें क्या संशय
प्रत्येक नया शिशु जग में
नयी कल्पना को ईश्वर की
मूर्तित करता!

शिशु ही सदा रहेगा मानव
इस निःसीम
निसर्ग पालने में
नित ह्रास विकास दोल में
दोलित !
मनुज-प्रेम-कर से ही होता
पोषित, पूर्ण सुरक्षित
मनुज समाज—
हृदय का प्रतिनिधि !

उनसठ

अवचेतन की अन्ध शक्तियाँ कभी उभड़कर
राग-द्वेष, हिंसा-स्पर्धा का, क्रोध लोभ का
अन्धकार भर देतीं उर में प्रलय मेघ-सी !

तब लगता, किस स्तर पर भू संघर्षण जग में
चलता प्रायः, स्वार्थ मोह तृष्णा प्रमाद की
प्रवृत्तियों में ! अपसंचय की घृणित लालसा
वंचित रखती अन्न वस्त्र सुविधा से जन को !—
ऋण प्रवृत्तियाँ जो निर्मम मानव स्वभाव की !—

जिनके सम्मुख आज पराजित भाव चेतना !
जब तक व्यक्ति समाज न होंगे ऐक्य सन्तुलित,
वस्तु व्यवस्था, अर्थ शक्ति होगी न समन्वित
मनुज हृदय के भाव-मूल्य से भू जीवन में,
सम्भव तब तक नहीं सभ्यता का रूपान्तर !—

तर्कों वादों, कटु संघर्षों में खोये जन
निर्मित कर सकते न सौध सामाजिकता का···
मनुज प्रेम का स्वर्ण कलश धर उन्नत सिर पर,
मानवीय गरिमा का केतन फहरा नभ में !

साठ

कविते,
तेरे मुक्त कल्पना पंखों में उड़
पार किये मैंने
कितने ही बोध क्षितिज नित
भावों की स्मित
सुरधनु छायाओं से मण्डित !

सूक्ष्म चेतना के अव्यक्त अगीत स्वरों का
श्री-सौन्दर्य किया चित्रित रस सिद्ध तूलि से—
मणि शृंगों पर आरोहण कर अन्तर्मन के !

मनुज प्रकृति की दया-प्रेम की मधुर वृत्तियाँ
गूँथीं संवेदना मुखर स्वरलय संगति में—
विश्लेपण कर गूढ़ हृदय सम्बन्धों का सित!
किन्तु, कुटिल मनुजों की निर्ममता नृशंसता
मैं मुखरित कर सका न खर डंके के स्वर पर
अन्धकारमय कीचड़ में धँस घृणित नरक की!

यह उदारता, क्षमा भाव, कोमल सहृदयता,
या दुर्बलता ही जाने मानव स्वभाव की—
दुष्टों की दुष्कृतियाँ जिनकी घनी कालिमा
ढँक दे सम्भव जीवन में जो किंचित् सुन्दर!—
विज्ञापित हो पातीं नहीं जगत् में सम्यक्!

इकसठ

यह कुण्ठित आक्रोश
कि नर ने नरक बनाया,
पीड़ित होकर,
आततायियों के कृत्यों से!...
वहाँ दण्ड पायेंगे वे—
सन्तोष ग्रहण कर!

मन की दुर्बलता को छोड़,
दुष्ट, दुर्जन को
यहीं चाहिए दण्डित करना—
मनुज धर्म यह!

भू का आँगन
जिससे कण्टक हीन बन सके!
यहीं नरक का ताप
आततायी जन भोगें!
शिक्षा जिससे मिले
अन्य दिग्-भ्रान्त जनों को!

न्यायालय हाथी के दाँत
दिखाने - भर के!
और, स्वर्ग की रचना
अब तो इसी धरा पर
हमको करनी!
सुख सुविधा उपभोग कर सकें
जिससे अगणित जन,
उदात्त भावों से प्रेरित!

मानवता निर्माण कर सकें
इस पृथ्वी पर
स्वर्ग नरक के मिथ्या
स्वप्नों से विरक्त हो!

सभी देव निश्चय
मानव अन्तर में रहते
वही सजग ईश्वर का प्रतिनिधि
धरा-स्वर्ग का!

बासठ

अनजाने ही जाने कैसा
रस प्रहर्ष का
स्रोत फूट पड़ता है कभी
हृदय में सहसा—
कुछ भी नहीं समझ में आता
गोपन कारण
इस निश्छल अनुभूति का परम!
हाँ, छुटपन में
दूर देश से भैया जब
घर में आते थे,
या मन का अभ्यागत
आ जाता कुछ दिन को—
तब कुछ ऐसा हर्ष—
स्मरण आता—होता था,
पर, इतना उन्मुक्त नहीं!
अब कुछ ऐसा घटित
नहीं होता जीवन में
नया लगे जो,
अथवा जो अद्भुत, आह्लादक!
कहते, जब मन की इच्छा
पूरी होती है,
सुख मिलता है!
और न यदि वह पूर्ण हुई तो
दुख का दंश चित्त को लगता!
यह सम्भव है!
पर, ऐसा हर्षातिरेक हो
अनायास ही,
और हृदय को सहज
शरद की-सी निर्मलता
अनुभव हो—अथवा
प्रभात की-सी पवित्रता,—

ऐसी स्वर्गिक स्फूर्ति
शक्ति नव देती मन को,
ईश्वर का-सा जग
दिखलायी पड़ता जग में !

तिरेसठ

स्वप्नों का - सा पट
अब बुनने लगीं वायुएँ—
अपनी कोमल चपल
अँगुलियों में उलझा मन !

शरद स्निग्ध आकाश
नील दृग भाता निर्मल,
भू पर लेटीं छायाएँ
लगतीं अलसायीं !
उग्र निरंकुश अधिनायक-सा
भीष्म ग्रीष्म का
ताप मिटा अब !—
प्रजातन्त्र की-सी समता ले
नव ऋतु आयी,
फल फूलों से गूँथ बगीचे !
अब न सताती नींद,
देह मृग - सी फुर्तीली,—

बातें करतीं मुग्ध मर्मरित
खुली दिशाएँ—
रेणु-पंख सिमटा निज
क्षिप्र श्येन - सी आँधी
गिरि खोहों में सोयी,
गन्ध ग्रथित समीर अब !

जरी किनारी - सी ज्यों
टँगी विटप पत्रों की
कोरों पर हेमाभ धूप
छायी बीथी में—
सौम्य नया जग
हुआ अवतरित धुली धरा पर,
जो मानव के नम्र
मनोभावों का दर्पण,
स्वागत करता मन
जाड़ों के शुभागमन का !

चौंसठ

इसी जगत् में
सूक्ष्म जगत् जो छिपा हुआ है
ध्यान मौन उर में
हो उठता कभी अवतरित !—

अगणित मधु ऋतुओं की
श्री सुषमा सौरभ ले,
औ' असंख्य तारुण्यों का
विस्मय प्रहर्ष ले—

प्रेरित करता मन को
इस अवसन्न जगत् में
एक नया जग निर्मित करने को
प्रसन्न दिक् !

जहाँ वस्तुओं का
जड़ द्रव्यों का आकर्षण
डूब जाय भावना ज्वार में
मनुज हृदय के—
रूढ़ि - रीतियाँ, जाति - पाँतियाँ
वर्ग श्रेणियाँ

नयी लोक समता,
मानवता के मूल्यों में
विकसित वर्धित होकर
स्वतः लीन हो जायें !

मानव मन की दरिद्रता
आहत कर मुझको
घोर निराशा अन्धकार में
भटकाती जब,
नव आस्था का स्पर्श
अँधेरे को प्रकाश में
परिणत कर, मानव भावी का
नव प्रभात बन
उदय हृदय में होता
सूक्ष्म जगत् बन मन में !

पैंसठ

रजत शिखर ! वे क्वाँरे ही रह गये अभी तक,
स्पर्श नहीं कर पायी उनको बुद्धि मनुज की !
वे असंख्य सुरधनुओं की किरणों से मण्डित
(गूँज रहीं जो स्वर्णभ्रंग-सी उनको घेरे !)
चिदाकाश में नयी ज्योति बरसाते प्रतिक्षण !

ऐसी स्वर्गिक स्फूर्ति
शक्ति नव देती मन को,
ईश्वर का-सा जग
दिखलायी पड़ता जग में !

तिरेसठ

स्वप्नों का - सा पट
अब बुनने लगीं वायुएँ—
अपनी कोमल चपल
अँगुलियों में उलझा मन !

शरद स्निग्ध आकाश
नील दृग भाता निर्मल,
भू पर लेटी छायाएँ
लगतीं अलसायीं !

उग्र निरंकुश अधिनायक-सा
भीष्म ग्रीष्म का
ताप मिटा अब !—
प्रजातन्त्र की-सी समता ले,
नव ऋतु आयी,
फल फूलों से गूँथ बगीचे !
अब न सताती नींद,
देह मृग - सी फुर्तीली,—

बातें करतीं मुग्ध मर्मरित
खुली दिशाएँ—
रेणु-पंख सिमटा निज
क्षिप्र श्येन - सी आँधी
गिरि खोहों में सोयी,
गन्ध ग्रथित समीर अब !

जरी किनारी - सी ज्यों
टँगी विटप पत्रों की
कोरों पर हेमाभ धूप
छायी बीथी में—
सौम्य नया जग
हुआ अवतरित धुली धरा पर,
जो मानव के नम्र
मनोभावों का दर्पण,
स्वागत करता मन
जाड़ों के शुभागमन का !

चौंसठ

इसी जगत् में
सूक्ष्म जगत् जो छिपा हुआ है
ध्यान मौन उर में
हो उठता कभी अवतरित !—
अगणित मधु ऋतुओं की
श्री सुषमा सौरभ ले,
औ' असंख्य तारुण्यों का
विस्मय प्रहर्ष ले—
प्रेरित करता मन को
इस अवसन्न जगत् में
एक नया जग निर्मित करने को
प्रसन्न दिक् !
जहाँ वस्तुओं का
जड़ द्रव्यों का आकर्षण
डूब जाय भावना ज्वार में
मनुज हृदय के—
रूढ़ि - रीतियाँ, जाति - पाँतियाँ
वर्ग श्रेणियाँ
नयी लोक समता,
मानवता के मूल्यों में
विकसित वर्धित होकर
स्वतः लीन हो जायें !
मानव मन की दरिद्रता
आहत कर मुझको
घोर निराशा अन्धकार में
भटकाती जब,
नव आस्था का स्पर्श
अँधेरे को प्रकाश में
परिणत कर, मानव भावी का
नव प्रभात बन
उदय हृदय में होता
सूक्ष्म जगत् बन मन में !

पैंसठ

रजत शिखर ! वे क्वाँरे ही रह गये अभी तक,
स्पर्श नहीं कर पायी उनको बुद्धि मनुज की !
वे असंख्य सुरधनुओं की किरणों से मण्डित
(गूंज रहीं जो स्वर्णभृंग-सी उनको घेरे !)
चिदाकाश में नयी ज्योति बरसाते प्रतिक्षण !

सोच रहा मन, कौन घाटियाँ हैं वे दुर्गम
जहाँ समाया अन्धकार घन निस्तल गीला—
जो विचित्र मणि रत्न—रश्मि ज्वालों से गर्भित !
क्या सम्बन्ध अचेतन की इस अन्ध गुहा से
ज्योति शिखर का ? लांघ स्वर्ग का भी वैभव जो
उठा हुआ ऊपर अनन्य, एकाकी, अनुपम !

एक सत्य ही की ये
दोनों अकलुष स्थितियाँ !
मानवीय संस्कृति को
दोनों में भविष्य में
नव स्वर संगति स्थापित करनी
धरा-स्वर्ग की
रचना को रस-मूर्त बनाने !—
मनुज चेतना
आत्मसात् कर सदसत् को
सम्पूर्ण बन सके !
यही द्वन्द्व से परे
परम का प्रतिनिधि शाश्वत
शुभ्रशिखर
इंगित करता नित
ज्योति स्तम्भवत् !

छियासठ

मूल स्रोत पकड़ो आस्था का
जो प्राणों की
भाव-भूमि में बहती
सित चेतना तरंगित—
तर्कों वादों के पुलिनों को
रस मज्जित कर !

सूर्य-चन्द्र मुख धोकर अपना
उसके जल में
नव प्रकाश वितरित करते
भू-जीवन पथ पर !

भाव बोध के परम उच्च
स्वर्गिक शिखरों को
करती वह नित पार
बिना गति के ही क्षण में,—

मरकत गहराइयाँ
थाह लेती प्रयास हो
जहाँ सूक्ष्म संवेदन भी
न पहुँचते मन के !
जीवन के विष दंशों को
वह अमृत लेप से
भरती रहती,
घृणा-द्वेष का
मनुज प्रेम में रूपान्तर कर !

जन भू रज में सनी
कृषक - सी
अग्नि बीज बोती
यथार्थ की बीहड़ भू पर
जो खर कण्टक-भर उपजाती
बंजर मन में !—

नव प्रबोध के
स्वर्णिम लपटों से कर दीपित
अन्तरिक्ष जीवन प्रकाश का
भाव-प्ररोहित !

सड़सठ

अपने को पुजवाना भी
अब कला बन गयी !
अभिनन्दन होते
बहु प्रतिदिन, स्मारक बनते,
संग्रह सौधों में स्वर्गीय
मृतात्मा के सब
जीवन के उपकरण, चित्र,
पत्रादि सुरक्षित
रक्खे जाते ! व्यक्ति
महानात्मा बन जाता !

तुलसी की प्रतिमा
बनवाने के बदले यदि
उनकी कृतियों का
अध्ययन, मनन, प्रचार कर
लोक चेतना को
उनके मानस वैभव से
श्री सम्पन्न बनायें हम,—
यह श्रेयस्कर है !

सच यह है !
हम विश्व चेतना को निज श्रद्धा
निष्ठा अर्पित कर
अपने प्रत्येक कर्म को
उसके पूजन योग्य बनायें,
और हृदय में
अविरत यह भावना रहे जाग्रत
जग-जीवन
ईश्वर के पूजन का
पुण्य क्षेत्र है पावन !

उसी परम चैतन्य सिन्धु की
महत् तरंगों-से
महान् व्यक्तित्व
जन्म भू पर लेते हैं !

अपना नहीं,
हमें ईश्वर का पूजन करना !—
जिसकी महिमा
प्रतिबिम्बित जग के जीवन में !

अड़सठ

शेष नहीं अब
कोई भी संघर्ष चित्त में
स्पर्श नहीं कर पाते उर को
राग, द्वेष, भय,
जाने कैसे, इस पवित्र क्षण का
अनुभव हो रहा हृदय को !

जग भी अब
प्रसन्न-सा लगता
मेरे मन की प्रसन्नता से !

दमक उठा मुख
धरती का भी—
विस्तृत, तन्मय विश्व क्षितिज अब !
शाश्वत आया उतर
काल की गोद में स्वतः !

यह कैसी अनुभूति
हृदय को होती सहसा—
ईश्वर के जग में हो
बदल गया कृत्रिम जग !

शत्रु कौन है? सुहृद सभी,
देखो ना, सब तो
समा गये अन्तर में,
आशीर्वाद-से स्वयं!

नव प्रभात यह!
वायु जग उठी विटप शयन पर,
वन सौरभ से
पुलकित लगती जो,—
विहगों के
शतमुख स्वर बटोर अंचल में!
तरु मर्मर कर,
जल कल-कल ध्वनि,
शैल मौन रह—
कहते सभी, तुम्हारे ही हम!
तुम हम सबके सखा चिरन्तन!

उनहत्तर

रिक्त पलायन मात्र रही
अह, मध्य युगों की
आध्यात्मिकता!
कर्म-काण्ड, विधि, पूजन, तर्पण,
जिसने सिखा सरल जन को
दिग्भ्रान्त बनाया!

घोर अशिक्षा,
निबिड़ अन्धविश्वासों का गढ़
तब से जन-मन!
दैन्य दुःख, भय, दारिद्र्यों का
संस्कृति खँडहर भू-आँगन!

जड़ रूढ़ि रीति का
जर्जर पंजर लोक धर्म!—
सन्देह न इसमें!
अहंकार की ऐंठी रस्सी-से
भू के जन
राग द्वेष, कुत्सित स्वार्थों का
गट्ठर बाँधे,
मृत अतीत का घृणित बोझ
कन्धों पर लादे
कृच्छ्र पारलौकिक यात्रा
करते पृथ्वी पर!—

गंगा में कर स्नान
पाप धो पूर्व जन्म के,
मुण्ड-मुण्ड में बँटे व्यक्ति
वे महत् राष्ट्र के
अंग कभी बन सकते ?
उनको महाक्रान्ति भी
नहीं मनुष्य बना सकती !
जग की कीचड़ से
उन्हें मोह है
वे उसमें ही सदा रहेंगे !
आजीवन बन्दी रहने का
वे कैसे अभ्यास छोड़ दें ?
विधि को जो भी करना होगा
वे भोगेंगे !

सत्तर

प्रेम और सौन्दर्य ? रहस्य जगत् के दोनों !
एक अदृश्य और दूसरी दृश्य शक्ति है !
प्रेम दृष्टि देता निगूढ़ सौन्दर्य बोध की,
निर्निमेष रखती सुन्दरता मुग्ध प्रेम को !

काँटों से क्षत-विक्षत होता हृदय प्रेम का,
क्षण भंगुर सौन्दर्य पुष्प कुम्हलाता रज में !
प्रेम और सौन्दर्य परस्पर पूरक लगते,
एक अपर के बिना अतृप्त अपूर्ण निरन्तर !

ईश्वर का अनुभव देता निष्काम प्रेम नित,
मूर्तिमान ईश्वर निश्छल सौन्दर्य मुकुर में !
त्याग प्रेम का मूल, भोग सौन्दर्य का सतत,
बिना त्याग के भोग न श्रेयस्कर जीवन में !

कालजयी यदि प्रेम दिशा आकर्षण शोभा,
सृजन प्रेरणा के दोनों ही तत्त्व असंशय !
नव वसन्त, कोकिल प्रतीक सौन्दर्य, प्रेम के,
घन चातक, शशि औ' चकोर भी उनके प्रतिनिधि !

विरह-मिलन दोनों ही को दुखप्रद, आह्लादक
प्रेम भले पागलपन, सुन्दरता उन्मादक !

इकहत्तर

कर्म खोज मन, कर्म खोज नित
भू रचनात्मक,
कर्म खोज तू—
यही सार वेदों शास्त्रों का !

दर्शन की भी खोज कर्म,
इतिहास पुराण
सभी का चिर गन्तव्य
कर्मपथ, रचनात्मक पथ !
तर्क वितर्कों की
न व्यर्थ गुत्थी सुलझाओ,
सीधा ईश्वर का
साक्षात् करो जीवन में,—
अपने में, जग में,—
ईश्वर से अविच्छिन्न
सम्बन्ध करो स्थापित !
इतिहास बनाओ नूतन !
नया भविष्य गढ़ो
मानवता के हित भू पर,
युग प्रभात कर रहा
प्रतीक्षा अन्तरिक्ष में !
नव प्रकाश वितरो तुम
जन-जीवन के पथ पर
स्वर्ग मचलता धरा-गर्भ में,
वह बाहर आ
श्री शोभा गरिमा से
मण्डित करे दिशाएँ !
देव कर्म है रचना कर्म,
डुबाओ मन के
राग द्वेष भय,
तुच्छ स्वार्थ जीवन सागर में
सृजन कर्म का ज्वार
उल्लसित उठता जिसमें !

बहत्तर

अर्थ खोजते हो कविता का ?
सृष्टि सृजन का ?
अभिव्यक्ति वह स्वर्गिक
आत्मोल्लास की महत् !
सुरधनुओं के मसृण
सुरंग तृणों से कल्पित
नीड़ों से मणि पंख खोल
सपने उड़ते जब
कविता लेती जन्म
मनोनभ में तब निःस्वर !

चन्द्र रश्मि आकुल लहरों पर
लिखती उसको
भू पुलिनों को डुबा
मुग्ध आनन्द ज्वार में !

शशि के आँगन में
जब बारहसिंगे का शिशु
चपल चौकड़ी भरता
उसकी पद-चापें सुन

उच्च वायुएँ स्वर-लय में बँध
छन्द गूँथतीं !
तरु छाया स्वप्निल सन्ध्या में
लम्बे डग धर
तन्मय जब होती चुपके
तम के अन्तर में—
वह कविता बन जाती !

सम्भव और असम्भव
दोनों के उस पार
सत्य के रस अम्बर में
शब्द अर्थ से परे
कहीं कविता रहती है !
सूक्ष्म भाव कविता के
होते स्फुरित हृदय में !

तिहत्तर

धन्य उन्हें, प्रेरणा-स्रोत जो
जन-जीवन के—
कुण्ठा, द्वेष, निराशा,
भय का अन्धकार हर
भू-रचना के प्रति
जो प्रेरित करते मन को !

हाय, पर्वताकार
वितृष्णा से मर्दित जन
जीवन विमुख,—प्रमाद
अन्धविश्वासों से हत
कर्मशून्य, आलस्य निशा में
पाप-पुण्य से
त्रस्त, देखते स्वप्न
स्वर्ग-सुख, नरक-ताप के !

दिशा भ्रान्त वे
भटक रहे हैं जड़ अतीत के
अन्धकार में गहन,
विरत हो वर्तमान से!

कोई भी शासक
वह भले सदाशय ही हो
मिटा नहीं सकता दारिद्र्य
दैन्य तन-मन का
भारत भू का! जहाँ
विषमताएँ दिग् दारुण!

जब तक चेतेंगे न लोग,
निज भग्न नियति का
स्वयं नहीं निर्माण करेंगे
निज श्रम तप से—
मनुज-ऐक्य में बँध
व्यापक सामूहिक स्तर पर,
क्रान्ति नहीं लायेंगे
बहिरन्तर जीवन में—

तब तक जन-भू का उद्धार
नहीं है सम्भव,—
लोग घृणा करते धनिकों से—
तो क्या विस्मय,
क्या करते वे
अस्थि-पंजरों के हित भू के?
या शासक ही,
जो झूठे आश्वासन देते!

चौहत्तर

देख बुद्ध प्रतिमा के
मुख-मण्डल पर स्वर्गिक
शान्ति—स्तब्ध विस्मित रहता मन,—
कैसे ऐसी
सूक्ष्म चेतना आभा को
पाषाण वक्ष पर
भारत के शिल्पी
अंकित कर सके अनामय,—
निज खर छेनी के
श्रद्धा स्वर्णिम स्पर्शों से!

कितने ही देवालय
मीनाक्षी, महाबली-
पुरम्, जैसे कोणार्क आदि
महिमा के मन्दिर
बने इस विराट् देवों की
पावन-भू को!
आध्यात्मिक, सांस्कृतिक,
कलात्मिक भूमि रही
प्राचीन काल से
यह सत्यद्रष्टा ऋषियों की!
धन्य, धन्य, वे पुरातत्त्वविद
जो इन सुन्दर
भग्न मूर्तियों का
मूल्यांकन कर, निज प्रतिभा
निष्ठा से सप्राण,
सांस्कृतिक भू के प्रखर
युग-खण्डों का
इतिहास सँजोकर फिर से
जन भारत की
सृजन चेतना का निज परिचय
देते, भौतिक अन्धकार में
सोये जग को!—
अरे, यन्त्रों के दैत्यों को
स्थापित कर जो
मानव को दानव बनने को—
बाध्य कर रहा!

पचहत्तर

बोल रही मृण्मूर्ति!
प्राण से फूँक दिये हैं
किस शिल्पी ने
मिट्टी की इस जड़ प्रतिमा में!
मुझे सुनायी देती
मौन हृदय की धड़कन!—
मर्मभेदिनी दृष्टि,
सुभ्रवों के इंगित में
स्तम्भित काल स्वयं!

उरोज उठते-गिरते-से
साँसों के स्पन्दन से!
चारु सुडौल भुजाएँ
बँधी परस्पर,
घेर स्तनों के मदिर घटों को!

नमित प्रसन्न दृष्टि से
देख रही वह अपलक
कोमल अंगों में उभरे
यौवन वसन्त को !
अधोभाग खण्डित है उसका !
जाने किसने
सूक्ष्म चेतना के वैभव को
गूँथ रेणु में
स्रष्टा के कौशल को
श्री-साकार कर दिया !—
भंगुर रज तन में सँवार
जीवित नारी को—
वास्तव तन से निरुपम
रूप मनोहर कृति जो !
भूमि-गर्भ में
मृण्मय प्रस्तर प्रतिमाओं में
युग-युग का इतिहास छिपा है
अमर सृजन का !
मनुज पीढ़ियों का
हृत्स्पन्दन जिनमें बन्दी !
निश्चय, सत्य अखण्डनीय है
सृजन कला का !
द्वार मृत्यु का पार
अमरता करती रज की !

छिहत्तर

महानगर तुम
बसे सिन्धु तट पर दिग् विस्तृत !
पंक्तिबद्ध उन्नत
भवनों से घिरे तड़ित् स्मित !
लक्षलक्ष मनुजों को
बन्दी किये हुए तुम
सभ्य नागरिक कारा में निज !
देख रहा मैं
दसवीं मंजिल से नीचे—
स्त्री-पुरुष, यान बहु
कोलतार के चितकबरे
विषधर-से पथ पर
रेंग रहे, रँग-रँग के
वस्त्रों में श्री-सज्जित,—
नख-शिख प्रसाधनों से मण्डित,
कर्म-क्षुब्ध जन !

मैं पर्वत-शिखरों का प्रेमी !
धीर अटल
स्थिरता जिन की
गुरु गरिमा का लक्षण,
प्रशान्त मन,
शीर्षोपरि जो
नील मौन में चिन्तन करते !

यहाँ उच्छ्वसित इच्छाओं के
आकुल चंचल जलनिधि तट पर
जाने उर कैसा अनुभव करता है—
क्षुब्ध तरंगों के संग
उठता, गिरता !
अनभ्यस्त परदेशी पाता
मैं अपने को,—
जीवन की भगदौड़
तुमुल उत्थान-पतन में
मानवीय गरिमा उदात्त
भाती अन्तर को !—
भावाकुल जीवन सागर के
प्रति भी सहृदय !

सतहत्तर

फेनिल हो तुम सिन्धु,
न कुछ भी विस्मय इसमें !
यही वास्तविकता जीवन की—
बहुत फेन है !
जग जीवन में
बहुत झाग है, बहुत फेन है !
जो भी अन्तः सत्य
छिपा है वह दिग्व्यापी
झाग के तले !

लिपट मनुज से जाता है जो
जाल सुनहला बनकर
हँसमुख, उसके चौदिक् !
गहराई में अतल
उतरने के बदले मन
उलझा रहता सतही
झागों ही के जग में !

मुझे नहीं महदाकांक्षा
ऊँचे ज्वारों पर
चढ़कर,—फेनिल कीर्ति-किरीट
प्राप्त करने की!
मैं निःसीम अतलता के
भीतर प्रवेश कर,
डुबकी लगा,—अचेतन,
उपचेतन के स्तर तिर,
गहरे, अतल, और भी गहरे
तन्मय होकर
जीवन के अन्तरतम
उर में छिपे अलौकिक
मणि रत्नों को खोज,
चेतना के वैभव को
भू गरिमा का अंग
बनाने को उत्सुक हूँ!

अठहत्तर

हिमगिरि, तुमको
स्वर्गिक ऊर्ध्वारोहण भाया,
सागर, तुम्हें
अतल अकूल व्यक्तित्व सुहाता!
समाधिस्थ तुम
आत्मा से करते सम्भाषण,
तुम रत्नों का कोष
छिपाये हृदय-गुहा में!
मैं समदिक् कवि,
समतल जीवन का प्रेमी हूँ!—
तुम मुक्ता निर्झर बरसाते
जिसे सींचने!
कूलों पर बिखराते
श्यामल रूप विभव नित!—
झंझा-आंधी मथते अब
उस समतल भू को!
औ' वैज्ञानिक ग्रीष्म
तपाता उसके उर को
रूढ़ि रीति पावस घन
टकरा गर्जन भरते!
इधर इन्दु की श्री शोभा
प्रतिभा से मण्डित

प्रिय दर्शिनी शरद
छिटकाती स्निग्ध चाँदनी !
पतझर का हिम नग्न त्रास
दारिद्र्य असंशय
बीतेगा—
समदृष्टि धरातल
होगा विकसित,—
नव वसन्त आयेगा
नव युग का वैभव ले,
मुकुलित, पल्लव मांसल होंगे
भू दिगन्त फिर !

उनासी

सदसत् से नित परे, परम तुम पूर्ण परात्पर
पर सापेक्ष जगत् में होते अभिव्यक्त जब
तुम सदसत् से सर्जित करते सकल सृष्टि को !—
दिव्य अलौकिक चिदानन्द से प्रेरित अविरत !

सदसत् के पड़ तर्क जाल में कौन विश्व में
पार कर सका निष्कलंक रह भवसागर को ?
जटिल तर्क-पद्धति, विवेक नित सुलभ न मति को !
आत्मग्लानि से, धर्म हानि से कुण्ठित भव पथ !

धूप-छाँह, जड़-चेतन का अद्भुत मिश्रण जग,
हँसमुख तम के गर्त भ्रमाते क्लान्त पथिक को !
श्रेयस्कर, तुमको अर्पित कर कर्म वचन मन
दुर्गम जग में चरण बढ़ाये मानव निर्भय !

मंगलमय तुम, प्रेम शक्ति, करुणा रस सागर,
बोझिल नौका पार लगाते सहज जनों की !
आदि, मध्य औ' अन्त तुम्हीं भव क्रम विकास के,—

कुटिल वक्र गतियों में जंगम सृष्टि-चक्र के
घूम चित्त, लौटता पुनः वासना परिधि में !
अतः सत्य का पन्थ सतत वरणीय मनुज को
नैतिकता, चारित्र्य, विनय, संयम पद-चिह्नित,—
रख अखण्ड आस्था अजेय जीवन-सारथि पर !

अस्सी

ओ सौन्दर्य, न जाने
कैसे दिन थे वे, जब
मैं कौसानी में था—
तुम पर्वत-चोटी पर

बैठे रहते—धूप-छाँह की
आँखमिचौनी
खेला करते थे
दिग् श्यामल तरुवन में छिप !

गाती थीं अन्तःसलिलाएँ
नदियाँ कलकल
पायल झनका, हिम की
चट्टानों के नीचे !
पावस में शत झरने
झर पड़ते प्रवेग से
मोती के फेनिल खम्भों - से
टूट शिखर से !

शरद रेशमी आँचल
गिरि पर डाल
तारिका-गुम्फित, झिलमिल,
मुझ किशोर को मन्त्र-मुग्ध थी
कर देती ! हिमऋतु में आकर
स्वर्ग अप्सरा
मुझे लुभाती, स्वप्नों के
प्रिय वक्ष में छिपा !

स्नेह ऊष्ण लगता था
स्पर्श तुषार का मुझे,—
नव वसन्त में दिग् दिगन्त
हँस उठते कुसुमित
गिरि प्रदेश के !
कितने रूपों-रंगों से तुम
मोहा करते चंचल मन !
सौन्दर्य स्वर्ग में
विचरण करता मैं प्रतिक्षण,—
अनभिज्ञ जगत् से !

तब से अब ?
श्री-हत कुटुम्ब ज्यों
जन धरणी का
समा गया मेरे उर में
पतझर के वन सा,—
घोर दुःख-दारिद्र्य नग्न !
नव मानवता का
दिग् विराट् सौन्दर्य स्वप्न
हो उदय हृदय में
मेरा वह खोया कैशोर्य
मुझे लौटाता !

इक्यासी

बाह्य विश्व से बड़ा विश्व
मेरे अन्तर में
उद्भासित हो उठता प्रायः,
ध्यान मौन जब
रहता अन्तर!—कहीं अधिक
रमणीय, अलौकिक,
आलोकित जीवन दिगन्त
लगता अन्तः स्मित!

बाहर के जग से
मैं कितना सम्बन्धित हूँ
निर्णय अभी नहीं कर पाया!—
पर, अन्तर का
विश्व अधिक से अधिक स्पष्ट हो,
अधिक दीप्त हो,
स्वतः सूक्ष्म होने पर भी
इस स्थूल जगत् से
कहीं वास्तविक होता जाता!

मेरा अन्तर
उसके आकर्षण को
रोक नहीं पाता अब!
मुझको लगता,
वह मेरा पथ-दर्शक है
इस बाह्य विश्व में,—
मुझको प्रेरित करता रहता
मैं निर्माण करूँ इस जग का
निज अन्तर के
जग के ही अनुरूप
मनोरम बना इसे भी!

नव जीवन सौन्दर्य की उषा
अन्तरिक्ष से
स्वर्गिक वैभव बरसाये
तम-त्रस्त धरा पर!—
मानवीय गरिमा से
मण्डित हो भव मन्दिर
अन्तर का दर्पण बन,
प्रभु का मुख बिम्बित कर!

बयासी

कितना सुन्दर, निश्छल होता शैशव का जग !
जब से तुम मेरे घर ग्रायी, जीवन के प्रति
बदल गयी मेरी सारी धारणा, भावना !
घर का भी ज्यों मानचित्र ही सँवर गया हो !

इधर-उधर कमरों में सुन्दर सजे खिलौने,
मुँह बोली गुड़ियाएँ, जो पलकें झपकातीं—
कुत्ते, बिल्ली, हिरन, बतख, खरगोश, ग्रौर भी
कई खिलौने रंग-रंग के तुमको भाते !

लगता ग्रब, मनुजों का जग भद्दा, झूठा है,
बाल-खिलौनों का ही जगत् सत्य है सब से !
जैसे सपने ही हों उतर धरा पर ग्राये,
या कि स्वर्ग के देवी-देव रूप धर सुन्दर
तुम्हें रिझाने को ग्रवतरित हुए हों भू पर !

कितनी भोली हो तुम, कितनी निश्छल मधु स्मिति
दूध धुले दो दाँतों से खेलती ग्रजाने !
ग्राकर्षण का केन्द्र तुम्हीं मेरे जीवन की,
सार सृष्टि में है कुछ, मन ग्रब लगा समझने !

कैसी पवित्रता-सी तुमसे लिपटी रहती—
चन्द्र ज्वाल तिरती हो सीपी की लहरों में,—
लघु घट में सौन्दर्य सिन्धु ही समा गया हो !

तिरासी

कृतज्ञता दुर्लभ है जग में !
पर कृतघ्नता
जन जन मन में वितरित कर दी
मानो विधि ने !
जिस पर ग्राप भरोसा रक्खें
वही ग्रन्त में
धोखा देकर
उपकारों को भुला ग्रापके
घोर शत्रु बन जाता
छोटे स्वार्थ के लिए !
पर यह तो मानव मन के
कीचड़ का स्तर है !
कीचड़ में पत्थर फेंको
ग्रपने ही मुख पर
छींटे पड़ते कीचड़ के उड़—

और आप भी
कीचड़ में सन कीचड़ बन जाते !
निश्चय ही,
महाह्रास विघटन का युग
यह मनुज जगत् में !

मुझे अधिक सुन्दर
मानव के दर्शन मिलते
जब मैं सोचा करता
भू जीवन भावी पर !
विकृत हो गया है
मानव का हृदय असंशय !
घोर विषमता से हत,
वह आस्था खो बैठा
अपने पर, सब पर,
औ' सभ्य जगत् जीवन पर !

निश्चरित्र हो, दुश्चरित्र हो
क्षणजीवी बन
किसी तरह वह
स्थिति के संकट से बचता है !
मुझको है विश्वास
वरिष्ठ मनुज स्वभाव पर !
इसीलिए विष दंश
विकृति के युग के सहता !
प्रकृति विकृत हो जाती,
पर, संस्कृत भी होती !

चौरासी

नारी को होना ही है अब मुक्त धरा पर,
युग्म कर्म होगा उसकी इच्छा पर निर्भर !
वह जननी है, निखिल सृष्टि उसके ही आश्रित—
वही जन्म दे सकती मानव जग को भू पर !

उर्वर रज वह, बीज खींच सकती स्वयमपि ही !
नया हृदय लेगा तब जन्म धरा पर निश्चय
स्त्री स्वतन्त्र हो विचर सके जब भू पर निर्भय !

सहज शील संयम से संस्कृति होगी निर्मित—
मनुज कर्म में बदलेगा पशु कर्म भी स्वयं,
मातृ हृदय के हो अधीन सहृदयता प्रेरित,—
बुद्धि नहीं रह पायेगी नर की आक्रामक !
नारी को वन्दिनी बनाने का आशय है—
पशु अधिकृत है किये मनुज को अभी जगत में !

भू-विकास-क्रम रुद्ध पड़ा पाशवता पीड़ित,
मनुष्यत्व का शिखर गिरा है योनि गर्त में !
प्रखर बुद्धि से भले सभ्यता हो नव निर्मित,
संस्कृति के निर्माण के लिए हृदय चाहिए !

माँ की सन्तानें हम, कोई कैसे भूले
अपनी माँ को पशु कारा में पड़ी बन्दिनी !
मुक्त करो माँ, सखी, प्रेयसी को भविष्य की,
तब सामूहिक योग स्वत: साधेंगे भू-जन !

पिचासी

कुछ भी नहीं नवीन जगत् में
एक दृष्टि से !—
गहरी निर्मम नींव
जगत् जीवन विकास की !
जिस पर स्थित गोलार्ध
स्फटिक चैतन्य का अमित !

अन्ध गहन खाई खन्दक के
दारुण वन में
घोर हिंस्र बर्बर संगर कर
मानव जीवन
फूंक-फूंक पग धरकर
दिक् पथहीन धरा पर
विषम परिस्थिति झेल,
मृत्यु से जूझ निरन्तर
बोधशून्य भय-संशय के
घन अन्धकार में
किसी प्रकार बढ़ा अब तक
संघर्ष कर विकट !

आगे भी दुर्गम शृंगों पर
चढ़ना उसको !
दुर्जेय गत अभ्यास,
शत्रु बहु बाहर-भीतर,
पीछे हटना पड़े
सभ्यता को न पराजित !

लोक मुक्ति का, धरा स्वर्ग का स्वप्न
जगत् में मूर्त हो सके—
आत्म-नियन्त्रण के कठोर
बन्धन में बँध कर
अपने को रखना सतर्क !

मानव को उसकी स्वतन्त्रता
उच्छृंखलता बन
कहीं न खा जाये
मुंह बा अनाचार का,—
अग्नि परीक्षा देकर
उसको आगे बढ़ना!

छियासी

शिक्षित भारत में न आज;—
विद्वान् भले हों,
अपने-अपने विषयों के
प्रकाण्ड पण्डित भी—
युग प्रबुद्ध वे नहीं,
समग्र समन्वित जिनको
दृष्टि प्राप्त हो
काल, विश्व जीवन पर—ऐसे
शिक्षित व्यक्ति सुलभ न देश में,
अब अभाग्यवश!
शिक्षा क्या, हम
मात्र सूचनाएँ भर देते
विविध विषय की नवयुवकों को—
रचनात्मकता
छू भी उन्हें नहीं पाती!
यदि शिक्षा को हम
सच्चरित्रता का पर्याय
समझते सम्प्रति
तो अपने को धोखा देते!
मनुष्यत्व की
पोषक उसे मानते हों तो—
मात्र दुराशा!
वर्तमान शिक्षा युवकों में
कृत्रिमता को जन्म दे रही!
सत्य जगत् से हटा उन्हें हम
कृत्रिम जग में भटका देते!
शिक्षित यौवन
अपनी या अपने समाज की
सेवा के भी
योग्य नहीं रह जाता!
इसीलिए नव यौवन
असन्तुष्ट, दिग्भ्रान्त
अतृप्त, अशिष्ट आज है!
सर्वप्रथम
शिक्षा में क्रान्ति हमें लानी है!

सतासी

कभी सोचता,
मैं वन-पिक से छन्द छीनकर
क्या सेवा करता समाज की
अथवा जग की ?
जहाँ आज मरणोन्मुख
मानवता पिसती है
क्रूर विषमता के पाटों में !
भौतिकता के अन्धकार में भटक
भ्रान्त-सी, दिशाहीन-सी !

दुश्चिन्ता में डूब
हृदय होता निराश जब
गीत गुनगुना उठता मन
नव स्वर संगति भर—
आश्वासन देता हो मुझको—
लघु चींटी भी
इस विराट् जग की जब
कुछ सेवा कर लेती
भू आँगन में बिखरे
कन, कृमि-शव बटोर कर—
सम्भव है तब
जुगनू की-सी ज्योति तुम्हारी
पथ भटके को
अन्धकार का बोध करा दे !
निःस्वर शब्द तुम्हारे
जाग्रत् शंख घोष भर
जन-मन में नव जीवन की
प्रेरणा भर सकें—
नयी क्रान्ति के घन बन
गर्जन भरें हृदय में,
श्रान्त शिराओं में फिर
बिजली कौंधा सक्रिय !
भ्रान्त मनुज का ध्यान
बाह्य भव विभीषिका से
हटे,—दिखे अन्तर्मुख
उर में नव सूर्योदय !

अट्ठासी

कलाकार भी
जन-सेवा कर सकता सम्प्रति,
भद्दी भौतिकता में खोये
भू जीवन की !

भाव जलद उद्वेलित
उर्वर हृदय गगन से
वह इतना सौन्दर्य विभव
बरसाये भू पर
मुग्ध, विवश हो भू जन
सुन्दर बनना सीखें !

घर के आँगन के संग ही
मन का आँगन भी
शील स्वच्छ हो, सच्चरित्र हो,—
सुन्दरता का चरम शिखर हो,
मनुज हृदय में
ध्यान मौन स्थित !
सुन्दरता के भीतर से ही
जन मंगल का
कर्मक्षेत्र हो दिग् विस्तृत,
जन ऐक्य समन्वित ?

सुन्दरता ही चरम सिद्धि हो
भू जीवन की—
अन्न-वस्त्र सम्पन्न धरा जन
श्री-शोभामय
मनुष्यता के हों प्रतीक—
भू प्रीति में बँधे !

शोभा संस्कृत भू आँगन पर
विचरे निर्भय
शील यौवना, सुन्दरता की
प्रतिनिधि नारी,—
जन भू जीवन के दिगन्त
सौन्दर्य-दीप्त कर !

नवासी

आज सांस्कृतिक ऐक्य चाहिए
मनुज धरा को,
शासन पद्धतियाँ हों पृथक्
भले देशों की !
गत अभ्यासों से विमुक्त हो
मानव का मन,
मुक्त हृदय से स्वागत करे
नये जीवन का !

दर्शन दृष्टि नहीं आवश्यक
इस सबके हित,
वैज्ञानिक युग की अनिवार्य
विजय का फल यह !
बदल गयीं अब देश काल की
परिभाषाएँ,
एक धरा जीवन लहराता
जन - सागर में !
गत संस्कृतियाँ
नींव बनेंगी नव संस्कृति की
भावों और विचारों का
संघर्ष असंशय !
जो व्यापक चैतन्य-दृष्टि
अब उदित हो रही
आत्मसात् कर लेगी वह
जग के अतीत को !
धन्य उन्हें, जो मनुज एकता का
केतन ले
नव प्रभात फहराते अब
जग के आँगन में !
मनुज एकता ही
भावी की आध्यात्मिकता,
देह-प्राण मन-आत्मा
जिससे होंगे उपकृत !

नब्बे

ऐसा दो व्यक्तित्व
नये मानव को दुर्जय
अन्धकार पर विजय पा सके
वह धरती के !
रौंद सके विषधर कीड़ों को
पैरों नीचे
जो दंशित करते जीवन को
खर ईर्ष्या के
दाँत चुभा कर !
ऐसा दो व्यक्तित्व मनुज को
जो अजेय चिच्छक्ति
सृजन आनन्द समाधित—
स्वार्थ क्षुधित हड्डी के पंजर
रेंग रहे जो
कुत्सित स्वार्थों की
कीचड़ में भग्नरीढ़ हो,

आत्मपूर्ण तुम प्रेम तत्व हो,
परे निखिल जग के द्वन्द्वों से!
सम्प्रति मानव
असन्तुष्ट बहिरन्तर,
अपने वस्तु जगत् से
अधिक पूर्णता का अभिलाषी
वह पृथ्वी पर!
जहाँ विषमता छायी दारुण!—
मनुज सम्यता-संस्कृति
विकसित होकर जन-भू-
जीवन ही को स्वर्ग बना दे!
भव रचना के
कर्म तुम्हें अर्पित हो प्रतिक्षण
बनें प्रार्थना!

बानवे

लो, भविष्य झाँकता विगत के खँडहर से अब,—
जाति वर्ग में जब विभक्त थी विश्व सम्यता,
धर्म, नीति, बौद्धिक, दर्शन, मूल्यों में खण्डित!
धूल, धुन्ध, कुहरे के बादल शनैः हट रहे
स्पष्ट विगत युग की सीमाएँ होती जातीं!

नया प्रभात उतरता जन भू के आँगन पर
स्वागत करता चारण विहग नये मानव का!
कितने सूक्ष्म जगत् मानव उर में अन्तर्हित
जो प्रकाश में आते नव जीवन वैभव के
नये सत्य की श्री-शोभा गरिमा से मण्डित!
मनुज हृदय में अन्तरिक्ष का नव वातायन
युग-युग से अवरुद्ध खुल रहा श्री ज्योतिर्मय,
दूर-दूर से चलते अगणित चरण अपरिचित
पास आ रहे प्रतिक्षण—बृहदाकार मनुज बन!
स्वर्ग हृदय में जिनके, शीश स्वर्ग से ऊपर,
कोटि-कोटि कर-पद भू जीवन रचना में रत!
यह भविष्य की स्वल्प भाव-झाँकी—जो धीरे
रूप ग्रहण कर रही स्वर्ण रेखा में अंकित!

तिरानवे

समारम्भ भर अभी!
नहीं शोभा देती है
उतावली हमको,—
भविष्य का रूप गढ़ें हम!

भाव शिराओं में
स्पन्दित कर नयी चेतना
नया मनुष्य बनाओ उनको
गरिमा मण्डित !
मनुज प्रीति के स्वस्थ रक्त से
सम्पोषित कर
शोभा-मांसल करो
भूत के कंकालों को !
सोया दिग् भूकम्प
सभ्य युग-भू अन्तर में,
कभी जाग वह अग्नि अश्व
बर्बर टापों से
ध्वंस भ्रंश कर दे
मरणोन्मुख वास्तवता को !
नया मनुज निकलेगा
उसकी भस्म राशि से
प्रकृति धरेगी सूर्य-मुकुट
जिसके मस्तक पर—
पथ-दर्शक होगा
उसका अन्तर-प्रकाश नव !

इक्यानवे

भगवन्, तुम्हें स्मरण करता हूँ
मैं, सुख में नित—
सुखी रहूँ मैं—और
दुःख में भी करता हूँ
नमन सतत, दुःखी न रहे मन !
कौन तुम्हारे बिना
भला क्षण-भर रह सकता ?
रोम-रोम में
तुम्हीं समाये जाने कब से !
तुम्हें स्मरण के लिए
स्मरण भी करता रहता—
बिना किसी भी आकांक्षा के !
इन ग्रह-नक्षत्रों के जग में
देव, सभी कुछ है अपूर्ण,
तुम जिसे लाँघ कर
पूर्ति सदैव किया करते
मानव जीवन की
सीमित स्थितियों की
कमियों को
सतत पूर्ण कर !

आत्मपूर्ण तुम प्रेम तत्व हो,
परे निखिल जग के द्वन्द्वों से !
सम्प्रति मानव
असन्तुष्ट बहिरन्तर,
अपने वस्तु जगत् से
अधिक पूर्णता का अभिलाषी
वह पृथ्वी पर !
जहाँ विषमता छायी दारुण ! –
मनुज सभ्यता-संस्कृति
विकसित होकर जन-भू-
जीवन ही को स्वर्ग बना दे !
भव रचना के
कर्म तुम्हें अर्पित हो प्रतिक्षण
बनें प्रार्थना !

बानवे

लो, भविष्य झाँकता विगत के खँडहर से अब,—
जाति वर्ग में जब विभक्त थी विश्व सभ्यता,
धर्म, नीति, बौद्धिक, दर्शन, मूल्यों में खण्डित !
धूल, धुन्ध, कुहरे के बादल शनैः हट रहे
स्पष्ट विगत युग की सीमाएँ होती जातीं !

नया प्रभात उतरता जन भू के आँगन पर
स्वागत करता चारण विहग नये मानव का !
कितने सूक्ष्म जगत् मानव उर में अन्तर्हित
जो प्रकाश में आते नव जीवन वैभव के
नये सत्य की श्री-शोभा गरिमा से मण्डित !
मनुज हृदय में अन्तरिक्ष का नव वातायन
युग-युग से अवरुद्ध खुल रहा श्री ज्योतिर्मय,
दूर-दूर से चलते अगणित चरण अपरिचित
पास आ रहे प्रतिक्षण—वृहदाकार मनुज बन !
स्वर्ग हृदय में जिनके, शीश स्वर्ग से ऊपर,
कोटि-कोटि कर-पद भू जीवन रचना में रत !
यह भविष्य की स्वल्प भाव-झाँकी—जो धीरे
रूप ग्रहण कर रही स्वर्ण रेखा में अंकित !

तिरानवे

समारम्भ भर अभी !
नहीं शोभा देती है
उतावली हमको,—
भविष्य का रूप गढ़ें हम !

रेखाएँ अंकित कर उसकी
मानव उर में !
अगणित पूर्वग्रहों में
खण्डित अभी मनुज मन,
दिव्य दृष्टि की भी
असीम सीमाएँ निश्चित !
जिस जीवन की
परम पूर्णता से प्रेरित हो
भावी द्रष्टा रचते
सूक्ष्म विधान विश्व के
जीवन का अब,
वे गत जीवन की त्रुटियों से
कहीं सूक्ष्म में कुण्ठाग्रस्त,—
मनुज जीवन की
सहज पूर्णता के ऊपर
वे स्थापित करते
अतिमन की पूर्णता !
उपेक्षा कर निःसंशय
जीवन के नखशिख धर्मों की
समाधान जो
व्यापक खोज रहे अपना
वैज्ञानिक युग में !
मन की सीमाओं से मुक्त
मनुज जीवन को
(गत स्थितियों की
सीमा से हत) नयी चेतना से
संयुक्त हमें करना है,
जो संचालित करे उसे—
नव विकसित
भू-स्थितियों के जग में !
वही भविष्यत् को भी
निर्धारित कर सकती !—
समारम्भ, हाँ, यह निश्चय
जीवन-वरेण्य है !
स्वल्पारम्भ महान्
सफलता के अधिकारी !

चौरानवे

सरलीकरण अधिक
निश्चय, भावी दर्शन में !
जीवन स्वयं नहीं
विकसित होगा सरोज-सा

सूर्योदय पा
नयी चेतना के प्रकाश का !
भू यथार्थ से भी
लड़ना होगा मानव को !

जो जड़ मूल्यों का
पाषाण खण्ड-सा निर्मम
लौह-शृंखला में जकड़ा
स्थापित स्वार्थों की !
गत अभ्यासों से ही
मुक्ति नहीं पाती है,
दुर्जनता को जन्म दे चुका
भू-उपचेतन—
जो दानव-सा रोके
देवों का विकास-पथ !

आततायियों के
उत्पातों, दुष्कर्मों को
मानव को धर लौह चरण
दृढ़ संकल्पों के
नव विकास के पैरों-तले
कुचलना होगा !
लोहे को लोहे से काट,
मार विष से विष !

विकट युद्ध भावी विकास
प्रतिनिधि के सम्मुख,—
वर्तमान जग उसका साथ
नहीं दे सकता,
सुविधाजनक जिसे
असुरों ही के संग रहना !

ईश्वर की अविजेय
प्रीति ही उसकी रक्षक,
भगवत् करुणा ही
पाथेय प्रगति के पथ की !

पिचानवे

शिशु का पालन अभी नहीं आया मानव को,
उसे खिलौना, या प्रदीप, शृंगार समझता,—
और उसे निज इच्छा के अनुकूल ढालता !
यदि विरोध करता शिशु तो फटकारें खाता !

और मार भी उस पर अकसर पड़ती निर्मम,—
यही मानकर—वह जिद्दी है, ढीठ, हठी है!
शिशु शिक्षा के लिए सूक्ष्म कल्पना चाहिए,
शिशु को नहीं सिखाना है कुछ भी बाहर से!

बोध केन्द्र वह, अभिव्यक्ति मिलनी है उसको!
डाल-पात, फल-फूल बीज के उर में होते!
उन्हें सँजोना पड़ता नहीं कभी बाहर से!
मात्र खाद पानी देना होता प्ररोह को!

आत्म-बीज का सहज पूर्ण अंकुर है शिशु भी,
आलवाल भर बनना उसके संरक्षक को!
जिससे भगवत् इच्छा उसमें व्यक्त हो सके,
विश्व परिस्थितियों से जीवन खींच सके वह!

छियानवे

महत् प्रयोग जगत् में
श्री-श्री अरविन्दाश्रम,
मातृशक्ति के दिव्य स्पर्श से
जहाँ धरा पर
नव मानव ढल रहा—
पूर्ण मानव होगा जो,
सिद्ध पुरुष! नर के
पशु तन का प्रथम बार
मानवीकरण या
दिव्यीकरण जहाँ सम्भव है!

देह प्राण मन का मनुष्य
मृण्मय दीपक था,
स्नेह-वर्तिका मण्डित,—
निज चिद् ज्योति शिखा से
श्री अरविन्द उसे कर गये
ऊर्ध्व आलोकित,
योग शक्ति से
अतिमन कर अवतरित धरा पर!
जन्म ले रहा भावी का
नव विश्व नगर अब
ओरोवील निकट आश्रम के,—
जो कि अलौकिक
मातृ चेतना के
शोभा स्वर्णिम प्रयत्न से
मानवीय संस्कृति का
दिव्य निदर्शन होगा!

भू देशों की संस्कृतियाँ
वह आत्मसात् कर
आभिजात्य भू-स्वर्ग
करेगा जग में निर्मित !
सभी मनुज यद्यपि
न योग वाहन बन सकते,
भू के साधारण जनगण की
मूल समस्या
सम्भवतः वैसी ही रहे,—
नहीं कह सकता !

जन सामान्य रहेंगे सदा
मनोजीवी ही !
पर इतना निश्चय,
भू पर इस स्वर्ग खण्ड से
स्वर्गिक श्री शोभा की
महिमा, दिव्य चेतना का
आलोक प्रवाहित होगा,—
जन धरणी की
साधारणता पर भी !
जय, श्री मातृशक्ति, जय !

सत्तानवे

ज्योत्स्ना लिखने के
पहिले भी मेरे मन की
आँख खुली थी,
नव प्रकाश के अन्तरिक्ष में !
मुट्ठी-भर बालू ज्यों
उसमें झोंक द्वेष ने—
मैं युगान्ध बन जाऊँ—
निन्द्य प्रयोग किया था !

तम का बादल चीर-चीर
वर्षों तक मैंने
उससे विद्युत् खींची थी
संघर्ष कर महत् !
मेरी आँख खुली फिर
श्री अरविन्दाश्रम में !
शेष रहा जो झीना पट
उठ गया स्पर्श पा
दिव्य ज्योति का !

ज्योति एक ही थीं वे दोनों!
तब से ज्यों ज्योत्स्ना का मंच
अधिक विस्तृत हो
परिवर्तित हो गया
जगत् जीवन-प्रांगण में!
नयी दृष्टि पा पैठ सका मैं
युग-भू मन में—

होने लगा स्वतः ही
नया प्रकाश अवतरित
नव भविष्य की नयी उषा की
शोभा गरिमा
चित्रित करने लगी
भावना तूलि स्वयं ही—
छिपा हृदय में रहा प्रेम,—
नव जीवन द्रष्टा!

अट्ठानवे

विश्व सत्य सापेक्ष असंशय! अंश सत्य ही
अनुवादित होता जग जीवन में प्रति युग में!
डार्विन, फ्रायड, लेनिन, गांधी, मार्क्स हमारे
नवयुग द्रष्टा हुए, जिन्होंने मनन, अध्ययन
निज युग जीवन का कर जग को सूत्र सत्य के
दिये विविध,—जिनके बहुमुख तानों-बानों से
बुना जा सका वर्तमान युग जीवन का पट,—
युगमन, जन युग दर्शन जिनसे हुआ प्रभावित!

ये यथार्थ द्रष्टा सब, जिनका श्रम तप संयम
सार्थक हुआ—निखिल जग जीवन के मंगलमय
क्रम विकास में! अभी शेष वह शक्ति सत्य की
भू जीवन को जो उन्नीत करेगी निश्चय!

श्री अरविन्द भविष्य विश्व के अन्तर्द्रष्टा—
भावी जीवन का आदर्श यथार्थ जिन्होंने
संयोजित कर, स्वप्न दिया नव धरा-स्वर्ग का
दिव्य पुरुष का! जिसकी तुलना में सम्प्रति नर
पशु है तन से, खण्ड सत्य का ज्ञाता मन से!

समग्रता क्या है? आध्यात्मिकता भौतिकता
सहज समन्वित हों भू जीवन में बहिरन्तर,
एकांगीपन के संकट से बचे सभ्यता!
कर्म-वचन-मन ईश्वर प्रति हों पूर्ण समर्पित,
इधर उन्नयन, उधर अवतरण हो प्रकाश का!

निन्यानवे

पैसे से यदि स्नेह खरीदा जा सकता है
स्नेह नहीं वह, स्वार्थसिद्धि-भर मात्र प्रसंशय !
इष्ट मित्र प्रिय बन्धु बान्धवों के संग वैसे
जग में नित आदान-प्रदान लगा रहता है !

पैसे का जग वैसे तो साहित्यकार के
लिए क्रूर ही रहता ऐसा मेरा अनुभव !
पर, पैसे से भी अमूल्य सम्पदा विश्व में
रचना-प्रियता रही सदा साहित्यकार को !

इसे जान कुछ लोभी अर्थ-पिशाच प्रकाशक
सरल-हृदय लेखक का शोषण करते रहते !
उनसे यदि कुछ कहें लाल-पीले, होकर वे
कटु शब्दों का कर प्रयोग निज पाप छिपाते !
कारण, लेखक को प्रिय होता भाव सत्य नित,
वस्तु अर्थ प्रिय होते क्षुद्र प्रकाशक गण को !

हाँ, प्रकाशकों में भी कुछ अपवाद सदा से,
जिनसे जीवित रहता भोला शोषित लेखक !

सौ

मित्र बनाना किसे नहीं अच्छा लगता है ?
किन्तु लाभ ही लाभ उठायें अगर मित्रवर
सहज मित्रता का सदैव—तो उसमें कितनी
सच्चाई हो सकती ?

और लाभ भी कैसा ?—
सरल सुहृद की गिरा दूसरों की आँखों में
आँख मूँदकर लाभ उठाना बड़ा पाप है !
सज्जनता से इस प्रकार का लाभ उठाना
और उसे सहते जाना—यह दुर्बलता है !

यह सज्जनता नहीं ! कहीं आदर्श मिला होता
यथार्थ से, और उपेक्षा कर यथार्थ की
अस्थिहीन आदर्श स्वयं भी गिर जाता है !
इसीलिए आदर्श-मूल्य की रक्षा के हित
कृत संकल्प हमें होना पड़ता अनचाहे !

कभी क्षमा भी कर देना पड़ता दोषी को,
क्योंकि परिस्थितियों के पुतले होते मानव !—
और, क्षमा करने में सुख भी मिलता मन को !
कड़ुवी घूंट क्षमा की पी—मन नहीं सोचता
छिः ! पैसे का लोभ मनुज से क्या न कराता !

एक सौ एक

भगवन्, जब मैं
पुनर्जन्म लूं इस पृथ्वी पर
कवि के बदले
मैं कर्मी बन सकूं जगत् में !
द्रष्टा, वक्ता, कर्मी में
मुझको कर्मी प्रिय !

इतना मोटा चाम
हो गया युग मानव का
नोक लेखनी की
न विद्ध कर पाती उसको !
लोक-कर्म-रत रह
जन को संगठित करूं मैं
मनुज-प्रेम के मुक्त
धरातल पर—जन-मन में
नयी चेतना का वातायन
खोल ज्योति स्मित !
अन्तरिक्ष से बरसें
सक्रिय नव प्रकाश की
स्वर्णिम किरणें—
भू-रज प्रचुर अन्न उपजाये—

सच्चरित्र हो मनुज,
उच्च संकल्प-शक्ति-रत,
संयम से भोगे जीवन को—
भू देशों के
भेद मिटा कर,
मानवता को स्वर्ण-पाश में
बाँधे नव संस्कृति के !
ज्ञान विनम्र रहे मन,
बने पूर्ण से अधिक पूर्ण
अविरत भू-जीवन,
मानव हो जीवन-समृद्ध,
प्रज्ञा रस पोषित !

एक सौ दो

विवश मुझे करती कविता जब
उसे उतारूं,
पत्र लेखनी लेकर मैं
कुछ काल प्रतीक्षा
करता रहता : तब निःस्वर

स्वर्णिम नूपुर ध्वनि
स्वर-लय नर्तित,
मुग्ध हृदय को करती सहसा !
मैं भावों में तन्मय
अंकित करता उसको !
मुझे नहीं दूसरी प्रेयसी
मिली कभी भी—
सम्भवतः ऐसा सौन्दर्य
न रहा किसी में,
जिसने मुझको
कर्म-जगत् के संघर्षण से
हटा, कल्पना स्वप्नों के स्मित
अन्तर्जग में
विचरण मौन कराया !

कीर्ति मिली हो जैसी,
मूल्यों का चिन्तन रण
भले रहा हो भीषण
उर में—दृग भी हों
उन्निद्र रहे वर्षों तक—
भाव सम्पदा उसने
अक्षय दी निःसंशय,
जिससे जीवन का दारिद्र्य
न जाना मैंने !

और खोलता रहा
सूक्ष्म शोभा के कर से
गुह्य द्वार पर द्वार
चेतना के वैभव के
अमृत कोष के !
भाव जगत में खुले दृगों से
धरा स्वर्ग की
भावी रचना रहा देखता !
युग यथार्थ के
क्रम विकास को आत्मसात् कर !—
मानव पर विश्वास मुझे
ईश्वर पर आस्था !

एक सौ तीन

अपनी आत्मकथा
यदि मैंने लिखी कभी भी
उसे छन्द ही में लिखना
स्वाभाविक होगा !

सहज छन्द में बँधा रहा
मेरा भू जीवन—
इसीलिए, पग-पग पर—
उसे पड़ा सँवारना !

गाँव न था कौसानी
जन्मभूमि जो मेरी,
पुण्य तीर्थ था—
शुभ्र हिमालय के अंचल का
ही प्रसार हो ! पवित्रता में
श्री-मज्जित था
दिग् विराट् परिवेश !

भावना अनजाने ही
सहज बोध के शिखरों पर
विचरण करती थी !
कूट-कूट कर वहाँ
स्वर्ग सौन्दर्य भरा था !

सौ वर्णों के पुष्प दीप
लेकर कुसुमाकर
नीराजन करता,
दिगन्त भर धूप-गन्ध से !
सद्यःस्नाता शरद
कला शशि धर मस्तक पर
ध्यान मौन-सी रहती
गिरि गरिमा में तन्मय !
सुरधनु मण्डित वर्षा भी
गिरि को पहनाती

मोती के झरनों के
शतलड़ हार स्फटिक स्मित !
हिम ऋतु का सौन्दर्य
अनिर्वचनीय रहा नित !
स्वर्ग अप्सराएँ फहरातीं
गिरि प्रान्तर पर
मसृण रुपहले रेशम का
बुन स्वप्निल आँचल !

कविता के स्वर्णिम अंकुर
ऊषा-किरणों से
सहज बटोर सका मन
तब अपलक उन्मेषित !
ज्योति बीज आस्था के भी
पड गये तभी से !

पृष्ठभूमि . शैशव की
आती उभर दृगों में
आत्मकथा का प्रथम सर्ग
बन कर अन्तर में,—
युग जीवन का संघर्षण
मज्जित हो जिसमें
एक नये ही भाव शिखर पर
करता रोहण !

एक सौ चार

प्रिय अप्रिय का मोह हमें छोड़ना पड़ेगा,
सभी कार्य प्रिय होते नहीं जगत् जीवन में—
उनको शुभ या मंगलप्रद होने के कारण
या कर्तव्य विवश होकर करना पड़ता है !

योगक्षेम के लिए प्रयत्न विविध हैं जग मे,
जो प्रभु को स्वीकार अन्त में होता वह ही !
सृष्टि यन्त्र के विविध चक्र भर हम सब गतिमय,
निर्मम है विधि का विधान, इसमें क्या संशय !

फिर भी पूर्ण समर्पण कर प्रभु की इच्छा को
अन्तर का संघर्ष नहीं ही होता अनुभव !
जो होता वह सहज बाह्य संघर्ष से कहीं !
कोई बच सकता न जगत् जीवन पाटों से !

अर्पित कर्म न मर्दित करते प्रणत मनुज को,
क्योंकि अंग बनकर वह महत् जगत् विकास का
आत्मपूर्ण बन जाता निरहंकार चित्त से,
अपना कार्य समझ निबाहता विश्व कर्म नित !

एक सौ पाँच

अपने-अपने स्वार्थों से प्रेरित सब मानव
कभी स्वार्थ टकरा भी जाते हैं आपस में—
मानवीय यह ! उलझे स्वार्थों को सुलझाकर
न्याय बुद्धि से कार्य करे मानव जग मे रह !

स्वार्थ-सिद्धि यदि हो तो इच्छा होती विजयी,
वस्तु-प्राप्ति से सुख मिलता जन को जीवन में !
स्वार्थ-त्याग यदि करना पड़े विजय आत्मा की,
वस्तु जगत् पर शासन करता भाव हृदय तब !

मंगलकामी होते मुक्त उदार वृत्ति के,
भोगाकांक्षी क्षणिक वस्तु सुख में डूबे जन,—

सहज छन्द में बँधा रहा
मेरा भू जीवन—
इसीलिए पग-पग पर—
उसे पड़ा सँवारना !
गाँव न था कौसानी
जन्मभूमि जो मेरी,
पुण्य तीर्थ था—
शुभ्र हिमालय के अंचल का
ही प्रसार हो ! पवित्रता में
श्री-मज्जित था
दिग् विराट् परिवेश !

भावना अनजाने ही
सहज बोध के शिखरों पर
विचरण करती थी !
कूट-कूट कर वहाँ
स्वर्ग सौन्दर्य भरा था !
सौ वर्णों के पुष्प दीप
लेकर कुसुमाकर
नीराजन करता,
दिगन्त भर धूप-गन्ध से !
सद्यःस्नाता शरद
कला शशि धर मस्तक पर
ध्यान मौन-सी रहती
गिरि गरिमा में तन्मय !
सुरधनु मण्डित वर्षा भी
गिरि को पहनाती

मोती के झरनों के
शतलड़ हार स्फटिक स्मित !
हिम ऋतु का सौन्दर्य
अनिर्वचनीय रहा नित !
स्वर्ग अप्सराएँ फहरातीं
गिरि प्रान्तर पर
मसृण रुपहले रेशम का
बुन स्वप्निल आँचल !
कविता के स्वर्णिम अंकुर
ऊषा-किरणों से
सहज बटोर सका मन
तब अपलक उन्मेषित !
ज्योति बीज आस्था के भी
पड गये तभी से !

पृष्ठभूमि, शैशव की
आती उभर दृगों में
आत्मकथा का प्रथम सर्ग
बन कर अन्तर में,—
युग जीवन का संघर्षण
मज्जित हो जिसमें
एक नये ही भाव शिखर पर
करता रोहण !

एक सौ चार

प्रिय अप्रिय का मोह हमें छोड़ना पड़ेगा,
सभी कार्य प्रिय होते नहीं जगत् जीवन में—
उनको शुभ या मंगलप्रद होने के कारण
या कर्तव्य विवश होकर करना पड़ता है !

योगक्षेम के लिए प्रयत्न विविध हैं जग में,
जो प्रभु को स्वीकार अन्त में होता वह ही !
सृष्टि यन्त्र के विविध चक्र भर हम सब गतिमय,
निर्मम है विधि का विधान, इसमें क्या संशय !

फिर भी पूर्ण समर्पण कर प्रभु की इच्छा को
अन्तर का संघर्ष नहीं ही होता अनुभव !
जो होता वह सहज बाह्य संघर्ष से कहीं !
कोई बच सकता न जगत् जीवन पाटों से !

अर्पित कर्म न मर्दित करते प्रणत मनुज को,
क्योंकि अंग बनकर वह महत् जगत् विकास का
आत्मपूर्ण बन जाता निरहंकार चित्त से,
अपना कार्य समझ निवाहता विश्व कर्म नित !

एक सौ पांच

अपने-अपने स्वार्थों से प्रेरित सब मानव
कभी स्वार्थ टकरा भी जाते हैं आपस में—
मानवीय यह ! उलझे स्वार्थों को सुलझाकर
न्याय बुद्धि से कार्य करे मानव जग में रह !

स्वार्थ-सिद्धि यदि हो तो इच्छा होती विजयी,
वस्तु-प्राप्ति से सुख मिलता जन को जीवन में !
स्वार्थ-त्याग यदि करना पड़े विजय आत्मा की,
वस्तु जगत् पर शासन करता भाव हृदय तब !

मंगलकामी होते मुक्त उदार वृत्ति के,
भोगाकांक्षी क्षणिक वस्तु सुख में डूबे जन,—

देश-काल के ऊपर उठते एक अन्ततः
देश-काल स्थिति गति से मर्दित अपर असंशय !
साधक मानव, कृच्छ् साधना भव जीवन-पथ
त्यागपूर्ण जो भोग योग है वही वस्तुतः !

एक सौ छः

स्नेह बाँधता ऐक्य-सूत्र में
दो हृदयों को—
स्नेही के कटु वचन
हृदय में चुभ जाते हैं !
कहने वाले पर भी होती
उसकी गोपन
प्रतिक्रिया—सन्देह नहीं
इसमें कुछ मुझको !

क्योंकि चेतना मिली हुई
होती दोनों की
दोनों अपना भाव छिपाते,
प्रतिक्रिया को
पी मन ही मन—क्योंकि
स्नेह क्षण की कटुता से
गहरा होता कहीं !
उसे कोई भी खोना
नहीं चाहता !

दोनों ही
सद्भाव परस्पर दिखलाने की
चेष्टा करते—
क्षुब्ध चित्त में !
जिससे फिर भर जाता
घायल भाव हृदय का !
इसी तरह तप-खँटकर
संयम, सतर्कता से
प्रेम साधना होती जग में !—
यही सृष्टि का
गूढ़ ध्येय भी रहता—
क्योंकि चराचरमय
इस निखिल सृष्टि का सार
प्रेम है, प्रेम असंशय !
क्रम विकास का पथ
जो भावी मानवता का !

एक सौ सात

मूढ़ रूढ़ जग जीवन से
होते सम्मोहित—
जो अतीत के अहंकार का
शव इव रक्षित !
ब्याह शादियों में
करते वे घोर अपव्यय,
ऋण के बल कर
अहंकार का घोर प्रदर्शन !
पवित्रता होती विनष्ट
संस्कार कर्म की
जो दो हृदयों का निश्छल
परिपूर्ण समर्पण !
मुग्ध दृष्टि कमलों ही की
जयमाल नहीं क्यों
पहनाएँ वर-वधू
परस्पर देख निर्निमिष !
हाथ हाथ में देकर
हृदय समर्पित कर दें
एक दूसरे को निज,—
क्षण शाश्वत बन जाये !
बिना ब्याह के भी क्यों
नहीं समर्पित दो मन
बँध, जीवन के रथ चक्रों-से,
सदा साथ बढ़
पन्थ प्रेम का पार
सहज कर सकते मिलकर
एक दूसरे पर न्योछावर—
प्रेम अग्नि की
परिक्रमा कर, कुचल मार्ग के
खर कुश कण्टक
धूप ताप सह,
जीवन अनुभव में
रस परिणत !

एक सौ आठ

हाय, व्यक्ति, क्या तुम
समूह में खो जाओगे ?
सामूहिकता कभी
निगल सकती क्या तुमको ?

व्यापकता में भी तुम
कभी समा पाओगे ?
तुम, विशिष्ट जो !
सामूहिकता मात्र व्यक्ति का
साधारणीकरण भर है !
तुम अपने ही में
पूर्ण, अशेष कहीं हो !—
मुझे न इसमें संशय !
थामे रहो बाँह
सित आस्था की, ईश्वर पर
निर्भर रहो पूर्णतः
समझ सकेंगे तुमको
केवल प्रभु ही !
जिन विशेष रुचियों, संस्कारों
अन्तर की गोपन
कांक्षाओं से तुम निर्मित—
प्राणों की, मन की
विशेष प्रिय मात्राओं के
सम्मिश्रण से सृष्टि
निखिल व्यक्तित्व तुम्हारा,
उसको प्रभु ही कर सकते
चरितार्थ जगत् में !
सामूहिक साधारणता के
साथ भी रहो,—
वैश्व स्वरूप तुम्हारा वह,
पर अन्तःस्थित रह
ईश्वर की कृति को तुम
निज में अभिव्यक्ति दो !
गुण-दोषों के लिए
सभी विधि उत्तरदायी,
स्वर संगति भर जिनमें
प्रभु सार्थकता देंगे !

सत्यकाम

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७५]

मा

सरस्वती को

मुझे छोड़ अनगढ़ जग में
तुम हुईं अगोचर,
भाव-देह धर लौटीं
मा की ममता से भर !
वीणा ले कर में,
शोभित प्रेरणा-हंस पर,
साध चेतना - तन्त्रि
रसो वै सः झंकृत कर ! —
रूप - कल्पना को
अरूप दे सत्य - दृष्टि - वर
खोल हृदय में भावी के
सौन्दर्य दिगन्तर !

विज्ञप्ति

वैदिक युग का यह काव्य अपने उन्मेषों, प्रेरणाओं तथा विचार-भावनाओं की चैतसिक उन्मुक्तता में अतुकान्त छन्द के पंखों पर ही सहज स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी उड़ान भर सकेगा, इस दृष्टि से मैंने इसमें तुकान्त चरणों का प्रयोग उचित नहीं समझा है।

'सत्यकाम' मूलतः धरती के जीवन का काव्य है। सच्चे अध्यात्म की परिणति, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं, धरती के जीवन की सम्पन्नता एवं परिपूर्णता ही में होनी चाहिए। भारतीय परम्परावादी मनीषा को धरती के स्तर पर उतारने के लिए अनेक वैचारिक सोपानों की सहायता लेनी पड़ी है, जो कि इस काव्य के एक अनिवार्य एवं स्वाभाविक अंग बन गये हैं।

'सत्यकाम' में साधना का सत्य तथा काव्य का सत्य तदाकार हो गये हैं। कथा-भाग का कृश पंजर मुख्यतः छान्दोग्य उपनिषद से लिया गया है, जिसके अनुसार सत्यकाम निर्जन में वृष, अग्नि, हंस और मद्गु—चार देवों से भी दीक्षा लेता है। शेष कल्पना तथा अनुभूति-प्रसूत है। मूलतः यह एक तापस की भावनाओं को वाणी देनेवाला बोध-काव्य है।

शुभमस्तु !

सुमित्रानंदन पंत

१८/बी० ७, के० जी० मार्ग
इलाहाबाद-२
९-७-७४

जिज्ञासा

सुपथ, अग्नि, हमको दिखलाओ,
वह्नि, विश्व-सत्यों की ज्ञाता,
ऊर्ध्व दृष्टि अन्तस्थ अभीप्से,
जीवन यज्ञ शिखे, विख्याता !
विशद पृष्ठ वैदिक वन-युग का खुलता, वाणी,
मन की अपलक आँखों में, उद्गीथ पुरातन
गाओ ने, जब स्वर्ण प्रभात रहा ज्योतिर्मय
ब्रह्मज्ञान का, आलोकित कीं जिसने निशिएँ
अन्ध धरा की,—खोल निरुद्ध कपाट बुद्धि के !
घूम पड़ा हो काल चक्र विपरीत दिशा में,
स्वप्न-मूर्त हो रहे सहस्रों युग, संवत्सर !
जाग रहे निर्मम जड़ भूतों के पाशों से
शनैः देवगण ! स्वर्गिक ऊषाएँ फहरातीं
ईश्वरीय अनुराग केतु अन्तः क्षितिजों पर !
मन्त्रपूत स्वाहा - स्वाहा ध्वनियों से लगता
आत्म गुंजरित विजन प्रान्त,—एकान्त खोलते
गोपन सूक्ष्म रहस्य प्रेरणाओं से दीपित
गुह्य शब्द संकेतों, स्फुरित ऋचाओं में शत !
गन्ध-धूम परिव्याप्त चतुर्दिक् मातरिश्व में
मुक्त नील के नीचे दुहरा नील सँजोते,
सन्ध्या उतर रही धीरे गैरिक दिग्वसना,
समाधिस्थ लगता अरण्य, मुनि ध्यानावस्थित !
कौन खड़ा न्यग्रोध वृक्ष के नीचे उन्मन
कोमल वयस किशोर, गूढ़ किस चिन्तन में रत ?
अन्तःकेन्द्रित दृष्टि निर्निमिष, उन्नत मस्तक,—
वह क्या वटु जाबाल ? सोचता क्या विस्मित-सा ?
"हिरण्मयी सन्ध्या मणि - छाया पंख खोल जब
अन्तरिक्ष में उड़ती मौन विराट् विहग-सी
रवि की तिर्यक् दिग् लम्बी रक्ताभ चंचु से—
मन अनजाने स्वप्नलोक में खो सो जाता !
बृहद् यज्ञ वेदी-सा जल उठता वन प्रान्तर,
तरु शाखाएँ सुलग सुनहली ज्वालाओं में

समिधाओं-सी लगतीं शत लपटों में लिपटीं—
अस्फुट मन्त्र स्वरों में मर्मर भरता तरुवन!

"रवि को गिरता देख पंख-हत अग्नि विहग-सा
धूम-क्षितिज में—सोचा करता विस्मय-हत मन,
कौन किये धरती को धारण? किस पर अटका
वन प्रदेश? ये वृक्ष, विहग, पशु किन देवों के
प्रतिनिधि?—कैसे नेत्र देखते, श्रुतियाँ सुनतीं?
कैसे वाणी शब्द उच्चरित करती सार्थक?
कौन इन्द्रियों को, मन को प्रेरित करता वह?
भेद नहीं मिलता कुछ भी!···घन अन्धकार के
अवगुण्ठन में ओझल होगा दृश्य जगत् अब,
नभ असंख्य दृग फाड़, और भी तब रहस्यमय
बन जायेगा!···सचमुच कैसी विडम्बना है!

"सुनता, देवगणों से शासित निखिल सृष्टि यह,
द्यावापृथ्वी की सन्तान समस्त चराचर!
सर्वशक्तिमय इन्द्र-वरुण अधिदेव नभ स्थित,—
स्वर्ण द्रापि को ओढ़ वरुण निज सूर्य-दृष्टि से
सर्वेक्षण करते सब भुवनों का सहस्र-दृग!
वे मेदिर सम्राट्, दिव्य माया के स्वामी,
धरा स्वर्ग को जो विभक्त रखते विधि-बल से!

"वायु उन्हीं की श्वास, इन्दु उडुगण निशि दीपक,
सलिलों के प्रभु, स्रोतों से भरते समुद्र को,
वारि विहग गति से उनका साम्राज्य महत्तर!
सिन्धु पोत, खग मृग, वात्या के पथ से परिचित,
ऋत विधान के संरक्षक वे, शासक जग के!

धृतव्रत, त्रिक् पाशों से दण्डित करते पाशी,
दयासिन्धु भी, हरते अघ-भय आत्म ग्लानि से,—
सर्व शक्ति सम्पन्न, सर्वविद् वरुण असंशय!

"देव पंक्ति में, कहते, सबसे क्षमताशाली
इन्द्र देव हैं! अवग्राह से रक्षा करते
जो सलिलों का मार्ग मुक्त कर वृत्र रोध से!
वज्रपाणि वे, दैत्यों अरियों का मद हरते,
स्वर्णायुध उनका सहस्र पैनी धारों का
त्वष्टृ विनिर्मित! जिसकी गर्जन सुन कँप उठते
ज्योतिपिण्ड दिशि पथ पर! विद्युत् असि चमकाकर
वे गिरियों के पंख काटकर उन्हें गिराते—
दिग् विराट् जो विहंगमों-से उड़ते उद्धत,
भू स्थिति को डगमगा ग्रहों के ज्योति कक्ष में!

"द्यावापृथ्वी से भी बृहद् कलेवर उनका,
सोम सरोवर उदर, बाहुपाशों में बाँधे

भूमा को! तेजस्वी, ओजस्वी, अजेय वे,
दोनों लोकों को मुट्ठी में पकड़े निर्भय!
धरा स्वर्ग मेखला नहीं पर्याप्त मध्य की!
शत सहस्र पिंगल अश्वों पर धावित उनका
दिव्य यान मरुतों के सँग उड़ता अम्बर में!
विजय केतु वीरों के इन्द्र, जिन्होंने पणियों
दासों को कर विजित, शस्य श्यामला उर्वरा
सप्त सिन्धु की भूमि छीन, सौंपी आर्यों को!

"रुद्र पृश्नि के पुत्र मरुत् भी महत् शक्तिमय,
पिंगल विद्युत् अश्वों के स्यंदन पर चढ़कर
जब वे आते, गाते और गरजते दुर्वह,
अडिग पर्वतों के पंजर कँप उठते थर्-थर्!
सिन्धु विलोड़ित होते फेनोच्छ्वसित नचा फन,—
मत्त गजों से पैठ रौंदते वे अरण्य को,
केश जाल कानन विटपों के खींच, नोंचकर!
सिंहों-से भीषण वे, बछड़ों-से क्रीड़ा प्रिय,
दुग्ध धार, मधु, घृत बरसाते उर्वर भू पर!
जगमग स्वर्ण शिरस्क, रुक्म शोभित वक्षःस्थल,
तड़ित् रिष्टि कन्धों पर, चरणों पर कल पायल,—
प्रबल इन्द्र के सहचर वे, जो विदित वृत्रहन्!

"दिव्य अदिति के पुत्र अष्ट आदित्य अनामय,
ये अनिमेष, अपापविद्ध, शुचि स्वर्ण कान्तिमृत्!
केशी मुनि-से सूर्य पूर्व अर्णव से उठकर
अपर सिन्धुतल में करते विश्राम निशा में!
अम्बर के उर-रत्न, अरुण दृढ़ पंख श्येनवत्,
पूषण के दृग से जन्मे ये परम तेजमय!
सप्त हरित शोभी रथ पर आरूढ़ वेगमय
सदसत् कर्मों को देखा करते मर्त्यों के!

"उषा निशा के औरस, सन्धि प्रकाश, स्मेर मुख
मधु प्रिय अश्विन आते प्रातः अश्वों पर चढ़,
कपिश कृष्ण रँग की गाएँ जब चरतीं भू पर!
इन्हें देखकर मधुप पुष्प-मधु संचय करते
मनोवेगमय इनका कांचन रथ ऋभु कल्पित,
ये अनन्त यौवन प्रतीक, भय संशय नाशक!

"कर्बुर कबरी दीर्घ श्मश्रु से शोभित पूषण,
ये अजाश्व, चिर तरुण, सोमप्रिय, हेम रिष्टिधर,
सूर्या के प्रणयी, नव बालवधू के रक्षक,
उसको पति-गृह पहुँचाते अश्विन के रथ पर!

"भूला जा सकता क्या भला महत् सवितृ को?
शुभ्र हिरण्मय ज्योति स्वर्ग-भू में भरते जो!
अंग-अंग शोभित जिनका कनकाभ रश्मिमय,
विधि विधान का पालन करवाते देवों से!

"स्वर्ग नभस्वतवासी यह देवों की श्रेणी,
अग्निदेव ही आहुति प्रिय भू-देव असंशय!
देवों के मुख, कोमल वपु नवनीत कान्तिमय,
सिर पर स्वर्ण लटें लपटों-सी लिपटीं भास्वर!
ये तरुओं को चबा, कृष्णमुख करते वन को,
वप्तृ सदृश मुण्डन कर, कानन को सपाट कर!
धूमकेतु ये, मातरिश्व लाये हैं जिनको,
गृहपति, विशपति, दिव्य अतिथि भू पर द्युलोक के!
अग्नि असुर सम्राट्, पुरोहित, ऋत्विज, होता,
देवदूत वे, हव्यवाह, कविऋषि, वैश्वानर!

"मा बतलातीं, मनुज हृदय ही सत्य वेदिका,
उच्च अभीप्सा अग्नि शिखा, ईप्साएँ समिधा,
प्राणों की आहुति जिन पर पड़ती रहती नित!
फिर स्वाहा-स्वाहा कहने से भला लाभ क्या?
यज्ञ वेदिका क्या प्रतीक भर अन्तर्मन की?

"कौन सत्य वह? जिसे प्राप्त करने को साधक
तप: क्लिष्ट जीवन व्यतीत करते अरण्य में?...
अन्तर्द्रष्टा ऋषि जिसके ज्ञाता कहलाते,
कर्म वचन मन पालन करते ब्रह्मचर्य जो!...
कितने ही पथ, कितने ही प्रवचन मुनियों के,
बुद्धि उलझती जाती, गूढ़ रहस्य न खुलता!
मा कहतीं, हम आर्य मनुज हैं! देवों से भी
मनुजों के कन्धों पर प्रभु दायित्व महत्तर!...

"अह, मेरे ही जीवन का दर्पण अरण्य यह!
एकाकी, निस्तब्ध, भयावह, दारुण, दुर्गम!
दृष्टिहीन तम-सागर में डूबता अजाने,
आँखमिचौनी धूपछाँह से कभी खेलता!
अग्नि गर्भ बहु शमी, शिंशिपा, खदिर बिल्व, धव,
अश्वकर्ण, मन्दार, तिलक, किंशुक अनेकश:
नाम हीन वृक्षों के धम्मिलों से गुम्फित—
तिग्म गन्ध से समुच्छ्वसित हो उठतीं साँसें!

"काँस, बाँस, कुश, खर, वीरुध से छादित भूतल,
फूलों की ज्वालाएँ छा जातीं दिगन्त में—
उड़ अनाम खग रंग वृष्टि करते पंखों की!
मृगमद सुरभित, झिल्ली-झंकृत मधु कानन में
कभी अरण्यानी की पगध्वनियाँ सुन पड़तीं

नृत्य मुखर वन में बज उठतीं उन्मद पायल,
गन्धर्वों की गन्ध फैलती जब समीर में!

"कभी सूप के पंख खोल उड़ते विराट् खग
गरुड़ों श्येनों को विभीत कर चीत्कारों से!
घूकों की घूत्कारों का उत्तर देते पिक,
आर्द्र स्वरों से चीर गहन की अगम शान्ति को!
सिंह, ऋक्ष, वृक मृगशावों पर टूट झपटते,
मत्त गजों से वृहद् भूधराकार वन्य पशु
गुरु गर्जन भर गिरि गह्वर रखते प्रतिध्वनित!

"धेनु रँभातीं, अज मिमियाते, श्वान भूँकते,
वन छायाएँ कोलाहल से कँप-कँप उठतीं!
उस पर मरुतों के अश्वों की टापों की ध्वनि
झंझा मन्थित, धूलि धूसरित दारुण वन को
बधिर बनाती रहतीं—भू की धुरी हिलाकर!

"ऐसे ही मेरे अन्तर में चलता रहता
अविरत संघर्षण अज्ञात अभीप्साओं का—
घने कुहासे के-से वन में खोजा करता
मैं प्रकाश का केन्द्र—मुक्त सब छायाओं से!

"कब से निर्मम मन्थन चलता अन्तरतम में
मन प्रस्तर की शिला बन गया अति चिन्तन से,
नहीं जानता द्रवीभूत कब होगी आत्मा!
मिलता जो आभास कभी, वह खो-खो जाता!
व्यथा बाँध मन प्राणों में, फिरता एकाकी
मैं निर्जन में भ्रमित सत्य की व्यग्र खोज में!···
डूब ध्यान में जाता मन आप ही अजाने,
कोई उसको खींच रहा हो, विस्मृत-सा कर···

"अह, सहसा क्या चुभता उर में?···कौन बेधता
बोध रश्मि की तीक्ष्ण नोंक से मेरा अन्तर!···
यह कैसा प्रकाश का सागर!···डूब रहा मैं!···
पैर उठ रहे हों भू से!···मैं तिरता हूँ क्या?···
नाभि केन्द्र से गुह्य नाद-सा फूट रहा क्यों?···
शब्द नहीं सुन पाते मन के श्रवण मन्त्र के!···
सारा दृश्य जगत् अदृश्य-पट पर सा चित्रित···
एक अखण्ड सूक्ष्म सत्ता भर व्याप्त चतुर्दिक्!···

"मेरी सत्ता?···देखूँ निकट सरोवर जल में
अपना मुख!···स्वप्नावस्था में-से बढ़ते पग!···
मैं हूँ! मैं हूँ!···दिखता मेरा बिम्ब मुकुर में
सरसी जल के!···दृप्त नयन हैं···फूले नथुने···
हृदय वेग से धड़क रहा क्यों?···नहीं, नहीं···मैं
मैं हूँ···वन वन हैं, तरु तरु हैं!···वह सन्ध्या की

ज्वाला तिरती जल तल में !…हम सभी सत्य हैं !
सूक्ष्म तत्व ही नहीं, सत्य यह स्थूल जगत् भी !

"हृदय ग्रन्थि खुल गयी रुद्ध जिज्ञासा की अब !
सूक्ष्म अगोचर सत् की बाँहों में समस्त जग
झूल रहा है !…सृष्टि-रहस्य निगूढ़ बन गया
अधिक और भी !…ऊर्ध्व नाभि शब्द के सहारे
लगता खड़ा हुआ हूँ मैं !…यह कैसी स्थिति है !
भाव प्रवण हो गया अधिक उर सूक्ष्म स्पर्श पा !…
एक सहज उल्लास, जिसे जानता न था मन,
रोम-रोम में समा गया रुपहली मुक्ति-सा !…
स्वतः स्फूर्त जो स्पर्श सत्य का मिला हृदय को
उसे साधना पथ से स्थायी करना होगा !…
श्रद्धा निष्ठा ही से सम्भव सिद्धि साध्य की !

"लो, वह नागराज जाते श्लथ जिह्वा वेग से !
किसने बट रेशमी रज्जु को, चितकबरी रँग,
छोड़ दिया भू पर लहराने को, सिर पर धर
मणि किरीट फण !—यही वृत्र के प्रतिनिधि भू पर !

"सर्प रज्जु भ्रम बतलाते बुध रहस् सृष्टि को,
जो है और नहीं भी !…कैसी गूढ़ पहेली !
ब्रह्मज्ञान हो जाने से, सुनता धुल जाता
अन्तर का अवसाद, मर्म खुल जाता गोपन,
शाश्वत का आनन्द-नीड़ बन जाता अन्तर !…
शाश्वत का आनन्द !…रोम हँस उठते पुलकित !

"यहीं निकट ही लता कुञ्ज वृक्षों से वेष्टित
ऋषिवर गौतम का प्रसिद्ध आश्रम है पावन !
कहते, पशु भी जन्मजात भय वैर भुलाकर
तप की महिमा से सहिष्णु हो गये वहाँ के !
क्यों न शान्त सन्ध्या वेला में जाकर मैं भी
गुरुवर से दीक्षा लूँ ? मा भी तो ऋषिवर की
गहन ज्ञान गरिमा की सदा प्रशंसा करतीं !
नयी दृष्टि है प्राप्त उन्हें—कहते सुनता हूँ
प्राज्ञ जनों को !…जाऊँ,…क्यों न अभी हो आऊँ !"

गहराती जाती थी सन्ध्या, वन में कोमल
अन्धकार घिर मसृण रेशमी केश जाल-सा
आकुल गुह्य अभीप्सा जगा रहा था मन में !
सान्ध्य पक्षियों का कलरव था मन्द पड़ चुका,
पंक्तिबद्ध कुछ खग उड़ते चित्रित-से नभ में !
एक पैर पर खड़े, गौर ग्रीवाएँ मोड़े,
रोमिल पंखों में थे शीश गड़ाये कुछ खग !
खोहों में सोने को चले गये थे वन पशु,

पंख फड़फड़ाते कौशिक विटपों पर जगकर,
मौन शान्ति-पर्याय बना था श्रान्त समीरण !
अर्ध जागरित, अर्ध सुप्त तन्द्रिल निसर्ग था,
पश्चिम नभ में शुक्र विहँसता था शिशु शशि-सा,
जब पहुँचा जाबाल तपोवन में गौतम के !

ध्यानमग्न थे मुनिवर पर्णकुटी के भीतर,
नव सुमनों की गन्ध बसी थी जगत् प्राण में,—
लिपा-पुता था अजिर, सामने पुष्प वाटिका,
फूलों के रंगों की मैत्री थी दृगमोहक !
यज्ञ कुण्ड दक्षिण में, पुष्कर वाम पार्श्व में,
सरसिज पंखड़ियाँ झुक अन्तर्मुख केन्द्रित थीं,
कपिला श्यामा बैठीं अलस जुगाली करतीं !

पीपल तरु छाया में लेटा वृद्ध सिंह था
जिसे छेड़ता था किशोर मृग सींग गड़ाकर,
वह दबोच उसको पंजों के छद्म पाश में
तीखे दांत दिखा, हँसता क्रीड़ा प्रिय मृग पर !

वन्य शस्य, नीवारों के सूखे स्कन्धों के
ढेर लगे थे एक ओर, विटपों पर चीवर
लटके थे, काषाय वस्त्र भी ! साधक निश्चल
अपलक त्राटक साध, ऊर्ध्वदृग ध्यान लीन थे !
वटुक श्लक्ष्ण स्वर में थे मन्त्रोच्चार कर रहे,
कर-संचालन पूर्वक वेद-ऋचाएँ गाकर !

बहिर्भाग में आश्रम के एकत्रित होकर
नये वटुक मिल खेलों की चर्चा करते थे !
कहता वसु, कल आजिवृत्त में गया देखने
मैं अश्वों की, क्षिप्र रथों की चर्या दिन को !
कृष्ण कर्ण के श्वेत वर्ण हय ने मरुतों का
वेग छीन, जीता स्पर्धा पण !—अद्भुत जय था !

कुत्स बताता, हम तो कल संगीत कोष्ठ में
थे पराह्न को,—नाडी, कर्करि, दुन्दुभि के सँग
साम गान गाते थे ऋत्विज् तन्मय लय में,
उद्‌गीथों के स्वर-कम्पन के सम्मोहन ने
गन्धर्वों के कल कौशल को म्लान कर दिया !
सुनता हूँ अब वाद्य वृन्द में वीणा का भी
जन्म हो चुका, जिसके तारों में सौ मधुकर
साथ गूँजते,—नव वसन्त आगम के सूचक !

नृत्य मुग्ध करती थी भावोद्वेलित उर को
वन्या मृदु आघाटि स्वरों सँग पदक्षेप कर !

मुझे त्रिपंचाशः गोटियाँ विभीदक की प्रिय,
कहता था अपने से, तरुण तिमिश डरता-सा !

"अरे, कौन घुस आता यह आश्रम में ?—सहसा
एक शिष्य ने ललकारा, बीथी से आते
देख नवागन्तुक को ! ···कोई दस्यु तो नहीं···?"

"दस्यु नहीं मैं ! ···ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा लेने
आया हूँ ऋषिवर से, उनकी महिमा सुनकर !"
बोला वटु जाबाल, नम्र संयत स्थिर स्वर में !

"ब्रह्मज्ञान की दीक्षा ? क्या है गोत्र तुम्हारा ?"
"गोत्र ? गोत्र ?" रुककर बोला जाबाल हतप्रभ,
"गोत्र नहीं अब मुझे ज्ञात ! ···मा से पूछूँगा !"

हा, हा, हा, हा,—लहर हँसी की दौड़ी उच्छल
शिष्य वर्ग में ! कहा दूसरे ने "क्या यह भी
ज्ञात नहीं तुमको कि ब्रह्मविद्या पाने का
अधिकारी केवल ब्राह्मण होता है ! ···जाओ,
भगो यहाँ से ! ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेने
किस मुँह से आये हो ? जब तुम गोत्रहीन हो !"

"प्रातः उठकर किस वापी के जल से तुमने
मुँह धोया ? अज्ञात गोत्र के ढीठ युवक, जो
दीक्षा लेने का साहस कर आये हो तुम ?"
बोला अपर—हँसी का फिर से मचा ठहाका !
"अरे, वर्णसंकर होगा यह कोई निश्चय !"
कहा तीसरे ने, अपमानित कर किशोर को !
"गुरु दुतकार बताएँगे इस तुच्छ श्वान को !"

हास्य, व्यंग्य, कटु रूक्ष धृष्ट वचनों से आहत
लौट पड़ा हतप्रभ जाबाल पुनः वट तरु को,
क्षोभ, दुराशा में डूबा, पीड़ित, अवमानित !
स्वाभिमान से दीप्त, मन्यु विस्फारित लोचन !—
यही ब्रह्म विद्या के अधिकारी ? ···मन ही मन
वह विमर्श करता—ये निर्मम अहंकार की
जीवित मूर्ति, असंस्कृत, उच्छृंखल, कटुभाषी !
क्षमा सिन्धु गुरुदेव इन्हें क्या नही जानते ?
मैं जो दृढ़ संकल्प कर चुका समित्पाणि हो
गुरु से दीक्षा लेने का,—वह सफल न होगा ?

आत्मग्लानि-हत कहता था मन, सचमुच मैंने
क्यों न अभी तक पूछा, कौन पिता है मेरे !
जीवित हैं या···यदि जीवित तो कहाँ गये वे ?···
क्या है मेरा गोत्र ? ···जान लेना था मुझको !
पूज्य पिता का नाम कभी न बताया मा ने !

मधुऋतु का तम बुनता था नव स्वप्नों का पट
वन गन्धों में सना, निराशा के अरण्य में—

शशि की बंकिम कला ग्रमृत ग्राशा की ग्रसि-सी
काट रही थी तमस, प्रेरणा भर किशोर के
भावों से संकुल, शंकित, व्याकुल ग्रन्तर में !
ज्योति पुरुष जब सहसा प्रकट हृदय भीतर हो
बोले, "मैं हूँ ! विचलित मत हो !"···विस्मित था वह !

बीत चुका था पतझर···वन की शाखाग्रों पर
नयी कोंपलें खोल रही थीं पलकें सालस
शशि किरणों के रजत-स्पर्श से—एक ग्रपरिचित
कोमलता - सी भावप्रवण जावाल वत्स के
ग्रन्तर में थी व्याप्त हो रही ! ग्रांखमिचौनी
खेल रही थी ग्राशा ग्राशंका बारी से !

एक सूक्ष्म ग्रास्था का स्वर ग्रन्तरतम में जग
कहता था, गुरु निश्चय दीक्षा देंगे मुझको
जब मैं मा से गोत्र पूछकर जाऊँगा कल !
सतत ब्रह्म जिज्ञासा में रत मेरी ग्रात्मा
ब्राह्मण की ग्रात्मा होगी दीक्षा ग्रधिकारी !

ग्रौर हर्ष से उछल - कूद वह वन के परिचित
मार्गों से भागा घर को, पथ-ग्रन्धकार को
चीर क्षिप्र भावनावेग की विद्युत् गति से !
"पलक पाँवड़े बिछा प्रतीक्षा करती होगी
मेरी मा !···हो गया भले ही हो विलम्ब कुछ
कल का दिव्य प्रभात ब्रह्म विद्या में दीक्षित
नव प्रभात होगा मेरे जीवन का निश्चय !"—
सोच रहा था मन ग्राशा पंखों पर उड़कर !

ब्रह्मज्ञान के दिव्य वृत्त का स्वर्ण काल था !
धरा गर्भ में ग्रभी महत् ऊष्मा ऊर्जा थी,
नये चरण थे जीवन के, भू सद्यः सुन्दर,
पशु पक्षी पुष्पों के जग से ऊपर उठकर
ग्रगणित शतियों की संकट स्थिति तिर जल स्थल की
जीवन, मानस जीवी बन, चलता धरती पर
पशु चारी से, कृषि जीवी, ग्राश्रम वासी बन !

विश्व प्रकृति की शोभा गरिमा से सम्मोहित
श्रद्धानत था मनुज पंचभूतों के सम्मुख !
मुक्त नील में खो सा जाता दृष्टि-बोध था,
ग्रग्नि ऊर्ध्व मुख उठना सिखलाती ईप्सा को,
मरुतों का जव परिचायक था प्राणशक्ति का,
पृथ्वी माता, जीवों को थी धारण करती,
सिन्धु ग्रकूल ग्रतल ग्रसीमता का प्रतीक था !
पुष्प उसे सुन्दरता से रहना सिखलाते,
पशु-पक्षी प्रेरित करते, वह संकेतों को
छोड़, मुखर बन, शब्दों में वाणी दे मन को !

"अरे, कौन घुस आता यह आश्रम में ?—सहसा
एक शिष्य ने ललकारा, बीथी से आते
देख नवागन्तुक को !···कोई दस्यु तो नहीं···?"

"दस्यु नहीं मैं !···ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा लेने
आया हूँ ऋषिवर से, उनकी महिमा सुनकर !"
बोला वटु जाबाल, नम्र संयत स्थिर स्वर में !

"ब्रह्मज्ञान की दीक्षा ? क्या है गोत्र तुम्हारा ?"
"गोत्र ? गोत्र ?" रुककर बोला जाबाल हतप्रभ,
"गोत्र नहीं अब मुझे ज्ञात !···मा से पूछूँगा !"

हा, हा, हा, हा,—लहर हँसी की दौड़ी उच्छल
शिष्य वर्ग में ! कहा दूसरे ने "क्या यह भी
ज्ञात नहीं तुमको कि ब्रह्मविद्या पाने का
अधिकारी केवल ब्राह्मण होता है !···जाओ,
भगो यहाँ से ! ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेने
किस मुँह से आये हो ? जब तुम गोत्रहीन हो !"

"प्रात: उठकर किस वापी के जल से तुमने
मुँह धोया ? अज्ञात गोत्र के ढीठ युवक, जो
दीक्षा लेने का साहस कर आये हो तुम ?"
बोला अपर—हँसी का फिर से मचा ठहाका !
"अरे, वर्णसंकर होगा यह कोई निश्चय !"
कहा तीसरे ने, अपमानित कर किशोर को !
"गुरु दुतकार बताएँगे इस तुच्छ श्वान को !"

हास्य, व्यंग्य, कटु रूक्ष धृष्ट वचनों से आहत
लौट पड़ा हतप्रभ जाबाल पुनः वट तरु को,
क्षोभ, दुराशा में डूबा, पीड़ित, अवमानित !
स्वाभिमान से दीप्त, मन्यु विस्फारित लोचन !—
यही ब्रह्म विद्या के अधिकारी ?···मन ही मन
वह विमर्श करता—ये निर्मम अहंकार की
जीवित मूर्ति, असंस्कृत, उच्छृंखल, कटुभाषी !
क्षमा सिन्धु गुरुदेव इन्हें क्या नहीं जानते ?
मैं जो दृढ़ संकल्प कर चुका समित्पाणि हो
गुरु से दीक्षा लेने का,—वह सफल न होगा ?

आत्मग्लानि-हत कहता था मन, सचमुच मैंने
क्यों न अभी तक पूछा कौन पिता हैं मेरे !
जीवित हैं या···यदि जीवित तो कहाँ गये वे ?···
क्या है मेरा गोत्र ?···जान लेना था मुझको !
पूज्य पिता का नाम कभी न बताया मा ने !

मधुऋतु का तम बुनता था नव स्वप्नों का पट
वन गन्धों में सना, निराशा के अरण्य में—

शशि की वंकिम कला अमृत आशा की असि-सी
काट रही थी तमस, प्रेरणा भर किशोर के
भावों से संकुल, शंकित, व्याकुल अन्तर में !
ज्योति पुरुष जब सहसा प्रकट हृदय भीतर हो
बोले, "मैं हूँ ! विचलित मत हो !"···विस्मित था वह !

बीत चुका था पतझर···वन की शाखाओं पर
नयी कोंपलें खोल रही थीं पलकें सालस
शशि किरणों के रजत-स्पर्श से—एक अपरिचित
कोमलता-सी भावप्रवण जाबाल वत्स के
अन्तर में थी व्याप्त हो रही ! आँखमिचौनी
खेल रही थी आशा आशंका बारी से !

एक सूक्ष्म आस्था का स्वर अन्तरतम में जग
कहता था, गुरु निश्चय दीक्षा देंगे मुझको
जब मैं मा से गोत्र पूछकर जाऊँगा कल !
सतत ब्रह्म जिज्ञासा में रत मेरी आत्मा
ब्राह्मण की आत्मा होगी दीक्षा अधिकारी !

और हर्ष से उछल-कूद वह वन के परिचित
मार्गों से भागा घर को, पथ-अन्धकार को
चीर क्षिप्र भावनावेग की विद्युत् गति से !
"पलक पाँवड़े बिछा प्रतीक्षा करती होगी
मेरी मा !···हो गया भले ही हो विलम्ब कुछ
कल का दिव्य प्रभात ब्रह्म विद्या में दीक्षित
नव प्रभात होगा मेरे जीवन का निश्चय !"—
सोच रहा था मन आशा पंखों पर उड़कर !

ब्रह्मज्ञान के दिव्य वृत्त का स्वर्ण काल था !
धरा गर्भ में अभी महत् ऊष्मा ऊर्जा थी,
नये चरण थे जीवन के, भू सद्यः सुन्दर,
पशु पक्षी पुष्पों के जग से ऊपर उठकर
अगणित शतियों की संकट स्थिति तिर जल स्थल की
जीवन, मानस जीवी बन, चलता धरती पर
पशु चारी से, कृषि जीवी, आश्रम वासी बन !

विश्व प्रकृति की शोभा गरिमा से सम्मोहित
श्रद्धानत था मनुज पंचभूतों के सम्मुख !
मुक्त नील में खो सा जाता दृष्टि-बोध था,
अग्नि ऊर्ध्व मुख उठना सिखलाती ईप्सा को,
मरुतों का जब परिचायक था प्राणशक्ति का,
पृथ्वी माता, जीवों को थी धारण करती,
सिन्धु अकूल अतल असीमता का प्रतीक था !
पुष्प उसे सुन्दरता से रहना सिखलाते,
पशु-पक्षी प्रेरित करते, वह संकेतों को
छोड़, मुखर बन, शब्दों में वाणी दे मन को !

शशि की रश्मि ऋचा प्रकाश की लिख लहरों पर
लिपि संरक्षित भाषा के प्रति आग्रह करतीं !

आत्मब्रह्म ही की थी खोज प्रमुख प्राज्ञों को,
सर्वं ब्रह्म इदं न पूर्ण चरितार्थ हुआ था !
जीवन स्थितियों पर न नियन्त्रण था भू-नर का,
बहिरन्तर के संयोजन की सिद्धि शेष थी !
क्या सार्थकता ब्रह्मज्ञान की भू-जीवन में ?—
वही साध्य या भू जीवन के हित वर साधन ?
प्रश्न गूढ़ था ! शतियों के जीवन-अनुभव में
विकसित होना था भावी मानव अन्तर को !

जबाला

आदि उषाएँ लाज लालिमाओं में लिपटीं
शुभ्र स्वर्ग के वातायन से झाँक वधू-सी,
सद्यः स्नात अगुण्ठित यौवन की शोभा से
मन्त्र मुग्ध करती थीं विस्मित जीव जगत् को !
प्रथम बार जब उदित हुई दिवपुत्री ऊषा
अपनी स्वर्णिम बाँहों में भर नयी धरा को
ब्रह्मा के भी लिए दृश्य वह रहा चमत्कृत !

सप्त अश्व रथ पर चढ़ हँसता नव सूर्योदय,
स्वर्ण तूलि से रँग प्रवाल मंजरित क्षितिज को !
इन्द्रधनुष वर्णों में वितरित हो रवि के हय
हिम शिखरों पर चरते कभी दिखायी पड़ते !

महाश्चर्य - सी लगतीं नैसर्गिक घटनाएँ,
नव यौवना प्रकृति का नग्न विवश आकर्षण
प्रेरित करता मनुजों के इन्द्रिय-कर्मों को
हृदय बुद्धि के हस्तक्षेप बिना, अनजाने,—
नैतिक धार्मिक मूल्य शनैः थे जन्म ले रहे
मन की अन्ध गुहा के तम में उग दीपों से—
आध्यात्मिक आलोक झाँकता वातायन से !
प्राणों का उन्मद अकूल सागर उफनाता
नैसर्गिक सम्मोहन के शशि से उद्वेलित !
बौद्धिक मानों से [illegible] का जगत्
कहीं अधिक मोह[illegible] उत्तेजक था !

बोध न था तब सम्यक् जग जीवन यथार्थ का,
निखिल वस्तु लगतीं रहस्यमय—पर्वत, सागर,
ऊषा सन्ध्या, सूर्य चन्द्र, पावक, पीपल, वट,
सब प्रतीक थे गुह्य असीम अदृश्य शक्ति के !
कल्पवृक्ष की, कामधेनु की सुखद कल्पना
पूर्ति अतृप्त हृदय आकांक्षाओं की करती !

अर्ध बोध यदि था यथार्थ का, तो रहस्य भी
गुह्य हिरण्मय गुण्ठन से था झलक दिखाता !
अति व्यापक था युग पट, जिसमें नये बोध के
ज्योति बीज भू-मन में बोये गये अनेकों !
भंगुर शाश्वत में शाश्वत को, जड़ चेतन में
चेतन को, सीमा असीम में तब असीम को
सत्य-निकष में आँक—मिला आत्मा का गौरव !

वंश, गोत्र, पक्षों में ऋषिकुल हुआ प्रवर्तित
शनैः हुआ गुण कर्म विभाजन क्रम निर्धारित,
मुख से ब्राह्मण, सबल बाहुओं से क्षत्रिय-भट,
पृथु जघनों से वैश्य, पदों से सेवा श्रम रत
जन्म शूद्र का हुआ विराट् पुरुष से सम्भव !

कनक रेख-सी पूर्व क्षितिज के निकष पर कसी
सूर्य कला थी उषा भृकुटि-सी लगती सुन्दर !
तरु डालों पर फुदक, चहकते रंग-विहग जग,
सोये पंखों को सालस फैला प्रकाश में !
नील कुहासों की घन कोमल कुंचित अलकें
नव किरणों के स्पर्शों से खुलती समीर में !
कुसुमों के अधखुले दृगों में हँसते उज्ज्वल
मुक्ताफल-से अश्रु ओस के, उमड़ हर्ष से !
अँगड़ाई-सी लेती तन्द्रिल निभृत वनानी
देव जागरण की अनुभूति चतुर्दिक् पाकर !

नव वसन्त की रूप पीठिका पर हो शोभित
मूर्तिमती स्मित शरद चन्द्रिका, शील विनत मुख,—
लता प्रतानों के मण्डप से वेष्टित वन में
स्वच्छ कुटज आँगन पर शारद सौम्य जबाला
उपवन के नव गुल्म वीरुधों में जल देती !
श्वेत ऊर्ण के वस्त्र, शुभ्र कंचुकी चर्म की,
कृष्ण धवल कुन्तल छहरे थे पृष्ठ भाग पर,
स्त्री शोभा से निखर प्रौढ़ अनुभव की आभा
फूट रही थी तेजस्वी स्मित मुख मण्डल से !

त्रिककुभ हिमगिरि के सुगौर भुज से आलिंगित
अधित्यका पर निभृत कुटी थी उसकी निरुपम,

व्योम विचुम्बी शृंग उठाये थे उस स्थल को
श्री शोभा के स्वर्ग धरातल पर गरिमामय !
रश्मि-तूल से चित्रित रँग - रँग के पंखों पर
उड़कर हिम-खग मुखरित रखते शैल अजिर को !
तुहिन तरंगिणियों के रव से मिल जिनके स्वर
गन्धर्वों के लिए गीति-लय गुम्फित करते !

कोमल रोमिल वायु रेशमी हिम-स्पर्शों से
प्राण शक्ति के पावक को करती उद्दीपित !
सद्यः स्फुट सौन्दर्य मनुज अंगों, मुकुलों पर
पहरा देता, काल न उनको कुम्हला पाये !
कृष्णसार मृग कभी विचरते गिरि द्रोणी में
ग्रीवा भंगि, छलाँगें मन को करतीं मोहित !
कितने किससे अंगभंगि चल प्रेक्षण सीखा
प्रौढ़ जबाला यौवन स्मृतियों प्रति विरक्त थी !

बायें कर से हटा केश दक्षिण कन्धे के
देखा उसने बाल-सूर्य झाँकता द्रुमों से,
रक्तिम मुख से उसे स्मरण हो आया सुत का,
जो अरुणोदय लाया उसकी हृदय-गुहा में !
दृषद्वती में नहा, अंग में मल मरन्द रज,
लौट रहा था घर जाबाल चरण-रज लेने !
उर पवित्र सुख का अनुभव करता था उसका
झलक रहा था जो प्रसन्न उन्मेषित मुख से !
सूँघ वत्स का सिर, प्रभूत आशीर्वाद दे,
बोली वह, "गौतम ऋषि से दीक्षा लेने को
उत्सुक हो तुम,—आप्तकाम हैं सहृदय ऋषिवर !

"बाल, चाहती तो थी तुम स्वतन्त्र चेता बन
अन्तर्द्रष्टा, आत्मवान् बन सको—प्रेरणा
स्वत: ग्रहण कर अजर अनामय विश्व प्रकृति से,
जिसमें अन्तर्हित रहस्य शाश्वत जीवन का !
इन्द्रियचारी बना सको तुम परम सत्य को
भेद प्राण मन के स्तर तन्मय ध्यान दृष्टि से
जीवन में ही मूर्त देख भी सको दिव्य को,
जन भू मन्दिर में स्थापित कर आत्म सत्य को !

"अर्ध रात्रि तक समझाती मैं रही तुम्हें कल
आत्म बोध के लिए अपेक्षित है जीवन का
अनुभव भी साथ ही ! निखिल जीवन आत्मा से
आलिंगित, परिवृत है, उसके बाहर कुछ भी
नहीं,—त्याज्य हम समझें जिसको ! ब्रह्मज्ञान का
अर्थ समग्र ज्ञान होता है, केवल छूँछा
वह निरपेक्ष प्रकाश भर नहीं,—पूर्ण सत्य है !
जग में जो कुछ भी जड़ चेतन—व्याप्त ब्रह्म से !

"परम सत्य अव्यक्त, परात्पर—जो लोकोत्तर
सृष्टि चक्र में अभिव्यक्त होता अनन्त तक !
वही सृजन रत रह सकता जो आत्ममुक्त है !
ऋषियों की सेवा कर मैं जो जान सकी हूँ
उसका सार बताती तुमको निज अनुभव से !
फिर भी यदि दीक्षा लेना आवश्यक समझो
गुरु उन्मीलित चक्षु करेंगे बाल, तुम्हारे !

"प्रश्न रात्रि को पूछा जो तुमने, उत्तर में
श्री गुरु चरणों पर मेरे प्रणाम दे, कहना,
मा के मन में अब बीते षोडश वर्षों की
स्मृति रेखाएँ स्पष्ट नहीं रह गयीं ! इसी से
मेरा गोत्र बताने में असमर्थ आज वे !
यौवन में ऋषि मुनियों की सेवा में तत्पर
क्वारी कोख भरी कब—उनको ध्यान नहीं अब !
अन्तर्यामी ऋषि यह सुनकर तुमको निश्चित
दीक्षा देंगे सुत, तुम सिद्ध मनोरथ होगे !

"दुःखी मत हो दुर्मुख शिष्यों के वचनों से,
कर्दम में कीड़े भी होते और कमल भी,—
आत्मपूर्ण जीवन अपने में सदसत् से पर,
परम पिता ही सब का, वत्स, पिता निःसंशय !"
"मा, तुम जैसा कहती हो, वह शिरोधार्य है !
गुरु जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही होगा !"

काल बोध अब बाह्य नहीं मन के भीतर था,
इच्छा के पंखों पर उड़, योजन भर दूरी
सहज पार कर पहुँचा वह ऋषि के आश्रम में !
नव प्रभात अब बन किशोर दिन, सहज सुहाता !

मुग्ध एकटक देखा मा ने सुत को जाते,
चपल स्वस्थ मृग-सा छलांग भरते वन पथ पर—
आर्द्र स्नेह की सुख-दुख मिश्रित साँस हृदय से
सहसा उसके निकल पड़ी—सँग ही स्मृतियों का
मर्म मधुर संसार मूर्त हो उठा सामने !—

"कौन जानता था, जीवन में ऐसा भी क्षण
कभी उपस्थित होगा, जब अज्ञात शक्ति से
अभिप्रेरित आनन्द धर्म का उत्तर मुझको
देना होगा ! जब नव यौवन की अबोधता
सृजन प्रक्रिया के चिर गोपन प्राणोन्मादन
रसोद्दाम आह्वान के लिए उत्तरदायी
समझी जायेगी"—वह मन में सोच रही थी !—
"दृषद्वती की, शिलाखण्ड गर्जन से फेनिल,
प्रखर धार का वेग रोक सकता तट का तृण ?"

"नवयौवन का था वसन्त वह ! वहुत देर में
जिसके प्रति हो सकी भावना मेरी जाग्रत् !
सालस अंग स्वतः भर आये थे रस मांसल
शोभा पावक से ! सिहरन उठती जघनों में !
पुष्प स्तवक खिल उठे स्तनों में थे कर-कोमल,
वन का हरित तिमिर एकाकी दोपहरी में
आँखमिचौनी खेला करता था यौवन से !

"शुभ्र पीत पुष्पों से चम्पक तन की शोभा
जब सँवारकर मैं निकला करती वन पथ पर
ध्यान भंग हो जाता ऋषि-मुनियों का सहसा !
फूलों के रस से पदतल रँग जब मैं जाती
अंगारों पर सा चलता तब उन्मद यौवन,—
अंगों से थी गन्ध फूटती जाने कैसी
पुंस स्पृहाएँ उमग गूँज उठतीं भ्रमरों - सी !

"भावोद्वेलित नव असाढ़ के मेघों - सी घिर
तप्त लालसा उमड़ - घुमड़ उठती थी उर में,
एक किरण - सी फूट राग की अन्तरतम से
इन्द्रधनुष वर्णों में रत्नस्मित हो चुपके
आकांक्षाओं का ऐश्वर्य मुझे दिखलाती !
बरस बरस पड़ता शत धाराओं में अन्तर
अग जग को उच्छ्वसित बाहुओं में भरने को !

"नया सूर्य तब उदय हुआ था योनि गुहा में
भय संशय का तिमिर चीरता, उत्कण्ठा से
रक्त वर्ण, जिसने भावों के पल्लव वन में
आग लगा दी,—सुलग उठीं सब आकांक्षाएँ !
ऋषियों की सेवा करते सहसा लज्जा से
लोहित हो उठता मुख,—आवेशों से स्तम्भित
पग डग मग कर उठते स्वप्नों के-से जग में !

"और, और···वह अकथनीय क्षण ! अनजाने ही
मेरे अंगों से ज्वाला - सी कूद पड़ी तब
क्षुब्ध तपोधन के अन्तर को मन्थित करती !
मुग्ध आत्म विस्मृति के पंखों की छाया में
कब संज्ञा सो गयी तल्प पर मादन सुख के···
पूर्ण समर्पण कर ही यौवन की विह्वलता
शान्त हो सकी, बीज सत्य का रोप गर्भ में !

"तभी स्वतन्त्र उगी वन-भू ने मुझे देखकर
बोझिल जघनों की कोमल नैसर्गिक स्थिति में
संवेदना मुझे दी, वृक्षों की छाया में
पत्रों के आस्तरण बिछा, मृदु मर्मर ध्वनि में
मर्म खोल शाश्वत प्रजनन प्रिय मातृ प्रकृति का !

दुग्ध कोप बन गये कृष्णमुख पीन गौर स्तन,
करवट लेता जीवन-अंकुर उदर-तल्प में—
तुम क्या आये, सृष्टि खेलने लगी गोद में
आकर मेरे ! सूना जग भर गया ! जी उठी
मैं शाश्वत बन, तुममें ले नव जन्म—और बँध
जीवन-क्रम में अमर, मृत्यु-भय पर पाकर जय !

"बीत गये अब वे वसन्त, ग्रीष्मागम, पावस,
शरद चेतना की सित प्रतिनिधि हृदय भावना
निज अन्तर की सौम्य अग्नि से बहिर्जगत् को
श्री मण्डित करती निःस्वर सौन्दर्य स्पर्श दे !
बिना साधना पथ के सहज निसर्ग मार्ग से
सत्य मुझे जो मिला, सृष्टि का सत्य वही है !…"

पौ फटने का दृश्य नित्य देखा करती वह—
जब कि कभी लगता उसको युग अश्विन आकर
हिम अधित्यकाओं से दिव्यौषधियाँ चुनते,
सिद्ध भिषज जो, अन्ध परावृज को नव लोचन,
वृद्ध च्यवन को नूतन यौवन, मृत वन्दन को,
ऋषिवर रेभा को नव जीवन दिया जिन्होंने !
नृप सुदास की रक्षा की उच्छल अर्णव में
सौ हस्तों की नींव फँसी जब मृत्यु भँवर में !
जीवद वे, उपचार अनेकों किये युगल ने,
मेरे सुत की भी वे रक्षा करें छत्र बन !

उस सकाल की कोमलाभ स्वप्निल वेला में
रूप हीन, अस्पष्ट, गुह्य, निःशब्द तमस से
दृश्य जगत्—वन, वृक्ष, क्षितिज की रेखाएँ कढ़
मूर्तिमान हो उठतीं सत्ता की प्रतीक बन !—
सोचा करती, आरण्यक जीवन की सीमा
विकसित होगी कभी और भी पूर्ण व्यवस्थित
सभ्य सुसंस्कृत मानव जीवन की शोभा में !
सुनती वह, इस सप्त सिन्धु विस्तृत प्रदेश में
ग्राम राज्य भी जन्म ले चुके, सभ्य आर्य जन
जहाँ विविध व्यवसाय-कुशल करते निवास अब !

एकांगी लगती उसको वनवासी युग की
ज्ञान साधना, देश काल से परे सत्य का
बोध प्राप्त कर, भूल गया मन देश काल में
रोपित करने ज्योति बीज वे,—पार्थिव जीवन
जिससे विकसित हो सहस्रदल भू-संस्कृति में !
वन की निर्जनता, गिरियों की मौन गुहाएँ
कहती थीं उससे पुकारकर शिखर पार का
सत्य अधूरा, आंशिक मूल्यांकन जीवन का !

देखी थी उसने, सुत आकृति बदल गयी थी
एक रात में सहसा,···वह था स्वाद पा चुका
किसी सूक्ष्म सत्ता का ! उसके अंगों से अब
प्राणोज्वल सौन्दर्य, झलकता था, हृद् दीपक
दीपित था हो चुका प्रेम की अमर शिखा से !
स्पर्श मिल गया था उसको निरपेक्ष सत्य का,—
अब गुरु से दीक्षा लेने को यदि वह आतुर
उसको भी देख ले ! साधना पथ अन्तर को
आलोकित करता,—पर उसकी भी सीमा हैं !

मुझे पूर्ण विश्वास, विविध साधना पथों से
कृच्छ्र तपस्या-फल अर्जित कर मेरा प्रिय सुत
लौटेगा; मा के अंचल में भ्रान्ति हीन हो,
अर्ध सत्य की पूर्ति मातृ मन्दिर में करने !—

स्मृतियों में खोयी, वह गयी कुटी के भीतर···
छात्राएँ आती होंगी अब पाठ सीखने !

दीक्षा

जब पहुँचा जाबाल तपोवन के तोरण पर
उसे लगा, ज्यों गुह्य प्रेम की शक्ति अगोचर
खींच रही है सूक्ष्म सूत्र से उसे विवश कर,—
अविदित मौन मधुरिमा में सा डूब गया मन !

ध्यानमग्न बैठे थे प्राज्ञ कुटी के सम्मुख
कृष्ण मृगाजिन से आच्छादित उच्चासन पर,—
अन्तर्यामी पुरुष देखते योगदृष्टि से
एक उच्च संस्कारवान, उत्कट इच्छा से
प्रेरित वटु, वन पथ के दुर्गम विघ्न लाँघकर,
अन्तर्मन की श्रद्धा निष्ठा अर्पित करने
आश्रम में करता प्रवेश, खिंच दीप शलभ-सा,—
आँख खोल गुरु ने संकेत किया किशोर को
वह आये, आश्रम जीवन का परिचय पाये !

आश्रम क्या था, शोभा का शाश्वत वसन्त था !
सौरभ के पंखों पर उड़कर सुमनों का जग
समा हृदय में जाता तन्मय, सूक्ष्म रूप धर !
रंग रंग के कुसुम तल्प ऐसे लगते थे
सुरँग तितलियों की उड़ान लौटी हो भू पर !
गन्ध धूप की अलकें खुल ओझल हो जाती !
पुष्कर इन्दीवर थे खिले ह्रदों में कृत्रिम,
दीक्षित भू-चेतना खोलती हो निज लोचन !
भ्रमर गूँज, पंखों से स्वरलय कम्पित ध्वनि कर
साम ऋचाओं का करते श्रुति मधुर अनुकरण !

आश्रम को उपहार भेंट करते नृप के जन,
हृष्ट पुरोहित भूपति की दान स्तुति गाते !

स्वच्छ पर्णकुटियाँ निर्मित थीं, पारिजात की
गन्ध वीथियाँ ! बृहच्छाय तरुओं के नीचे
रक्त पीत वस्त्रों में, मृदु तृण आस्तरणों पर
ध्याननिमग्न वटुक बैठे सुनते श्रुतियों को !
यज्ञवेदिका विरचित कर अध्वर्यु, होतृगण
गन्ध द्रव्य हवि अर्पित करते अग्निदेव को,
ऋत्विज् के सँग मन्त्रोच्चारों की ध्वनि लय से
मन्द्र गुंजरित कर पवित्र परिवेश वहाँ का !

नौसिखिए वटु थे आसन व्यायाम सीखते
क्रीड़ा प्रांगण में, अंगों में प्राण शक्ति भर !
यम नियमों का पालन करते साधक तापस,
प्राणायाम क्रिया कर, ध्यानावस्थित होकर
कृच्छ्र योग साधते प्रौढ़ एकाग्र तपस्वी
ध्यान चरण धर सूक्ष्म चेतना के चक्रों पर !
कुछ नव वटु करते कण्ठाग्र ऋचाएँ गाकर,—
गुरुजन समझाते गूढ़ार्थ वेद मन्त्रों का
उद्गीथों का—साधकगण को निज प्रवचन से,
संकेतों से, मुद्राओं से दृष्टि दान दे !'

"अग्नि, अश्व, गो, रश्मि, उषाएँ, मित्र, वरुण, यम,
पूषण, अश्विन, मरुत आदि केवल प्रतीक भर
सूक्ष्म सत्य की अभिव्यक्ति के लिए अभीप्सित !
अन्तर्मुख एकान्त साधना के प्रकाश में
गुह्य अर्थ जिनका खुलता साधक के उर में,
जब वह तन्मय होता चिन्मय-तत्व स्पर्श पा
आत्मा के निःसीम मुक्त नभ में विचरण कर
देशकाल से परे परात्पर में लय होकर !"

पलकें मुँद-सी जातीं सुनकर तापसवर की
उर निष्कम्प शिखा-सा होता अन्तर्मुख लय,
भावोच्छ्वसित हृदय हो उठता किसी सुधी का,
कोई अश्रु बहाता आनन्दातिरेक से !

पीता था आश्चर्यचकित जाबाल शब्द वे,
गुह्य सूक्ष्म सत्यों से झंकृत गुरु आश्रम का
वातावरण प्रहर्ष-दीप्त करता अन्तर को !—
सूँघ सत्य की गन्ध प्राण हो उठते पुलकित !

इस प्रकार कुछ काल उसे बीता आश्रम के
जीवन-स्तर का, दिनचर्या का मर्म समझते !
दुग्ध, अपूप, करम्भ, क्षीर ओदन भोजन में
मिलते उसको मधुर बिल्व, खर्जूर आदि फल,—

दधि, मन्था-घृत खाद्यद्रव्य पोषक, रुचिवर्धक !
गौरी तट का स्वादु सोम जीवन आह्लादक
ऋषि मुनियों का हृद्य पेय था रुचिकर, मादक !
पीले मृदु वृन्तों को कूट, निचोड़ अमृत रस
दुग्ध मिला मधु पेय बनाते दक्ष पुरोहित !—
वह आश्रम का अंग बन गया था अब परिचित !

तभी एक दिन गौतम उसके प्रति अभिमुख हो
बोले हँस, तुम कौन साध लेकर आये वटु ?—
एक सहज आकर्षण-सा अनुभव करते वे
उसे देखकर !—नत मुख वटुक समाज मौन था
गुरु के भय से ! मन-ही-मन उत्कण्ठित उसका
गोत्र जानने को,—आश्वस्त, उसे तुरन्त गुरु
दीक्षा देना अस्वीकार करेंगे, उसकी
गोत्रहीनता का गर्हित परिचय पाने पर !

नतमस्तक जाबाल नम्र वाणी में बोला,
"गुरुवर, मैं दीक्षा लेने आया चरणों पर
दयाशीलता, महिमा से खिच सहज देव की !
रात-रात भर जगकर भटका हूँ मैं वन में,
अन्धकार होता ही रहा और भी दुर्गम,—
शरण आपकी आया हूँ अब प्राज्ञ, अन्त में
चरणों पर अर्पित मन ब्रह्मज्ञान पाने को !

"पुत्र जबाला का, जाबाल मुझे कहते हैं,
गोत्र नहीं मैं जान सका माता से अपना !"
दबी हँसी की तरल लहर दौड़ी छात्रों में,
हाथ उठाकर गुरु ने तुरत अभय मुद्रा में
शान्ति, शान्ति कह, स्नेह दृष्टि फिर फेरी वटु पर !
"मा कहती, उसकी षोड़श वर्षों की स्मृति अब
धुँधली पड़, मिट गयी—सदा ही ऋषि मुनियों की
परिचर्या में बीता जीवन—ज्ञात न उसको
कब, कैसे"—"आवश्यक नहीं"—कहा ऋषिवर ने
शान्त भाव से, "वटुक, सत्यभाषी हो तुम, जो
ब्राह्मण का गुण ! उच्च गोत्र दीपक तुम सम्भव,
दीक्षा के अधिकारी लगते"—साधु, साधु कह,
करतल ध्वनि सँग जय-जयकार किया सुजों ने !
चरणों पर गिर पड़ा प्रणत जाबाल चमत्कृत !

"उठो वत्स, तुम स्पष्ट सत्यवक्ता हो ! अब से
सत्यकाम हो नाम तुम्हारा ! सदा सत्यव्रत,
सदाचरण रत रहो,—सत्यवादी तुम हो ही !
सूक्ष्म दृष्टि अब तुम्हें सत्य प्रति अर्जित करनी !

देखा गुरु ने हृदय-चक्र खुल चुका वटुक का!
उसे निकट बिठला, उपनिषदों के प्रमाण दे,
कभी मौन रह, कभी दृष्टि भर से इंगित कर
ब्रह्मतत्व का बोध कराया—ध्यान स्पर्श से
उसको छू, चैतन्य अग्नि लौ से दीक्षित कर
समाधिस्थ रहना सिखलाया अन्तर्जग में!

ध्यान धारणा प्राणायाम आदि सब विधिवत्
कुछ ही पक्षों में वह सीख गया, गुरुवर की
महत् कृपा से! गुरु-भ्राताओं से सम्मानित
लगता उसको, एक सूक्ष्म आकर्षण उर को
खींच रहा है उसी ओर, जिसका था उसको
स्पर्श मिल चुका निर्जन वन के आकुल क्षण में!

सत्यकाम की निष्ठा से आकर्षित होकर
एक प्रौढ़ साधक ने उसको अन्तर्मन के
विविध रहस्यों का साक्षात् कराया गोपन,—
अन्तश्चेतन तत्वों की अनुभूति दे शनैः!
दीर्घतमस औ' याज्ञवल्क की वाणी सुनकर
सहज प्रेरणाओं, उन्मेषों से उसका मन
भाव-मूर्त कर लेता उन अमूर्त सत्यों को—
पार धरातल कर साधारण मनोबोध के
आरोहण करती प्रतिभा सम्बोधि गगन में!

'वत्स, पूर्ण वह, यह भी पूर्ण, पूर्ण से उद्भव
हुआ पूर्ण का,—पूर्ण पूर्ण से निर्गत होकर
शेष पूर्ण ही रहता—कहते प्राज्ञ!' 'सत्य है!'

"नेत्र देखते जिसे न, श्रोत्र न सुनते जिसको,
नेत्र श्रोत्र देखते श्रवण करते नित जिससे,
वही ब्रह्म, जिसकी न लोक करते उपासना!
जिसे नहीं जानते बुद्धि या मन, जिससे ही,
मन जानता निरन्तर, ब्रह्म वही, श्रुति कहती!

"जो श्रवणों का श्रवण, मनों का मन, वाचा का
वाच, चक्षुओं का भी चक्षु, प्राण प्राणों का,
उसके द्रष्टा प्रेतलोक से अमर धाम में
विचरण करते! वहाँ चक्षु वाणी मन कुछ भी
नहीं पहुँचते,—अविदित-विदित उभय ही से वह
परे,—यही कहते आये ऋषि! कोई कैसे
उसे शिष्य को समझाये? साक्षादनुभव का
सूक्ष्म विषय जो! ज्ञाता उसको नहीं जानते,
अविज्ञात ही उसे जान पाते निःसंशय,
एकमात्र सत् वही, विषय से परे, अगोचर!

जो जानता, उसे मैं जान गया समग्रतः
वत्स, ब्रह्म को वह न जानता, अविज्ञेय वह!
जो जानता, जानने पर भी उसे नहीं मैं
जान सका हूँ—वही ब्रह्मविद् है वास्तव में!"

"क्योंकि परम वह स्रोत ज्ञान का, परे ज्ञान से!"

"धन्य, सूक्ष्मग्राही है मेधा वत्स, तुम्हारी!—
मेधा प्रवचन से वह प्राप्त नहीं हो सकता!
याज्ञवल्क ऋषि कहते,—जाया, पति, सम्पद् या
पुत्र मित्रगण उनके लिए नहीं प्रिय लगते,
वे आत्मा के हेतु सभी प्रिय होते निश्चय!—
आत्मा ही ज्ञातव्य अध्ययन, मनन, श्रवण से!"

"ऋषि की दृष्टि बड़ी यथार्थवादी है निश्चय!"

वह एकान्त क्षणों में सोचा करता मन में
अभिव्यक्ति की भले नहीं हों ये पहेलियाँ,
चित्तवृत्तियों का निरोध कर ही अन्तःस्थित
आत्मा का साक्षात्कार करना अब मुझको!

मेघों के मण्डप के ऊपर रवि की किरणें
सदा जगमगाती रहतीं अक्षय प्रकाश में,
किन्तु मेघ गुण्ठन छाया में कैसे उनकी
ज्योतिर्मय क्रीड़ा का स्थल बन सकता अन्तर?...
कैसे प्रतिक्षण भंगुर में शाश्वत का अनुभव
इन्द्रिय जीवन के स्तर पर सम्भव हो सकता?
सीमा से निःसीम मिचौनी रहे खेलता,
इह-पर का व्यवधान मिटे विकसित भू-मन से!
स्रष्टा का एकत्व सृष्टि के सँग हो स्थापित,
जीवन का उपभोग कर सके मन द्रष्टा रह,
युगल सुपर्णों के गुण अपने में संचित कर—
सोचा करता उसका विद्रोही स्वतन्त्र मन!
आत्मा का ऐश्वर्य प्राप्त हो इन्द्रिय स्तर पर;
मुझको चक्षु श्रवण वाणी मन प्राणों द्वारा
ब्रह्मबोध कर प्राप्त, मूर्त करना जीवन में,
निराकार को देख सकूँ साकार विश्व में!

सिद्ध तपस्वी, योगी, साधक ध्यान-शक्ति से
खींच महत् से उच्च प्रेरणाओं का वैभव
वातावरण वहाँ का रखते थे उन्मेषित!
स्वर्गिक सौरभ उड़ उर को सम्मोहित करती!
दिव्य चेतना की अदृश्य सरिता-सी बहकर
प्राणों को धो, ग्रहणशील, रस-सूक्ष्म बनाती!

जड़ पदार्थ उड़ धूप-गन्ध से भाव-द्रव्य बन
जड़ चेतन के गूढ़ ऐक्य को करते व्यंजित !
जाने मन किन नव क्षितिजों पर विचरण करता
निज जीवन संघर्ष भूल जाता वह तत्क्षण !

हृदय बुद्धि का भेद सहज ही मिट-सा जाता,
रस के निर्झर झर-झर पड़ते बोध-शिखर से,
धुल जाते लघु देह प्राण मन के विकार सब,
एक पूर्ण चैतन्य स्वयं धारण कर लेता
तपःशुद्ध साधक की तद्गत चित्तवृत्ति को !

देख दृष्टि-उपहास भरा कुछ वटुकों का मुख
कभी व्यंग्य-शर उर में फिर से चुभने लगते,
दृढ़प्रतिज्ञ उसका मन कहता—उसे खोजना
होगा, उसके जनक कौन अज्ञात पुरुष थे !
फिर आश्रम के तपःपूत परिवेश में उसे
ध्यान नहीं रहता अपना—व्यापक रहस्यमय
कोई दिव्य अगोचर सत्ता उसके मन को
सहज खींचती रहती, अपना मर्म खोलने !

परम्परागत उपदेशों व्याख्याओं को उर
अतिक्रम कर उड़ने लगता अज्ञात बोध के
पंखों पर, चिर दुरवगाह्य चिद् आकाशों में !
सूक्ष्म चेतना स्पर्शों से उन्मेषित अन्तर
उच्छ्रायों के रत्न द्रवित स्रोतों में न्हा कर
सोमामृत पीता अदृश्य अन्तः शिखरों का !
आध्यात्मिक, चैतसिक, आधिभौतिक रूपों को
एक सत्य की अन्तःसंगति में सँवारकर
मानवीय नव मूल्यों में परिणत करने को
आकुल था वह, बिन्दु सिन्धु का भेद डुबाकर !
कौन दृष्टि होगी वह जिसमें चेतन जड़ का
वाहन बन, भू जीवन का सारथ्य कर सके !

आश्रम के पशु-पक्षी पुष्पों को वह अपलक
देख सोचता, ये भी तो अब संस्कृत लगते !
प्रवृत्तिजीवी पशु पक्षी ही, उसको लगता,
मनुज इन्द्रियों के प्रतिनिधि हैं, प्राण शक्ति से
स्पन्दित अविदित ! प्राण तत्व में दृष्टि प्राप्त कर
मनुजों को इन्द्रिय धर्मों को सहज सँजोना
होगा जीवन-स्वर्ग में, विकच पुष्प जगत् के
नैसर्गिक शोभा वैभव से अभिप्रेरित हो !

उसे प्रकृति की दिव्य पूर्णता पर आस्था थी,
जिसका आत्मा के प्रकाश में बोध प्राप्त कर
नींव डालनी थी सांस्कृतिक धरा-जीवन की,

शिखरों की आध्यात्मिकता से आलोकित कर
प्राण गुहाएँ पृथ्वी की! इन्द्रिय धर्मों से
आत्मा मांसल, आत्मा से दीपित हों इन्द्रिय,
सूक्ष्म स्थूल आनन्द परस्पर रस-वितरित हों!

भार्गव, काश्यप, कौशिक 'औ' वाशिष्ठ, आंगिरस,
ऋषि आत्रेय, अगस्त्य आदि के सूक्तों को सुन
उसको लगता कोई परिचित सत्य अगोचर
दिव्य आर्ष वचनों में सहज हुआ स्वर मुखरित!
कोई सुहृद प्रकाश हृदय को छूता उसके!
कितनी ही सित ध्यान भूमियाँ पार कर शनैः
शुभ्र सुनहले छत्र तले वह रुक-सा जाता
उसे भेद सकने का साहस उसे न होता!
समझ रहे थे गुरु उसकी मन की स्थितियों को
मन के आरोहण-अवरोहण से प्रसन्न थे,—
एक बार ऋषि निर्विकल्प स्थिति से निज मन की
शनैः उतर, जाग्रत् समाधि के स्वर में बोले—

"सत्यकाम, दस वर्ष तुम्हें अब यहाँ हो चुके
कृच्छ्र साधना-पथ के तुम सब भेद समझते,
गुह्य सिद्धियाँ भी अनेक उपलब्ध कर चुके,
मैं प्रसन्न हूँ तुमसे! तुम तप साधन पथ में
जन्मजात संस्कार जनित लेकर प्रवीणता
अर्जित हो कर चुके आत्म-निर्भरता निश्चय!"

"एक असीम बुभुक्षा मेरे उर के भीतर
पी जाना चाहती निचोड़ समस्त सृष्टि को—
तभी तृप्त हो सकती मेरी तृषा ज्ञान की!
पट पर पट खुलते जाते आँखों के सम्मुख
सूर्य सत्य का ओझल अब भी चिदाकाश में"—
गुरु चरणों पर किया निवेदन सत्यकाम ने!

"ब्रह्म पिपासा है यह निश्चय, जिसे प्राप्त कर
शान्त सभी हो जातीं जीवन की तृष्णाएँ!—
आधे से भी अधिक मार्ग तुम पार कर चुके,
तीव्र अभीप्सा, पूर्ण समर्पण ही वह पथ है
अन्ध तमस का स्थान बोध ले लेता जिससे!
मिथ्या जग तब तक आधार न मिलता जब तक,
निराधार ब्रह्म ही सत्य आधार जगत् का,
विश्व उसी की अभिव्यक्ति है, सत्य इसी से!

अविनाशी वह ब्रह्म व्याप्त ब्रह्माण्ड में अखिल,
शुद्ध बुद्ध वह मुक्त, अकाय, अपापविद्ध वह,
भूत भूत पर चिन्तन कर द्रष्टा ऋषि सन्तत

प्रेतलोक तिर कर पाते अमृतत्व धाम नित !"
उसे देखकर द्रवित हृदय बोले गौतम ऋषि !

"ब्रह्म सत्य साधना करो तुम निर्जन में जा,
तुमको मैं सौ गायें देता शुभ्रा, कपिला—
सत्य सूर्य की सौ किरणें जो, जिनको ले तुम
पार करो त्रिदलों को, ऋत को ! सहस्रार की
सित सहस्र गो अर्जित कर, अन्तर्द्रष्टा बन,
लौटो फिर मेरे आश्रम में पूर्णकाम हो !

"वत्स, तुम्हें देता मैं अपना अंश सिद्धि का,
रक्षा सदा करेगा जो संकट स्थितियों में—"
यह कह गौतम ने दक्षिण कर सत्यकाम के
सिर पर रख, शुभ आशीर्वाद दिया प्रिय वटु को !
और कमण्डुल से जल ले दक्षिण-अंजलि में
छिड़का कुछ वटु के सिर पर, कुछ ऊर्ध्व व्योम को !
सत्यकाम को लगा, एक सागर प्रकाश का
उसके घट में उतर, सहज फिर लीन हो गया !

उसे ब्रह्म साक्षात्कार का सत्य समझना
था स्वयमपि ही ! पूर्ण तुष्टि जो उसे दे सके !
भू मानवता को वह जिससे सत्य के निकट
और सत्य को मानवता के निकट ला सके !—
असन्तोष के कुश खर कहीं कसकते उर में !

"जैसी गुरु की आज्ञा !" कह, चरणों की रज ले,
गद्गद स्वर में कर कृतार्थता व्यक्त विनत सिर,
एक बार आश्रम पर उपकृत दृष्टि डालकर
सत्यकाम चल दिया खोज में निर्जन स्थल की !
गायों को ले साथ धरोहर-सी गुरुवर की !
ज्योति स्तिमित दृग रहे देखते ऋषिवर अपलक !
शान्त नील ऊर्जा उनके अन्तर से खिंचकर
सत्यकाम के उर में लय हो गयी स्नेहवश !

मन का निर्जन

दूर अनेकों योजन चलकर कई दिनों तक
सत्यकाम को मिला निभृत स्थल हरित मनोरम,
अन्तःस्मित प्राणोज्वल जीवन के प्रांगण-सा
रम्य सरोवर तट पर, वन्य प्रकृति अंचल में !

चलते-चलते निज अन्तर्मुख मन की स्थिति में
उसे लगा, वह पार कर रहा हो सँग ही सँग
अन्तर्मन की सूक्ष्म अनेकों भाव-भूमियाँ !
विस्फारित नयनों की उसकी चकित दृष्टि में
बाह्य जगत् चेतनावरण पर विम्बित लगता !

अन्तरिक्ष तक फैले तृण-श्यामल प्रसार में
छोड़ दिया उसने निर्भय गायों को चरने!
चिन्तन-मौन जुगाली भर, उपनिषद् धेनु-सी,
बोध दुग्ध में परिणत करतीं जो जीवन की
हरीतिमा को—सत्यकाम-सा शिष्ट वत्स पा!

वन तरुओं के स्तम्भों पर छाये पत्रों के
निविड़ सघन छाजन के तले बिछी छाया में
वे विराम करतीं दिन में, सोतीं निशीथ में!
वनी बनायी एक कुटी मिल गयी उसे थी
निकट सरोवर तट पर लता प्रता से मण्डित—
सम्भव, कोई तापस वहाँ रहा हो पहिले!
कुश कण्टक, खर तृण उखाड़कर कुटज अजिर के
रहने योग्य बनाया उसने जीर्ण कुटी को!

गुरु की महत् कृपा से सुविधा सभी प्राप्त कर
मन की जिज्ञासा की स्वप्न-तरी को उसने
छोड़ दिया मोहक, रहस्यमय निर्जनता के
निस्तल सागर में शत भावों से उद्वेलित!
इस उन्मुक्त प्रकृति के पावन अंचल में वह
आत्म मुक्त अनुभव करता था अब अपने को!
सतत साधना रत उसके अनुशासित उर में
नव प्रबोध भरतीं उठ उद्भावनाएँ नयी!
स्वर्ग मर्त्य के छोर मिलाती रहती उसकी
सजग कल्पना भावबोध के पंखों पर उड़!

दुग्ध पान, मित फलाहार कर वह अरण्य में
कृच्छ्र तपः रत रहता, छिलके मनोबोध के
छील-छील, धन-शून्य स्पर्श पाने अधिमन से
परे, परात्पर के अम्बर में सूर्य सत्य का!—
परब्रह्म जो, एक, अरूप, अचिन्त्य, अगोचर,
चरम योग की सिद्धि, परम रस-तत्व, ज्ञान का!

शनैः योग पथ से कर श्रेणी पार चित्त की
शाश्वत सुख के महासिन्धु में अवगाहन कर
निर्विकल्प निश्चल समाधि में रहता तन्मय
विश्व बोध से ऊपर उठ वह, इन्द्रिय-रज धो,
रोहण कर विज्ञान-भूमि बहु ऋद्धि-सिद्धि की
पंख शलभ-सा लय होने अक्षय प्रकाश में!

उपरत होता चित्त तपस्या से जब उसका
मुग्ध पान करता वह मातृ प्रकृति की शोभा
अन्तर के अकलुप प्रकाश में देख प्रकृति-मुख!
शाश्वत ही की प्रतिकृति-सा यह बहिर्जगत् भी
लगता तब उसको सर्जित, वैसा ही पावन,—
ईश्वर ही की आकृति में निर्मित भू-मानव!

सोचा करता वह निर्जन में मौन ध्यान-रत—
निखिल विश्व साकार ब्रह्म, वह अगजग ही में
अभिव्यक्त, अणु ही अनन्त, प्रतिक्षण ही शाश्वत !
दृष्टि चाहिए, तन्मय अन्तर्दृष्टि चाहिए,
सुधी मनुज को, भटक रहा जो बाह्य बोध में
भेद बुद्धि के,—भव को ईश्वर से विभक्त कर !

स्वच्छ स्फटिक दर्पण-से सरसी उर में तिरता
अमित नील, जल की निर्मलता को द्विगुणित कर,
रश्मि रेख रेशमी हिलोरों में संसर्पित
उठता-गिरता बहता जल बहिरन्तर गतिमय !
दिन को सूर्य अनेक जीव-सूर्यों में दीपित
निशि में शशि के सँग विम्बित तारात्रों का जग
अतल अकूल रहस्य-सृष्टि-से लगते सजित
धूपछाँह जल ही जीवन-पर्याय हो अपर !
उसे सलिल ही सी असंग लगती आत्मा भी
जो तटस्थ तत्वतः, प्रतिफलित जिसमें अग जग !

सक्रिय थी साधना प्रकृति की, जड़ चेतन थे
आँख-मिचौनी खेला करते विविध रूप धर !
सूर्योदय के साथ सरोरुह आँख खोलते,
सूर्य अस्त होते तद्‌गत पलकें मुँद जाती !
इस विराट् नैसर्गिक जग में लगता उसको
क्रियाशील रहता असीम आकर्षण अविरत !
हंस मिथुन तिरते गोरी ग्रीवाएँ मोड़े
एक उपस्थिति रहती उनके मधुर मिलन में,—
पक्षी सायं प्रातः कलरव कर क्या जाने
कहते उससे, जो अन्तर्मन को छू जाता !

इतनी नीरव सुन्दरता उसने रजनी की
कभी नहीं देखी थी, जो उसको बरबस ही
असत् तत्व पर चिन्तन करने को उकसाती !
छिपी नग्न शोभा में, चुम्बन अंकित करती
जो अनन्त मुख पर चंचल उडु-चिह्न छोड़कर !—
प्रेरित करती सत्यकाम को गुह्य स्पर्श से
रूप हीन सौन्दर्य बोध का मर्म आंकने,
निज अलंघ्य गरिमा में खड़ी चकित भू तल पर
अन्तर को निःस्तब्ध ध्यान की गहराई में
केन्द्रित कर—निर्वाक् अचेतन ब्रह्म-तत्व में !

तारा ग्रथित विरल अवगुण्ठन मुख पर डाले
अर्ध दुरी, अधखुली सूक्ष्म शोभा-तनिमा ले
कभी हिलोरों पर चलती मधु भार चरण धर
रजत रश्मि के पंख खोल, हँसमुख स्वप्नों की

अप्सरियों से वेष्टित-सी, चन्द्रिका सूक्ष्मतम
मूर्त चेतना-सी, अपनी ही छवि में तन्मय,
पुलकित करती उसका अन्तस, आत्म तत्व का
नया बोध ही नहीं, स्पर्श भी देकर उसको!

नया रक्त संचार हृदय में होता सहसा,
उसके भीतर जो अव्यक्त अदृश्य जगत् था
उसे थाहने को तब वह आकुल हो उठता!
चिड़ियाँ उड़तीं रोम हर्ष के पंख मारकर
पर कोई पद चिह्न नहीं छोड़तीं गगन में,
चटुल मीन तिरते सागर के अन्तस्तल में
लीक न गति की मिलती—निश्चय ही अन्तर-पथ
बहिर्दृष्टि भू-पथ से गूढ़ अगोचर होता!

नृत्य निरत ऋतुएँ आ-जा वन के आँगन में
उसे सुझातीं जीवन में गति-क्रम विकास है,
नव वसन्त के पहिले पतझर आता वन में
नये बीज बोकर जो उर्वर धरा-गर्भ में
नवल कोंपलों का वैभव बरसाता जग में!

वर्षा छत्र, सुमन-आस्तरण शरद भूतल की,
ग्रीष्म-शीत-वैषम्य जगत्द्वन्द्वों का सूचक,
ऊर्ध्व चरण धर पादप यदि चलते ऊपर को
शिखरों से जल-निर्झर सन्तत झरते नीचे!

सूक्ष्म चेतना चक्रों पर साधना-चरण धर
योग-पंख उड़ता उसका अन्तर्मन उठकर
अन्तश्चेतन ऊर्ध्व सर्प-सोपानों पर चढ़!
देह प्राण मन आत्मा के व्यापक भुवनों पर
विचर गरुड़-सा, प्राप्त गूढ़ अनुभव कर सबका,
ऋत सत् चित् के सप्तवर्ण आकाशों को तिर
शान्ति, ज्योति, आनन्द लोक कर पार अतन्द्रित
वह सहस्र सूर्योज्वल सत्य-प्रकाश सिन्धु में
तन्मय हो खो जाता, या पाता अपने को?

कहीं पार से सहस्रार के, प्रभु के मुख से
जगता तब अन्तरतम तन्त्री में सोया स्वर—
"सत्य नहीं यह, पूर्ण सत्य का अंश-बोध भर,
जो केवल साक्षात्कार का सत्य असंशय
साधक के अन्तः स्वभाव से रंजित गोपन!

"सत्य धरा पर स्थापित करने को निश्चय ही
नीचे से निर्माण मनुज को करना होगा!
आत्मा का पट पृष्ठभूमि भर भव-विकास की!
सृष्टि जगत् की नहीं हुई आनन्द-करों से
प्रेम विश्व स्रष्टा, आनन्द सहज गुण जिसका!

शूल फूल, सुख दुख से संकुल भू-विकास पथ
प्रेम अन्ततः होता जयी प्रहर्ष समाधित !"

निखिल वस्तुएँ जग की—तृण-तरु, लता, वनस्पति,
गन्ध कुसुम, पशु विहग—रूप के साथ बोध के
चिर प्रतीक-से लगते उसको—जो निसर्ग की
निःस्वर भाषा में उर में अंकित कर जाते
भेदाभेद निगूढ़ रहस्य—सृजन का गोपन !
ईश्वरीत घन अन्धकार मन को आवृत कर
आदि रूप की मौन सूचना देता उसको,
निश्चेतन तम में भी उसे सुनायी पड़ता
सृजन प्रक्रिया का स्पन्दन जड़ तत्व में छिपा !—
जीवन के अंकुर-सा सोया मूक बीज में !

योग शक्ति अर्जित कर व्यक्ति भले ही जग में
कुछ जिज्ञासु सुधी जन का उपकार कर सके—
कहता उसका आन्तर-अनुभव, किन्तु धरा का
सामूहिक उन्नयन न उससे सम्भव किंचित्,
युग-युग से जो अर्जित किया मनुज, भू मन ने
सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक जीवन में—
जूझ धरा स्थितियों, कटु जीवन संघर्षों से,—
उसको नींव बनाकर, अतिक्रम कर अतीत के
संस्कारों को, निर्मित करनी होगी उसको
नयी वास्तविकता जीवन की, क्रम-विकास के
चक्रों पर आरूढ़ कर उसे, मनुष्यत्व के
सन्मूल्यों को प्रथम स्थान दे देश-काल में !

कौन अधिक पावन है मातृ-प्रकृति के मुख से ?
दिग् विराट् व्यक्तित्व हृदय मन हरता प्रतिक्षण,
प्राणोज्वल वैविध्य शक्ति-सूचक नित जिसका !
अन्तःसत्य अधूरा अपने ही में निश्चय
कर-पद रहित मनुज ज्यों छूँछा मांस पिण्ड भर !
बहिरन्तर को संयोजित करना ही होगा
मानव जीवन की समग्रता स्थापित करने !
इन्द्रिय रथ ही से सार्थकता चित् सारथि की,
जीवन की पावनता से विरहित आत्मा की
पावनता गुण-रिक्त ज्योति, रस ताप से रहित !
जीवन की पावनता वही, धरा पथ कल्मष
आत्मसात् करती जो—मातृ प्रकृति से प्रेरित !
नहीं प्रयोजन-हीन वस्तु कुछ भी इस भू पर !

बीता एक दशक उसको वन में तप करते
साधे उसने तार प्राण मन की तन्त्री के—
खींच वृत्तियों को अन्तर्मुख, हृदय पद्म पर
केन्द्रित कर निज ध्यान, सूक्ष्म आत्मिक स्फुरणों की

नीरव झंकारों की स्वर-संगति में तन्मय!—
अस्वीकृत कर आशाऽकांक्षा आवेगों को
सत् स्वरूप का स्पर्श मिला उसको ज्योतिर्मय!
शून्य बोध के अम्बर में अटका था जब वह
परा चेतना के रत्न स्मित वैभव ने तब
किया अवतरण उसकी आत्मा में रस-घन बन!

एकाकी वन सम्पद् से परिचित था अब वह,
पवन मुग्ध सौरभ उसकी साँसों में भरकर
उसके अन्तस में भू की मादकता भरता,—
रंग-रंग के पुष्प खोल अपलक पंखड़ियाँ
अन्तश्चेतन मधु वैभव से लगते विस्मित,
रंग पंख खग उड़ नभ में, उल्लास से भरे
शब्द हीन सन्देश उसे देते ध्वनि-गभित
अधिमानस की ऊर्ध्व वृत्तियों के प्रतीक-से!
पशु उसको उपचेतन निश्चेतन भुवनों के
करुण क्रूर भावावेशों से करते परिचित,
मौमाखी की गूँज सार ग्राही प्रज्ञा को
आकर्षित करती—फूलों की स्वर्णिम रज जो
मधु छत्रों में सहज सँजोती, कला सृष्टि रच!

वन की आत्मा उसकी आत्मा में प्रवेश कर
गूढ़ भेद खोलती सृष्टि गति क्रम विकास का,—
मात्र नास्ति से कैसे मानस-धर्मा नर तक
परम चेतना पार कर सकी वस्तु-श्रेणियाँ
सौंप मनुज को भाव-रश्मि भावी विकास की!
उसको लगता वस्तु-चेतना शब्द-अर्थ-से
जुड़े परस्पर विविध श्रेणि-वर्गों में विकसित!
हिलकोरों से विरहित सर में उसको लगती
मृत्यु शान्ति छायी—अनन्त-पंजर-सी बिम्बित,
जीवन स्पन्दन से वर्जित नैसर्गिक जग के!

स्थिति से गति, साक्षी से कर्त्री उसको प्रिय थी,
अग जग स्रष्ट्री—जो बन्धन-अविद्ध बन्धन में!
अन्तःसत्य उसे चिति का माखन-सा लगता
भू जीवन अवलम्ब विना जो ऋण उपाधि भर!
—सहज परस्पर अवलम्बन जिनकी सार्थकता!

रिक्त कर रहे थे प्रभु उर आस्था-प्रकाश से
सम्भव, उसमें सुन्दरतम नव आस्था भरने—
जो अपनी व्यापक आभा की सित बाँहों में
वहिर्जगत् जीवन को भी भर ले जन-भू के!
भावोन्मादन मनोल्लास के पंखों पर उड़
खो जाये जो नहीं शून्य आत्मा के नभ में!

प्रत्युत दे रस-स्पर्श मनोभावों, जड़ जग को,
भोग कर सके वस्तु-सत्य का समग्रता में !

गहन ध्यान में दीर्घ समाधित रहने से अब
उसके सिर पर शक्ति-पात होता था अविरत,
कई दिनों तक नींद नहीं आती ? ऊर्जा से
सिर फट जायेगा—उसके मन को भय लगता !
विह्वल हो, छटपटा तृणों के विरल तल्प पर
निद्रा का आवाहन करता वह निशि में जग !—

आओ, सहृदय निद्रा की प्रिय देवी, आओ,
तन्द्रिल पलकों को अपना मृदु तल्प बनाओ !
तुम सबकी आँखों में बसनेवाली मोहिनि,
निज नीरव शोभा का सम्मोहन बरसाओ !
मेरे अहरह स्पन्दित हृदय कमल में आकर
विस्मृति के पलने में मुझको शनैः भुलाओ !
तारों की निःस्वर झिलमिल किरणों से उतरो
झूम, जुगनुओं के पंखों पर उड़, मँडराओ !

धूप छाँह अंचल में लिपटी कोमलांगि हे,
स्वप्नों के मोहित पंखों में मुझे छिपाओ !
पिला अनाम सुरभि मेरे नासा रन्ध्रों को
साँसों का श्लथ आना-जाना मुझे भुलाओ !
तुम निशीथ की अँधियाली की मादकता हो,
मुझको उन्मद दिव्य सोम के पात्र पिलाओ !
अभी नहीं सुन पड़ती नृत्य चपल तन्द्रिल ध्वनि
भाव द्रवित मोहक स्वर्गिक संगीत सुनाओ !

आर्त क्षुब्ध शोकाकुल जन की दयामयी मा
तुम निज अंचल छाया से उनका दुःख हरती,
आओ, शान्तिमयी, मन का सन्ताप मिटाओ !
समाधान मिलता न निगूढ़ समस्या का जब
स्वप्न मार्ग से आ तुम गूढ़ रहस्य खोलती,
महिमामयि, तुम सुखद स्पर्श से मुझे सुलाओ,
आओ, निद्रा की अदृश्य प्रिय देवी आओ !

गोकुल बढ़ता जाता था अनिवार्य नियम से
सहज वृत्तियों ही से संचालित पशु-जीवन !
वन औषधियाँ, कन्दमूल खा, सूँघ गन्ध तृण,
विरल रुजों का वे उपचार स्वयं कर लेते !

एक पहाड़ी काला कुत्ता भटक [illegible]
सत्यकाम के पर्ण अजिर में जाने [illegible]
गायों का पहरा करता, क्षीरोदन [illegible]
सत्यकाम को देख ध्यान रत, [illegible]

गुह्य शब्द उच्चारित करता ऊर्ध्व कण्ठ से
किसी गूढ़ अनुभव से आकुल भाव व्यथित-सा !
सत्यकाम उसके अनुशासित जीवन से खिच
रक्षा करता उसकी हिंसक वन रिपुओं से !
जीव-जन्तु भी अपना महत् प्रयोजन रखते
दिव्य सृष्टि कार्यों में, लगता सत्यकाम को,
गुह्य बोध के वाहक क्रोष्टु, विडाल, काक, श्वन् !

कभी वस्तु विज्ञान जीव जड़ बहिर्जगत् का
विश्लेषण कर, छान-बीनकर छिपी शक्ति की,
मानव जीवन को सँवारने में भू - पथ पर
सदुपयोग कर पायेगा प्राकृत उर्जा का !

आत्मा, अन्तर्मन ही के निर्जन में खोया
भूल गया था मधुर स्वाद वह भू-जीवन का
इच्छाओं के वर्जन, संयम, निराकरण से—
उठतीं जो आवेशपूर्ण सन्देशवाह बन
अग्रदूत की विश्व चेतना की अन्तर में !—

अग-जग की व्यापकता से कट, ऊर्ध्व व्योम के
सूक्ष्म इन्द्रधनुषी छायाभासी वैभव से
परिचित था केवल अब उसका स्वप्न-घनी मन !
जो सन्तुष्ट न कर पाता उसकी भू व्यापी
आत्मा की अज्ञात तृषा को—समाधान जो
खोज रही थी बहिरन्तर जीवन-परिणति का !

जीवन ही अब उसको लगता पूर्ण स्वयं में
ईश्वर बनने योग्य—शेष सब उसके अनुचर !
तम-प्रकाश, सुख-दुख-पलने में बढ़कर जीवन
(धरा परिस्थितियों के क्षण परिणाम मात्र जो)
मोहित करता उसे अनिर्वचनीय स्पर्श से,
तिक्त मधुर अनुभूति-द्रवित कर मन के घन को !
आत्मा, चेतस, धी, प्रज्ञा, वाणी की सम्पद्
केवल भू-जीवन विकास क्रम के साथी भर,
परा चेतना, जग जीवन ईश्वर की जननी
यही सत्य अंकित करती उसके अनुभव में !

लता प्रताओं से मण्डित, मणि कुसुम किरीटी
महाकाय बहु वृक्ष खड़े वन में दिग् विस्मित
क्या जाने क्या प्रश्न पूछते - से अम्बर से
ऊर्ध्व बाहुओं के चौड़े करतल फैलाकर !—
गहरे मूल धँसाये निस्तल धरा गर्भ में
नीचे के भुवनों को भी ज्यों खोज रहे हों !

गहन विजन में सान्ध्य अटन कर उद्वेलित मन
वह जग के अन्तर में ज्यों करता प्रवेश हो,

भीतर से भी बाहर लगता अति रहस्यमय
सूर्य चन्द्र से दीपित भू-जीवन का प्रांगण!—
किस महान् नाटक का अद्‌भुत रंगमंच यह,
कहाँ छिपा वह सूत्रधार नेपथ्य में निभृत!

कहीं बहुत ही बड़ी कमी उसको अपने में
लगती, जिसको जान न पाता वह प्रयत्न कर;
स्पर्श सत्य का उसे मिल चुका था स्वयमपि ही
जिसे जानकर भी न जानता था वह, जिसने
अधिकृत था कर लिया उसे—उसकी मति गति को
प्रेरित करता जो भगवत् सत्कार्य के लिए!
गति, अविरत गति-लय में नर्तन करता अग-जग,
पूर्ण प्रति चरण, पूर्ण पूर्ण को करता अतिक्रम,—
वही पूर्णता स्थापित करनी मनुज जगत् में!

ब्रह्म ज्ञान की तथाकथित दीक्षा लेकर वह
पैठा था दुर्गम निर्जन मन में साहस कर
उर की शंकाओं का घने कुहासों का तम
छिन्न-भिन्न करने, प्रकाश का अमृत स्पर्श पा,
आत्म-विजय पाने जीवन की इच्छाओं पर!—
रौंदा करतीं जो नित उसकी मनः शान्ति को!

एक सूक्ष्म आनन्द स्रोत इन्द्रिय निग्रह से
उसके उर में बहता रहता अब अनजाने,
अनुभव होता उसके दृढ़ तद्‌गत अन्तर को
पौरुष की क्षमता का उज्वल स्पर्श अभयकर!
ब्रह्मचर्य उसको सागर-सा लगता निस्तल
जिसमें उठते ज्वार उच्च आकांक्षाओं के!

आत्म ज्ञान से अधिक उसे अब लगता प्रेरक
जग-जीवन का बोध,—आत्म मंगल से समधिक
मानव मंगल—जिसे लब्ध करने भूतल पर
मात्र योग पर्याप्त नहीं—या आत्म बोध ही!
बहिरन्तर पूर्णत्व साधना करनी नर को,
बाह्य जगत् को निर्मित कर अन्तर प्रकाश में!
सागर-सी उद्वेलित होकर उसके उर में
महदाकांक्षा गूढ़, उसे मज्जित कर देती,
भावोन्मेषों के दिग् दीपित ज्वारों में उठ!

विचलित हो निज योग-साधना के पथ से वह
भीषण दुश्चिन्ताओं से मन्थित हो उठता,
अप्रकेत जल उठ छा जाता चेतन-जग पर!
अन्धकार के भीतर होता नव प्रभात फिर
नयी ज्योति से मण्डित उसको लगता भूतल!

आत्म ज्ञान की ज्योति नहीं, वह सृजन-बोध की
ज्योति उतरती स्वयमपि अपनी सहज प्रीति से,
चिन्मय तन्मयता से ऊपर,—परम सत्य से—
भू-विकास का नया चरण सन्निकट जान कर!

भूमि कम्प-सा अनुभव होता उसको भीतर,
कभी अचानक कँप-कँप उठता संयम तप से
निर्मित निश्चल निर्मम मनोधरातल उसका,—
विस्तृत तब लगते दिगन्त, अनिमेष-सा गगन,
स्वतः अनवगुण्ठित हो उठता वक्ष प्रकृति का,
उन्मद सौरभ-अंचल उर से उड़ा समीरण
समुच्छ्वसित कर देता साँसों को, रोमांचित
तपः क्लिष्ट तन को अनजानी मादकता से!

नव यौवन आवेश मथित करता प्राणों को
रक्त-वह्नि को स्वर्णिम स्वरलय में कर झंकृत,—
केलि कुसुमों से, व्रतति प्रततियों, तरु विटपों से
कूद एक सौन्दर्य-बोध की जीवित ज्वाला
हो उठती आरूढ़ साधना सधी दृष्टि पर,
अखिल प्रकृति-जीवन कर उर में अवश प्रवाहित!

भाव जगत् मिल गया वस्तु-जग से था ऐसा
उसे लगा वह एक नये सौन्दर्य-लोक में
विचरण करता हो नव भू-स्वप्नों के पग धर!
साधारण वासन्ती वैभव में ज्यों उसके
उन्मद प्राणों के वसन्त के रूप रंग मधु
शत रंजित हो, श्री शोभा ज्वाला स्पर्शों से
उसके तन मन को छू करते विस्मय-मोहित!

पावक के पग धर वन में आयी थी मधु ऋतु
गन्ध वर्ण के दीप जला क्षितिजों पर मोहक,
प्राणायाम सधी साँसों को वन समीर छू
समुच्छ्वसित कर देता, उर में आकुलता भर!

जिधर आँख उठती, अदृश्य शोभा-अंगुलि छू
आकुल कर देती अन्तर, अमूर्त छाया-सी
उसके उर से लिपट, भाव-श्लथ कर अंगों को!
एक नया ही स्वप्नों का संसार हृदय की
पलकों पर झूलता, रूप रेखा रस विरचित!

तपः पूत चेतना उसे नित पकड़े रहती,
सोचा करता वह प्राणों की मादकता पी
क्या होगा इस दिव्य इन्द्रियों के जीवन का?—
आँखें दृश्य जगत् में रम अपलक रह जातीं,
जाने क्या खोजतीं नील दृग दिग् दिगन्त में,
रूप रूप पर मँडरा, श्री सौन्दर्य ग्रहण कर,

ईश्वर को देखा करतीं साकार विश्व में !
श्रवण श्रवण कर शब्द, गूँथ स्वर-लय संगति में,
तन्मय करते मन ; अश्रुत संगीत सिन्धु में—
उत्सुक रहते गुह्य शब्द सुनने को प्रतिक्षण !

नत मुख शोभा प्रणय-वचन कह अमृत घोलती
या द्रष्टा का सत्य हृदय की ग्रन्थि खोलकर
मन्त्र शक्ति से अन्तर को रस भंकृत करता !
सूँघ श्लक्ष्ण सौरभ समीर-पंखों पर वाहित
धरा हृदय के सूक्ष्म स्वर्ग वैभव को नासा
सहज चीन्ह लेती विमुग्ध हो, भाव उच्छ्वसित !

यह किसकी उर-गन्ध !—कल्पना करता अन्तर
गुण विशिष्टता ही में निर्गुण का परिचय पा,
स्पर्शहीन का स्पर्श प्राप्त कर लेता अन्तस
सीमा में निःसीम सत्य का सहज बोध पा !
रस का अनुभव क्या केवल रसना ही करती ?
भावप्रवण उर रसास्वाद करता सहस्र मुख !

निखिल सृष्टि के बीज इन्द्रियाँ ही तो बोतीं
उर्वर रज को सींच स्वस्थ प्राणों के रस से !
अन्तर्दृष्टि मनुज के इन्द्रिय आवेगों को
संस्कृत कर, सन्तुलन महत् भर सकती उनमें !
अन्तर्मन का बोध बहिर्जीवन यथार्थ की
मानवीय परिणति करने में सक्षम होगा !
बहिरन्तर का संयोजन अनिवार्य सत्य है,
अभी अपरिचित मानव जिससे—बड़ी कमी यह
उसके जीवन में ! वह एकाकी द्रष्टा भर,
एकांगी सन्तोष नहीं स्थायी रह सकता,
विश्व-योजना के हित भी पर्याप्त नहीं वह—
भले ऋषिकुलों में वह विकसित वर्धित सम्प्रति !

ऊर्ध्व चेतना सत्य, बाह्य जड़ द्रव्य उभय ही
महत् वास्तविकता भू-मानव के जीवन की,
जन भू के कल्याण के लिए दोनों ही को
शनैः समन्वित करना होगा—सत्य महत् से
बने महत्तर, शिव शिवतर, सुन्दर सुन्दरतर !
कैसे हो संस्कार इन्द्रियों का ? वे अपने
विषयों का उपभोग कर सकें संस्कृत स्तर पर,
काम क्रोध मद लोभ मोह—जो संरक्षण की
उग्र वृत्तियाँ—नर जीवन में कैसे उनका
सदुपयोग हो ?—मंगलमय जन-भू जीवन की
रचना करने में—तमिस्र से ज्योति ग्रहण कर !

स्त्री पुरुषों का प्रेम मुक्ति बनकर बन्धन में
सार्थक हो प्रेमानुभूति में जीवों के प्रति
प्रजनन का जब परिणत हो जन सृजन-शक्ति में,
कला शिल्प, सौन्दर्य बोध, प्रेरणा स्रोत बन!
अधोमुखी से समदिग्दर्शी, ऊर्ध्वमुखी बन
काम-पंक में खिले राग का शतदल सरसिज!—
स्वर्ण सूत्र सा गुम्फित जो तन मन प्राणों के
भुवनों में—आत्मा में सित आनन्द बोध बन!

कैसे हो संकीर्ण अहंता विकसित जन की,
व्यक्ति समाज बने, समाज इतिहास बनाये,
भू-इतिहास करे रोहण अध्यात्म-शिखर पर!—
व्यक्ति मुक्ति अर्जित हो जन की विश्व-मुक्ति में,
पर्वत-बाधा रहे न स्थावर जड़-जग नर हित!
खींच शक्ति उससे जीवन-परिवेश रचें जन,—
निखिल भूत-जग केवल सक्रिय पुंजित ऊर्जा,—
देह प्राण मन से सम्पन्न मनुज-जीवन ही
अक्षय आध्यात्मिक रसपायी बन सकता है!

तन की शोभा से झाँके भावों का वैभव,
भावों के वैभव में आत्मा का प्रकाश हो,—
इस प्रकार शिखरों का सत्य करे अवरोहण
भू-जीवन को स्वर्गिक गरिमा से मण्डित कर!
निराकार साकार हो सके भव-दर्पण में,
रति-तृष्णा सौन्दर्य प्रेममय तृप्ति बन सके,
तन्मय सुख ला सके निकट आनन्द ब्रह्म के!

नवयौवन चेतना हृदय भीतर प्रवेश कर
पूर्ण मनुज जीवन पर अपना निर्णय देती,
स्वप्न-मुग्ध कर सत्यकाम को भाव जगत् में!—
निःसन्देह साहसी होते नव यौवन क्षण!

पुनः दृष्टि नासाग्र भाग पर केन्द्रित कर वह
नयन मूँद, मन खींच बहिर्जग जीवन पट से,
ध्यान मग्न हो जाता अपने ही में—धीरे
आरोहण कर दीपित चेतस् सोपानों पर,
लय अकूल, स्थिर, शान्त अतल सागर-समाधि में!
लीन बीच ही में हो कहीं लवण पुतले-सा
सिन्धु थाहने की अदम्य इच्छा से प्रेरित!

चित् सलिलों में अवगाहन कर वह घण्टों तक
सद्यः स्वस्थ, प्रशान्त उतरता मनोभूमि पर,
जग को अधिक प्रसन्न, प्रकृति मुख अधिक मधुर पा!
आरोहण अवरोहण करता अनुशासित मन,
इसी भाँति बीतते पक्ष बहु, मास, शरद भी!

क्या उपयोग करे वह इस चैतन्य अग्नि का
प्राणों की, मन की, जीवन की आहुति देकर?—
सृष्टि यज्ञ यह कैसे सार्थक, पूर्णतम बने,
व्यक्ति तपः वेदी भर जिसके क्रम विकास की!

और, एक दिन सहसा अन्तर्व्यथा मथित हो
लगा सोचने वह,—कैसे अवरोध खड़े कर
विश्व प्रकृति ले अग्नि-परीक्षा मनुज हृदय की
सामंजस्य नया स्थापित करती जीवन में
सोने-सा नर को निखार चैतन्य वह्नि में!

उसे लगा, मा ने जैसा संकेत किया था,
ज्ञान-योग का पन्थ पकड़ उसने अनजाने
कमल तन्तु-से मसृण सूक्ष्म सम्वेदनों भरे
अपने कोमल संस्कारों के मन की क्षति की!

ऋषि-मुनियों ने नेति-नेति कह, बुझा पहेली,
जिसे जताने को बौद्धिक ऋण-दृष्टि मात्र दी,
स्पर्श-वेद्य उसके स्वरूप को सहज समझने
मुझे प्रीति के रस सागर में तिरना होगा,
स्वयं इष्ट भी तीर पार कर निकट आ सके!
मन समग्र प्रतिमा निर्मित कर सके सत्य की,
विकसित भू जीवन ही जिसकी अभिव्यक्ति हो!

ऐसे ही भावोद्वेलन से अभिप्रेरित हो
रसोल्लास में मग्न, खोजने लगा सत्य-मुख
भीतर उर दर्पण में, बाहर भू-जीवन में!
ईश्वर का वरदान बनें मन प्राण इन्द्रियाँ
स्थिर साक्षी आत्मा से सर्जित भाव शक्ति हो,
उर के यौवन में कुसुमित जीवन वसन्त हो!
विकृति कलुष तम डूबें अन्तः रस प्रवाह में
जीवन के अकलुष मुख को पहचाने भू-मन!

प्राण ब्रह्म

ब्राह्म मुहूर्त! जगा तृण-शष्प रचित शय्या पर
सत्यकाम,—आह्निक कर्मों से निबट यथाविधि,
देखा उसने, वधू उषा भीने तमिस्र का
अवगुण्ठन अब उठा रही अर्धस्मित मुख से!
एक सुनहली, श्लक्ष्ण रेख पहिले प्रकाश की
अंकित करती अन्तरिक्ष में विजय ज्योति की!
निशि के प्रतिनिधि वन्य काक अभिनव द्वाभा के
अग्रदूत बन, स्वागत करते जाग्रत जग का!
कृष्णा, पृश्नी, शुक्ल, रोहिणी धेनु रँभातीं
ग्रीवा उठा, बुला वत्सों को, दुग्ध भार नत!

गिरि शृंगों से, तरु शिखरों से उतर धरा पर
एक किरण सरसी लहरों पर स्वर्ण हार-सी,
ऊपर ऊपर तिर, न भेद पाती अन्तस्तल !
स्वप्न नीड़ में से जग विहग सहस्र स्वरों में
नवोन्मेष की वाणी देते दीप्त पंख उड़ !—

धन्य उषे, दिव दुहिते, दुहो प्रकाश धेनुएँ,
भुवनों के पात्रों में भर, चेतना दुग्ध नव !
देव जननि तुम, अदिति मुखश्री, यज्ञ ध्वजा को
दीपित करो गगन में, फहरा गन्ध धूम मद !
ज्योति ज्योतियों की तुम निरुपम, गौरी ऊषे,
करो प्रशस्त अरुणिमा का पथ अन्तरिक्ष में,
स्वर्ण स्रोत-सी झरझर कर द्यौ से पृथवी पर
नव्य प्रेरणा दे जन को, सत्कर्म कराओ !

तुम जीवों को जगा, कर्म के हित प्रवृत्त कर,
सुलभ कराती भोग, तृप्त कर सचराचर को !
जागो हे, त्यागो आलस्य, नये जीवन का
श्री संचार हुआ अब, मंगल पथ अपनाओ !

अश्ववती, गोमती उषा को क्षिप्र वेग से
अरुण वाजि पर्यटन कराते प्राची पथ पर !
अमित दानशीले, तेजोमय कोप तुम्हारा,
नित नवीन सम्पद् बरसाती तुम जन-भू पर !
जो अतीत में भी स्यन्दन थी दिव्य चलाती
वही उषा सर्वदा रहे आभा बखेरती !
उत्तम गृहिणी उषा, खगों को पंख लगाती,
पदचारी जीवों को गति, जन को सुख देती !
जान तुम्हारा दिव्य आगमन, दान पुण्य जो
करते पुष्कल, वे अपूर्व वर तुमसे पाते !

सुधी श्रेष्ठ ऋषि कण्व तुम्हारा गौरव गाते,
मननशील पुरुषों को कर्म प्रेरणा दे तुम
धन कामी को प्रचुर उपार्जन क्षमता देती !
दूर देश से दिनकर के आने के पहिले
प्रस्तुत यात्रा हेतु उषा रहती स्यन्दन ले !
शत-शत रश्मि लिये उसको आती विलोक कर
श्रद्धानत मस्तक प्रणाम करता समस्त जग !
रवि को अन्ध गुहा से पणियों की निकालकर
सृष्टि चक्र वह ज्योति मार्ग पर करती प्रेरित !

गौर वर्ण धारिणी उषे, भद्रे, कमनीये,
निहित तुम्हीं में जगत् प्राण, सारा जग जीवन,
बृहत् स्वर्ण रथ से आह्लादमयी द्रुत उतरो,
सोम पात्र देवों को दो, कल्याण नरों को !

शत्रुनाशिनी, तेजोमयी, रश्मि रथ दिव्ये,
मनोगुहा का गहन तमस तुम दूर भगाती!
द्विपद, चतुष्पद हर्ष मनाते तुम्हें देखकर!
अरुण वृषभ स्यन्दन पर चढ़ तुम दुग्ध धेनु-सी
रवि-किरणों की ऊष्ण धार से पोषण करती!

कर्म कुशल युवती-सी पारंगत प्रिय ऊषा
प्रबल प्रतापी वीरों सी शस्त्रों से जगमग,
चतुर नर्तकी-सी जन मोहन रूप सँजोती
क्षीर भरा पृथु धेनु उदर दिखला हरती मन!
तेजस्विनी, सत्य भाषण प्रेरित करती जो
उस दिव दुहिता की प्रशस्ति गाते गौतम ऋषि!
गोशाला के द्वार, तमिस्र कपाट खोलती,
चिर पुराण वह, नित नवीन भी, एक वर्ण रस,—
निपुण जुवारी के समान ही दाँव फेंकती!

अँगड़ाई जब लेती स्वसा-निशा प्रांगण में
सरित पूर सी उसकी ज्योति डुबाती जग को!
एक उभय बहिनों का पथ, दूरी अनन्त हो,
दिव शासित उस पथ पर ही चलतीं निष्ठा से!
उनमें नहीं विरोध, न क्षण भर को अलसातीं,
भिन्न वर्ण निशि उषा एक, निष्काम कर्म-रत!

विगत उषाओं की अनुगामिनि पूत उषा यह,
भावी ऊषाएँ अनुगमन करेंगी जिसका,
नयी चेतना भरती यह जग में प्राणोज्ज्वल!
जो निष्प्राण अचेत, सदा रहते अतीत में
उनके लिए निरर्थक शाश्वत दिव प्रकाश यह!

आने वाली उज्ज्वल ऊषाओं में पहिली
ऊषा यह, बीती ऊषाओं के दिशि पथ का
नित्य अनुसरण करती, भव-तम दूर भगाती,—
पहिले उदित हुई जो ऊषा, आगे भी जो
सदा उदित होंगी,—यह उनके मध्य सन्तुलन
सेतु तुल्य शोभित, भू जीवन प्रति मंगलमयि!

अन्तरिक्ष में उषा सूक्त मुखरित करते थे
विहगों के स्वर,—सहसा उसके मनोदृगों में
महाश्चर्यवत् प्राण ब्रह्म साकार हो उठा,
महत् रूप धर तेजपुंज देवोपम वृष का!
हम्भा रव से गूँज उठीं उन्मुक्त दिशाएँ,
जगत्प्राण जग, भाव मत्त हो, नाच-सा उठा!
सिहर उठी रोमांचित काया, शिराजाल में
रक्त गा उठा, नये वेग से संचारित हो!

देखे उसने चार शृंग, दो शीश वृषभ के,
सप्त हस्त सातों भुवनों में से दिग् विस्तृत,
त्रिधाबद्ध वह, तीन पाद पर खड़ा सामने—
अपनी तेजोमयी दृष्टि से सहसा उसने
सत्यकाम के मनोदृगों को बांध-सा लिया!
विस्मय हृत वह मुग्ध एकटक रहा देखता
शक्तिपुंज उस दिव्य वृषभ को ध्यानावस्थित!
उन्मद गन्ध निकलती थी उसके श्वासों से,
तद्‌गत, आत्मविभोर हो उठा तापस सहसा!

तभी स्पष्ट अन्तर्ध्वनि जगी हृदय में उसके—
"लौट चलो प्रिय सत्यकाम, अब तुम गुरुकुल को!
एक सहस्र हुईं गो, जो उपलब्धि तुम्हारी,
करो समर्पित आत्म सिद्धि आचार्य देव को!"

"मैं प्रसन्न हूँ तुमसे, दीक्षित करता तुमको
एक पाद में ब्रह्म सत्य के, जो प्रसिद्ध है
अपने नाम प्रकाशवान से!" "उपकृत हूँगा,
भगवान्!" "तुमको अग्निदेव दूसरे पाद की
दीक्षा देंगे, अभिषेकित कर!" "जय हो भगवन्!"

"सुनो, पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण आशाएँ
परब्रह्म की चार दिक् कलाएँ ज्योतिर्मय!
जो प्रकाशमय चतुष्कलायुत ब्रह्म सत्य की
उपासना करता, वह ज्योतिर्मय भुवनों पर
विजय प्राप्त कर, स्वतः प्रकाशवान् हो जाता!"

"धन्य हुआ मैं!"—सूँघा वृष ने सत्यकाम के
तपः क्लिष्ट साधक शरीर को, साँस खींचकर
उठा कृच्छ्र अर्जित संयम का रजत आवरण,
छोड़ दिया प्राणों का मारुत वेग चित्त में,—
प्राण सिन्धु में प्लावित कर उर सत्यकाम का!
जब तक समझ सका वह ज्योति ऋषभ प्रतीक को
वृष अदृश्य हो गया, डुबा उसको विस्मय में!

निश्चेतन के प्रतिनिधि कौओं के कर्कश स्वर
आहत करने लगे वायुमण्डल उस स्थल का,
सत्यकाम ने शान्त किया उनको, केन्द्रित कर
ध्यान दृष्टि उन पर, तम के स्तर छिन्न भिन्न कर!

सोच रहा था सत्यकाम विस्मय पुलकित मन
खोज सत्य की करने आया था मैं वन में,
मन के नयनों में जाने कैसे उद्भासित
अवचनीय सौन्दर्य लोक हो उठा अचानक!
कभी नहीं देखा था पहिले विश्व प्रकृति मुख
मैंने यों सौन्दर्य मुग्ध हो निर्निमेष दृग—

रोम-रोम सचमुच ही विधि की रहः सृष्टि का
श्री शोभा की तूली से चित्रित-सा लगता !
सुन पड़ता अब मृदु हृत्स्पन्दन सरसी जल का,
उठता-गिरता-सा उभार प्रिय वक्ष:स्थल का—
पुलिनों के जघनों से खिसक रहा जल अंचल,
भावोद्वेलित लहरें लोट रहीं लहरों पर !

सौ-सौ मधु ऋतुओं की सम्पद् से पल्लव वन
लगता दिक् प्रज्वलित अमित शोभा लपटों में,
चोंच मिलाकर विहग प्रणय सम्भाषण करते
रंग पंख आकुल उड़ान भर साथ गगन में—
फूलमाल-से बहते वे लगते अम्बर में
वर्ण-वर्ण की पंखड़ियाँ बरसा पर्णों की !
नील पीत मणि मधुकर गन्ध द्रवित गुंजन भर
मुकुलों के मुख चूम, रूप पर मुग्ध झूमते !

आन्दोलित हो उठी रूढ़ कल्पना जगत् की
एक नया जग जन्म ले रहा हो पलकों पर,
जिसके प्रति वह रहा अबोध अपरिचित अब तक !
नया धरातल उभर रहा था विस्मित मन में,
एक नया आह्लाद, नया आवेश हृदय में—
अन्तरिक्ष अब नव आशा से स्वप्न-मंजरित !
प्राणशक्ति का स्पर्श मिला था सत्यकाम को
पहिले इतने अधिक निकट से नहीं कभी भी,
तप से दीपित उर में नव सौन्दर्य-पुलक भर !

सुन पड़ती अब उसे धरा के उर की धड़कन,
मसृण क्षौम-सी वायु खिसकती भू-अंगों से,
हृदय शिराएँ भावोत्तेजित मथित हो उठीं
सम्वेदना ज्वाल-अंगुलि से छूती अन्तर,
देवों के मधु मदिर श्वास-सी उड़ती सौरभ
रोओं में स्वर्गिक सुख भर बहता समीर अब !

नव प्रवाल लालिमा लाज लोहित मुखश्री हो,
चकित मृगों की दृष्टि तड़ित्-सी लगती उर को,
नील कमल रोमांचित-सा कर देते अन्तर
अपलक मौन विलोक किसी का पन्थ प्रतीक्षित !
फूल मांस की लतिकाओं की तनिमा भाती,
अँगड़ाई-से लेते तरु श्लथ बाँहें फैला,—
छाया के मुख से अवगुण्ठन-सा उठ पड़ता
कूक वन्य खग व्यथा उँडेल हृदय में देते,—
गोपन-सांकेतिक भाषा में निखिल सृष्टि अब
गूढ़ मर्म-सा बतलाती अपना रहस्यमय !

उसे स्मरण आया, वह स्मित शाद्वल पर लेटा
घण्टों देखा करता था एकाग्र चित्त से
नभचुम्बी हिम शिखरों को, जो स्वर्ग श्रेणि-से
अगम नील में खोये रहते ! सोचा करता
ईश्वर रहता वहीं नीलमणि के मन्दिर में—
जो अबोध कैशोर भ्रान्ति थी उसके मन की,
ईश्वर मनुज हृदय में स्थित, अब लगता उसको,
व्याप्त सृष्टि के रोम रोम में भी वह बाहर !—

उसे प्रकृति दर्पण ही में देखा जा सकता,
इस अभिन्नता को न मानना ब्रह्म भ्रान्ति है !
पावन भू, पावन अम्बर, पावन समीर, जल,
पावन पावक, पावन दिशिएँ पल्लव पुलकित,
पावन इन्द्रिय विषयाकांक्षा—ब्रह्म सत्यमय,
विश्व ब्रह्म अनुरूप उसे लगता दिक् पावन !

दृषद्वती के जल में बैठा शिलाखण्ड पर
सोचा करता सृष्टि तत्व पर वह बचपन में,
देख न पाया रंग-बिरंगे उपलों के संग
चपल वीचियों की किशोर शोभा क्रीड़ा तब !
आदर्शों की, आत्मज्ञान की रही खोज में
उसकी शोधक बुद्धि—रूप रेखा के मोहक
जग की शोभा पर अटकी न विमुग्ध भावना !

विश्व प्रकृति के मन्दिर के कंगूरों-से उठ
शैल शृंग निर्वाक् नील को थामे रहते,
झर-झर पड़ते मुक्ताभा के शत-शत निर्झर
शुभ्र चेतना-से अवतरित धरा आँगन पर
वृक्षों की छायाएँ वन प्रान्तर में फैली
मातृ प्रकृति के अंचल-सी हरतीं पथ का श्रम !
सिंह ऋक्ष वृक खिलाड़ियों-से टूट झपटते
मृगशावों, मेषों, पशुओं पर क्षुधा मिटाने—
सार्थक करता जो एकत्व निखिल जीवों का,
पशु स्तर पर हिंसक भी, प्रेम अहिंसक लगता !

ऐसा अनुभव कभी नहीं था हुआ हृदय को—
सौ-सौ अंगुलियों-से छू सौन्दर्य चित्त को
रस-तन्मय कर देता अब, विस्मृत, विमुग्ध कर !
प्राणों के पावक से वासन्ती कलिकाएँ
जल-जल-सी उठतीं अन्तर को रूप दग्ध कर !
निखिल साधना का संयम ज्यों पलक मारते
राग द्रवित हो उठा प्राण के रहस स्पर्श से,—
मूर्त हो उठा सत्य सृष्टि की सुन्दरता में !

प्राणों के इस अमित शक्तिमय व्याप्त लोक की
सद्यः शोभा से आप्लावित उसका अन्तर
ईश्वर को जन-भू जीवन के और निकट पा
स्वप्न देखने लगा सृजन निर्माण के नये!
देखा उसने प्राण-ब्रह्म ही निखिल सृष्टि है,
वही अग्नि, आदित्य, सोम, मारुत, अम्बर है!
वही वसन्तों को बखेरता मुकुलित वन में
अगणित पुष्पों की पंखड़ियाँ रँग भावों से!

पिक का भावुक स्वर, मधुव्रत का तन्मय गुंजन,
प्राणों की आकांक्षाओं ही के सब द्योतक!
वही सुगन्ध मधुरिमा से भरता नासा-पुट,
चपल चौकड़ी मृग में, मृगपति में दहाड़ बन
वन जीवन को वाणी देता खग पशुओं में!
सरिताओं को वही सिन्धु की ओर खींचता
मत्त जलधि में ज्वार उठा शशि मुख शोभा के!
सम्मोहित उससे अग-जग, सन्देह न इसमें,
प्राणों की भू पर उतारना ब्रह्म-सत्य को!
उसको लगा अपाप-विद्ध है निखिल सृष्टि यह,
पृथ्वी के परिवेश, परिस्थितियों में नर को
साम्य सन्तुलन भरना सबके लिए अनामय!

भाषा मिली मनुज को, भाव विचार, तर्क मति,
श्रद्धा आस्था मिली उसे संयम तप निष्ठा,
वह समाज संस्कृति प्रिय, श्री सुन्दरता प्रेमी,
क्या कर सकता नहीं लोक मंगल कामी वह,
भू को छूकर स्वर्ग बना सकता श्रम तप से—
प्राण ब्रह्म प्रेरित करता अब उसको प्रतिक्षण!

दुःखपूर्ण भव जीवन क्रम—यह भ्रान्ति बुद्धि की,
तुलनात्मक सापेक्ष बोध—वह घृणित मृषा भर!
दुःखों को सोपान बनाना भावी सुख का,
मृत्यु निशा को नव जीवन का स्वर्णिम तोरण!
भू स्थितियों पर विजयी होना ही चरित्र-बल,
जीवन का उन्नयन सर्वगत ध्येय मनुज का!

तप - मूर्छित इन्द्रिय - जग प्राणों के स्पर्शों से
रूप - प्ररोहित होने लगा विविध भावों में,
तुहिन दग्ध कमलों के वन सा रवि-कर हर्षित!
धरा - स्वर्ग स्वप्नों का सम्पद् - वाहक इन्द्रिय
भाव गुंजरित मधुपों में सी जीवन मधु संचय
करने को उत्सुक थीं जन मांगल्य छत्र में!
विविध रूप रंगों रेखाओं का सुन्दर जग
निर्मित करना भू मानव को, प्राण शक्ति का
सदुपयोग कर, सृजन प्रेरणा के रस - स्तर पर!

ऊपर उठ बौद्धिक मूल्यों की मरीचिका से
बहिर्जगत् के भेदों को प्रश्रय देती जो
स्थितियों की सीमाओं से कुण्ठित खण्डित हो,
प्राण, चेतना की सीमाएँ उन्हें मान कर!

ऋषियों की एकांगी दृष्टि रही क्या वह? जो
अन्न प्राण मन के भुवनों के प्रति विरक्त हो
आत्मा के आलोक शृंग पर आरोहण कर
दीप शलभ से लीन हो गये भस्म काम मन!!
तम से पर आदित्य वर्ण आत्मा का अक्षय
अकलुप यौवन को उतार जन-भू प्रांगण पर
दिशा नहीं दे सके धरा जीवन विकास को!
सृजन संयमित कर प्राणों के तड़ित् वृपभ को
जोत नहीं पाये तन मन की रस उर्वर रज़!—
शस्य उगा आध्यात्मिक जीवन के भू-स्तर पर
जग को सित निर्माण पीठिका बना सत्य की!

विश्व रूप का तिरस्कार कर, बौद्धिक मरु में
व्यक्ति मुक्ति की मरीचिका के लिए भटककर
समाधिस्थ वे, रहे आत्म-उल्लास शून्य में!
मूल्य आंक पाये न आढ्य इन्द्रिय-जीवन का
सामूहिक संस्कार वृत्तियों का कर अकलुप
मुक्ति न स्थापित कर पाये जन-भू जीवन में!

पर्वत-बाधा, रहा उन्हें जड़ तत्व असंशय,
सोच नहीं पाये वे जड़ की मूल शक्ति ही
जड़ का रूप बदल सकती, जग को सँवारकर,
पर्वत को समतल कर, मरु को बना शस्य-स्मित,
देश-काल दूरी अतिक्रम कर जड़ की गति से!
स्थावर जड़ ही सक्रिय शक्ति धरा के पथ की!

प्राणों की आशाऽकांक्षा के हरित लोक में
बीज निहित भावी मानव जीवन-दर्शन के!
निखिल वर्जनाएँ, निषेध साम्प्रत स्थिति द्योतक!
समदिग् गामी प्राण शक्ति यह, नहीं अधोमुख,
ऊर्ध्व अधः में हमें सन्तुलन भरकर इसको
समतल रस स्तर पर संचालित करना होगा!

लगता, यह ऋषि मुनि सन्तों की जीर्ण व्याधि है—
जाने कब तक यह संक्रामक रोग रहेगा—
जग जीवन की महत् उपेक्षा कर, प्रवृत्ति के
मन को लाँघ, तिमिर के पार अनन्त सत्य का
बोध प्राप्त कर, पूर्ण परात्पर में लय होना!...
मुझको लगता, मैं असंख्य वर्षों से अविरत
तप करता आया हूँ—स्पर्श सत्य का पाने!

असन्दिग्ध स्वर में अब मैं यह कह सकता हूँ—
मानव ही, मानव ही, निश्चय परम सत्य वह,
भू जीवन में उसे सँजोना है अपने को !

देह प्राण मन आत्मा का संघात मनुजवर
उसे ब्रह्म के सभी स्तरों की अभिव्यक्ति के
मूल्यों को कर ग्रहण, जगज्जीवन का प्रांगण
निर्मित करना बहिरन्तर वैभव संचित कर !
आध्यात्मिक भौतिक मूल्यों से कहीं महत्तर
मनुज सत्य—सब मूल्य समन्वित जिसमें निश्चय,
मूल्यों का जो मूल्य—निषेध विरक्ति वर्जना
ऋण उपचार, अभावग्रस्त, पौरुष से विरहित !
प्रकृति मुक्ति ही जीवन, नहीं मृषा माया वह,
खण्ड बोध जो वर्तमान-दर्पण पर बिम्बित !

प्राण शक्ति को विजयी होना देश काल पर,
जीवन की प्रतिनिधि ऊर्जा वह, ब्रह्म श्वास सित !
प्राणों के पंखों पर वाहित, ऊर्ध्व व्योम में
स्पष्ट देखता वह, भू पर झर अमृत प्रेरणा
मनुज स्वर्ग निर्माण कर रही जन मंगलमय
देव लोक से समधिक पूर्ण, सुखद, श्री सुन्दर,—
जीवन-ईश्वर की पद पीठ बना पृथ्वी को !

प्राण आंगिरस, वाक् श्रवण दृग इन्द्रिय जग के
रस का सार निहित उनमें ही, ब्रह्म शक्ति वे !—
अन्य सभी चैतन्यों के स्तर सक्रिय उनमें !

सत्य साधना में आ उसकी दिव्य ऋषभ ने
जोड़ दिया आयाम नया, उसको दे व्यापक
सूक्ष्म दृष्टि-वर, सत्य-तत्व में, गुहा निहित जो !
उतर रही थीं नयी उषाएँ मन-की भू पर,
नयी धेनुएँ रँभा रही, थीं ध्यान-भूमि में,
मूर्त हो रहे दीपित भावों में उनके स्वर,
दुग्ध धार पोषित करती इन्द्रिय-वत्सों को !
नव नव उन्मेषों में मुकुलित वन-दिगन्त अब
कूक कूक वन प्रिय खग जाने उसको देते
कौन गुह्य सन्देश, जिसे सुनने में पहिले
श्रुतियाँ कतराती थीं—अब अभिवादन करतीं !
मौन नील अनिमेष देखता मुग्ध दृष्टि से
ज्यों अनन्त यौवना धरा की श्री शोभा को,
मुक्त नाचती रजत दिशाओं के प्रसार में
चन्द्रकला को खोंस श्याम घन वेणी में जो !

अप्सरियों-सी षड् ऋतुएँ करतीं परिक्रमा,
गाते शत गन्धर्व चतुर्दिक् खग कण्ठों से,—

भौतिक तत्व नहीं केवल जल, चटुल समीरण,
इन्हें मिले भावना पंख, भू मन का गति जव!—
ताका करती तरुण सूर्य का मुख सरोजिनी,
हंस-मिथुन ग्रीवालिंगन दे तिरते जल में,
भृकुटि-भंग-से मीन चपल करते कटाक्ष शत,
ध्यानी वक सिखलाता गहन निरीक्षण करना!

क्यों न देख पाया मैं यह भू जीवन सम्पद
शोभा द्रव्यों से जो ग्रथित, महार्घ मुक्ति से!
मुक्त प्रेम की लीला भर यह सृष्टि कल्पना,
क्या न हृदय की गन्ध समायी मृदु समीर में?
क्यों न देख पाया मैं रँग-रँग की तूली से
धरती का शृंगार कर रहे नव मुकुलों को?
गीतों के बादल-सी उड़कर मधुकर श्रेणी
कलियों के मुख चूम अधर-मधु पीती भू का!

सुरधनु गुण्ठन डाले मुख पर रवि की किरणें
उसे अप्सराओं-सी हँसमुख लगती थीं अब!
अन्तरिक्ष की बाँहों में सी बँधी धरित्री
हरित शस्य श्री रोमांचित उसका मन हरती!
दीप्त झरोखों से निशीथ में नक्षत्रों के
शत शत स्मित मुख झाँका करते शोभा मण्डित!
लहरें झनकातीं पायल, रेशमी समीरण
पुलकित कर देता मन, सौरभ अंचल से छू!
चन्द्र कला तिर्यक् नयनों से उसे देखती,
राग चेतना-सी ज्योत्स्ना तन्मय करती उर,
अन्धकार कोमल - कुन्तल सौन्दर्य - जाल में
उसको बिलमा लेता गोपन स्वप्न लोक में!
बदल गया हो अर्थ सृष्टि का, वस्तु-जगत् का,
जड़ चेतन रस भावोद्वेलित दिखते उसको,
उतर भूमि से अन्तर्मन की, वह जीवन के
रस-घनिष्ट आनन्द सिन्धु में डूब गया हो!

कितने सोये स्वप्न ध्यान-केन्द्रित पलकों पर
कितने तन्द्रिल भाव हृदय में जगकर सहसा
सुरधनु सम्मोहन बरसा आकुल करते मन!
मनो भुवन को प्राणों की सौन्दर्य मेखला
घेरे रहती शत इच्छाओं से मद-झंकृत!
प्राणों का, इच्छाओं की, शोभा का, वैभव
नहीं चेतना के ऐश्वर्य जगत् से कम हो!
नव उपकरणों से निर्मित करनी भू-संस्कृति
प्राण चेतना के प्रकाश में संयोजित कर!
केवल छूँछी रिक्त ज्योति में अवगाहन कर
सार्थकता पाता न सृष्टि का गूढ़ प्रयोजन,

या चरितार्थ सृजन विकास क्रम ही हो पाता !
चेतस के मणि सोपानों पर आरोहण कर
समाधिस्थ सच्चिदानन्द में हो उसका मन
अनुभव करता चित् प्रकाश की आत्म-रिक्तता
क्यों न जगत् जीवन बाँहों में बँध पाता वह !
चिदानन्द का दिव्य स्पर्श पाकर यदि मानस
परम नीड़ ही में रम जाये मुक्ति विहग-सा
उच्च बोध के शिखरों पर विहार भर करता
तो निश्चय यह ज्योति-अन्ध ही कहलायेगा !
ज्योति शान्ति सम्पत्ति न केवल ऊर्ध्व व्योम की
वह निश्चेतन स्तर पर भी दिग् व्याप्त असंशय
जड अणुओं में भी स्मृति-जाग्रत् करना उसको !
तभी एक सर्वाङ्ग समन्वित धरा-स्वर्ग की
दिव्य कल्पना सार्थक हो सकती भविष्य में !
ध्यान चरण धर उसका मन, प्राणों के समतल
व्यापक रजत प्रसारों में अब परम सत्य का
अभिनव भावों के भुवनों में अनुभव करता !
देह बुद्धि आत्मा के विविध विभव को लेकर
जीवन पीठ महत् रचनी प्राणों की भू पर !
पूर्ण समर्पित हो ईश्वर के वैभव के प्रति !—
वृषभ नहीं था चतुर्श्रृंग वह, दिव्य पुरुष था,
उपनिषदों के युग के एकांगी चिन्तन को
प्राणों के रस स्पर्शों से पूर्णता दे गया,
समग्रता वैदिक युग दर्शन को प्रदान कर
प्राण ब्रह्म का दिव्य स्पर्श दे उसको अक्षय !
प्राण ब्रह्म ही की निश्चय सौन्दर्य-सृष्टि यह,
जीवन ही सम्राट विश्व का, मृत्युञ्जय जो,—
विविध पीढ़ियों में ले जन्म पुनः जी उठता
घोषित कर अमरत्व मनुज का, भू-जीवों का !
सृष्टि-चक्र रथ उसका, देश काल पर धावित,
विकसित मानव मन सारथि, जन-भू विकास के
पथ संघर्षों पर विजयी हो जिसे अनवरत
दुःख, निराशा, असफलता के सोपानों को
सतत पार कर, आगे बढ़ना है अविजित रह,
साहस पौरुष, श्रद्धा आस्था के ध्रुव पग धर !
मैं जीवन की चरम विजय का सूर्य तूर्य ले
दिव्य घोष से मुखरित कर दूँगा दिगन्त सब !—
मानव मंगल का, शिवत्व का वाहन बन वृष
शक्ति स्फूर्ति संचार करे, आचार्य कुलों में,
जन-भू जीवन के विकास के प्रति विरक्त जो !
आध्यात्मिक वैभव के धनपति-से श्री मण्डित

नगरों से उपरत, निर्जन गहनों के वासी,
जंगल में मंगल को ही सिद्धान्त बनाये !

किन्तु सोचता सत्यकाम डूबा चिन्तन में
प्राणों की निधि पा उद्वेलित—सम्भव···सम्भव···
साम्प्रत स्थिति में उपादेयता हो आश्रम की
ऊर्ध्व दृष्टि का ज्योति स्पर्श देने भू-मन को !

सोच रहा था अकलुष प्राण-अमृत पी मादक
वड़े-बड़े द्रष्टा ऋषियों के प्रवचन से भी
पूर्ण तृप्त हो सकी न आध्यात्मिक जिज्ञासा
जो कुरेदती उसके अन्तर को छुटपन से—
जो निगूढ़ संघर्षण मथता रहा चित्त को
मुक्त नहीं हो पायी उससे प्यासी आत्मा !

योग साधना, ब्रह्मचर्य से, यम नियमों से
इष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर चुका मैं, गुरुवर की
महत् कृपा से ! किन्तु नहीं सन्तोष हृदय को !
कृत्रिम लगते त्याग तितिक्षा, संयम निग्रह—
जीवन दीपक की आलोक-शिखा को केवल
सत्य मानकर, दीप-शलभ के सदृश उसी में
लय हो जाना—आँख मूँदकर दृश्य जगत् की
श्री शोभाऽकांक्षाओं के प्रति—यही सत्य क्या ?

सूर्यों का अब एक सूर्य दिखलायी देता
मुझे उदय होता असीम रस के अम्बर में,
देख रहा उसके प्रकाश में—निखिल प्राकृतिक
अनघ जगत् ही एक महत्तम योग क्रिया है !
ब्रह्म सत्य ही मात्र व्याप्त सर्वत्र जगत् में
विविध स्तरों पर, विविध वस्तुओं के रूपों में !
मनुज चेतना का उपभोग्य निखिल अग जग यह,
जीवन का शुचि मन्दिर जो,—जिसके प्रांगण में,
शत सहस्र जीवों की श्री शोभा सुषमा में
प्रभु के दर्शन मिलते आस्थावान् हृदय को !

क्रम विकास की पृष्ठभूमि में, भू जीवन की
वस्तु परिस्थितियाँ सँवारते रहना प्रतिक्षण
आध्यात्मिक साधना, योग, तप, त्याग, यही है,—
यही विश्व मंगल, मानव मंगल का वाहक !

अह, कैसा सौन्दर्य बरसता भू-आँगन पर,
कैसी पावन सुषमा का अनुभव करता मन
निखिल जगत् में ! योग दृष्टि यह महा प्रकृति से
मिलती मानव को, जो आस्था रखता उस पर !
एक भावना, एक चेतना जड़ चेतन को
बाँधे तृण पशु से मनुष्य तक निखिल सृष्टि को !

यही स्वरूप अनघ आत्मा का—जग से विरहित
वह केवल कोरा प्रकाश—प्राणिक रस वंचित !

ऊर्ध्व चेतना भुवनों में बहु देव देवियाँ
मिलीं उसे सित समता, ममता, क्षमताशाली,
ऋद्धि सिद्धियाँ जिनकी सेवा करतीं प्रतिक्षण !
किन्तु नहीं उसको सन्तोष हुआ उनसे मिल !
उसकी जीवन दृष्टि खोजती थी समग्र वह
सार्थक सृष्टि लगे जिससे, चरितार्थ जगत् पथ !—
अभिव्यक्ति पा सके पूर्ण चैतन्य मनुज में
आध्यात्मिक, बौद्धिक, प्राणिक, भौतिक वैभवमय,—
देह प्राण मन आत्मा हों सर्वाङ्ग समन्वित !

धनिकों के कोषों में ज्यों होती पृथु सम्पद्
राजाओं के मुकुटों में मणि रत्न जड़े बहु,
ऋषि मुनियों की ऋद्धि-सिद्धियाँ भी वैसी ही—
वे अणिमा महिमा लघिमा प्राकाम्य भले हों ! ...
जीवन मूल्यों का अन्वेषी था उसका मन,
बाह्य परिस्थितियों में भर जो नया सन्तुलन
मानवीय भावों का रस संस्कार कर सके !
अनघ प्रकृति की अनघ सृष्टि यह मानव जीवन,
भू का वातावरण बदलना नखशिख नर को,
मनुष्यत्व ही सौरभ सृष्टि-सरोरुह उर का ! ...
देवों को भी आत्मसात् कर सकता मानव ! ...
संस्कृति स्वर्ग पराग, गहन अन्तर्हित जिसमें
विश्व प्रेम का मधु—जो अमृत धरा के घट का !

धरती के मानवीकरण के बाद काम का
पंक प्रेम का स्वर्गिक पंकज बन जाएगा,
निम्न वासना श्रेयस् में, संघर्ष शान्ति में,
दुख आनन्द, तमस प्रकाश में होगा परिणत !
सृजन प्रतीक बनेंगे कर, पद नव पथ दर्शक,
आध्यात्मिक चिद् बोध-शिखर भू-प्रेम बनेगा,
रस संस्कृति जन हृदय, कला सौन्दर्योन्मेषक,
ऊर्ध्व गामिनी प्राण शक्ति होगी समदिग् बल !

ज्योति प्रीति की, दया क्षमा की, शान्ति धैर्य की,
सूक्ष्म शक्तियाँ मिलीं उसे आनन्द ज्ञान की
निज आरोहण पथ में,—उनसे पूछा उसने
किस प्रकार उनका सहयोग सुलभ हो सकता
भू जीवन उन्नयन के लिए ? कौन चरम वह
सामूहिक बलिदान, अलौकिक त्याग तितिक्षा ?
उत्तर वे दे सकीं नहीं जब—उसके उर की
नीरवता से फूटी फिर परिचित अन्तर्ध्वनि :

मुक्त करे स्त्री को, नारी को मुक्त करे नर,
महामन्त्र बल यह, सामूहिक योग इसी से
सिद्ध धरा पर होगा ! मनुज प्रकृति का जिससे
दिव्यीकरण स्वतः ही सम्भव हो जाएगा !
काम द्वेष से दंशित अभी मनुज जीवन मन
अभी धरा परिवेश परिष्कृत नहीं हो सका !
यह सामूहिक ब्रह्मचर्य होगा वास्तव में,
लोग संयमित-भोग करेंगे भू-जीवन का !
स्त्री न कभी होती अपवित्र चराचर की मा,
अनघ-विद्ध स्त्री की पवित्रता सृष्टि चक्र में !

पुष्प वृन्त से युक्त, मुक्त रहता ज्यों प्रतिक्षण,
हृदय-सुरभि से भरता वह अंचल समीर का !
स्त्री भी बँधी रहे अपने गृह से, प्रियजन से,
भाव सुरभि वह वितरित करती रहे विश्व में
हृदय गन्ध रज, मुक्त प्रीति मधु बाँटे जन में !
मुक्त करो स्त्री का उर, मुक्त धरो उर स्त्री का
वह पद नत दृग नर की छाया सी नहीं रहे !
स्त्री के प्रति कटु काम द्वेष में बँधा धरा नर
प्रकृति मुक्ति का परमोल्लास न अनुभव करता !—
यही सार है महायोग का, परम तन्त्र का,
ऊपर से नीचे तक बन जाएगा अकलुष
आरोहण अवरोहण का सोपान सहज तब !

कितना संस्कृत हो जाएगा जन-भू जीवन
स्त्री जब विचर सकेगी निर्भय, मुक्त धरा पर,
मानव तब निश्चय ही मानव बन जाएगा !
स्त्री तब श्री शोभा प्रतीक बन मांसल जग में
आनन्दित कर नर-उर को सौन्दर्य स्पर्श से
तृप्त करेगी जन जन को, रस सूक्ष्म कला से
प्राणिक आवेगों को संस्कृत, अन्तर्मुख कर !
शील संयमित, आत्म-सन्तुलित होगी स्वयमपि
स्त्री तब नयी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर !

राग द्वेष से मुक्त हृदय होगा प्रभु मन्दिर,
अन्तर्दृष्टि बदल जाएगी भू जीवन प्रति,
काम भावना, राग चेतना का मूल्यांकन
परिणत होगा कला प्रेरणा, सृजन प्रेम में !
आकांक्षा की किरण सूक्ष्म सुरधनु वर्णों में
सज्जित होकर विहँस उठेगी मनः क्षितिज में !—
अन्तर वैभव अभिनव भावों में विकसित हो
फूट पड़ेगा श्री सुषमा के नव वसन्त में !
लौटेगा तब स्वर्ग धरा चरणों की रज पर
दिव्य भाव होंगे कृतार्थ बन मानवीय निधि !

नग्न दिगम्बर अन्तरिक्ष लगता दिक् सुन्दर
वन विटपों पत्रों के श्यामल अन्तराल खुल
टेढ़ी-मेढ़ी विरल टहनियों से बहु निर्मित
चतुष्कोण, षट्कोण, त्रिकोण गवाक्षों में नव
दृश्य दूर का अंकित करते—क्षितिज रेख को
अधिक निकट ला, रूप-विश्व को बाँध नील के
बाहु-पाश में—मर्मर दल-अवरोध मुक्त कर !

हलकी-फुलकी लगती वन-भू, वायु सहज ही
आती-जाती पथ प्रशस्त पा विस्तृत वन में !
शिल्प कुशल, सद्यः प्रसूति सुख पाने वाले
खग युग्मों के विविध रूप के नीड़ दीखते
तरु डालों पर टँगे, झूलते पवन-दोल में !
झर-झर पड़ते पीले पत्ते काल वृद्ध हो,
रूढ़ि रीतियों-से, खो सृष्टि विकास प्रयोजन !

बीत चुका था पतझर, शीतल स्पर्श शिशिर का
अब मृदूष्ण हो चला, अधखिले नव मुकुलों की
भीनी गन्धों का अनुभव होता साँसों को !
जीर्ण वस्त्र अपने उतारती थी वन शोभा
क्षौम वसन नव धारण करने को उत्सुक-सी !
अब न ओस के अश्रु ढुलकते थे पत्रों से
कहीं-कहीं मुक्ता स्रक् पहने थीं छायाएँ !

धूलि भुजग खोहों में थे सो गए कभी के,
नये सृजन का वातावरण निसर्ग बनाता
निर्मल नभ, निर्मल समीर, निर्मल लगता जल !
सूक्ष्म शिराओं से विरचित हो सृष्टि कलेवर,
यही विश्व-जीवन का वाहक अन्तर्जग हो !

स्वर्णिम रज उड़ कभी दृष्टि पथ पर छा जाती
सत् से रज पर उतर रहा हो तापस का मन !
विपिन अस्थि-पंजर-सा वानस्पतिक जगत् का
मूल-दृष्टि देता था जीवन शोभा के प्रति—
जन्म-मरण मांसल वसन्त विवसन पतझर-से
सृष्टि प्रक्रिया के अभिन्न अनिवार्य अंग हैं !

सत्यकाम कितने ही पतझर देख चुका था
वन प्रांगण के—व्यर्थ विभव करते ऋतुओं का !
किन्तु आज का पतझर उसको नए सृजन का
देवदूत-सा लगता, नव सम्भावना लिये !

गायों को एकत्रित कर, गुरुकुल जाने के
उपक्रम में संलग्न, चित्त उसका उन्मन था!
बैठा था वह पद्मासन बाँधे—सरसी के
तट पर विविध विचार-विमर्शों में-सा डूबा!
सोच रहा था, क्या है इस सौन्दर्य सृष्टि की
सार्थकता?—क्या सम्मोहन, केवल सम्मोहन?
कहीं शान्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति भी है शोभा के
मोहक स्पर्शों में? या आकुल-व्याकुलता भर?

कौन विशिष्ट सृष्टि? या वह स्वप्नों की प्रतिमा
जिसमें विश्व प्रकृति की श्री शोभा केन्द्रित हो,
तृप्त कर सके तृषित हृदय जो रस तन्मय कर!
जिसे छू सके, ग्रहण कर सके मनुज मुग्ध हो,
तुष्ट, आत्म विस्मृत हों जिससे बुद्धि प्राण मन!
बाँध सके जीवन यथार्थ की बाँहों में जो
ऊपर के तद्गत अरूप आनन्द तत्व को!

नील कमल, मृग चितवन, कोमल रक्तिम किसलय,
कम्पित तनु लतिकाएँ, हंसों की गति गरिमा—
निखिल प्रकृति उपकरणों की श्री सुषमा को जो
समाविष्ट कर, मूर्त हो उठे रूप मुकुर में
प्रतिच्छवित कर स्वर्ग कल्पना, उर कलशों में
प्रीति सुधा का सिन्धु लिये—जो स्पर्श सुलभ हो,—
आँखों को प्रत्यक्ष दिखायी दे स्वरूप वपु!

रागोद्वेलित भावोल्लसित हृदय, अपनी ही
रूप कल्पना से—उसने आँखें खोलीं जब
वे अपलक रह गयीं, ठगी-सी, श्री शोभा प्रति
श्रद्धा आस्था को अपनी साकार देख कर!
उसे नहीं विश्वास हुआ क्षण भर आँखों पर,
पलकों को मल कर उसने फिर से केन्द्रित की
मुग्ध खोजती दृष्टि सरोवर पार पुलिन पर!
तरुओं के दल झर जाने के कारण जो अब
स्पष्ट दिखायी देता था मणि हरित तल्प-सा!

देखी उसने वय: सन्धि की जीवित उपमा
निरुपम एक किशोरी युवती सद्य: स्नाता
खड़ी पोंछती अपने नग्न निरावृत कोमल
चम्पक अंगों को तन्मय हो—स्फटिक मूर्ति-सी!—
बिलग न होती हो जलार्द्रता पेशल वपु से!
ध्यान नहीं था उसे कि कोई देख रहा है
उसकी चित्र लिखी-सी अर्ध झुकी मुद्रा को!
कौन खड़ी वह ऊर्ध्व प्राण सौन्दर्य-यौवना
स्वच्छ चेतना की रस सरसी में न्हाई-सी!

अभी-अभी उग रहे तारकों के पिण्डों-से
जिसके सघन उरोज दीप्त शोभा बखेरते !
नव वसन्त की श्री सुषमा, सौरभ पराग मधु
लेकर उसके कोमल अंग गढ़े क्या विधि ने !
सहज ज्ञान माया के लिपटे धूप-छांह हों
रूप रंग रेखा की स्वर्गिक आकृति में ज्यों !
नत दृग अर्ध खुले गवाक्ष हों रहस लोक के
प्रेम झांकता जिनके नीलम स्फटिक सौध से !
चूम उषा खोलती, झूम सन्ध्या निमीलती
किन्तु साम्य रखने में नील कमल सकुचाते !

सिमट क्षितिज-परिरम्भ बाहुओं की शोभा में
नये कोपलों की अंगुलियों में लम्बित-सा !
मुख अपना ही रूप-मुकुर बन विम्बित करता
लक्ष कोटि मुख की छवियों को इसके मुख में !
निशा भूल सकती कैसे निज चन्द्र-प्रेम को
छहर रेशमी केशों में घेरे मुख-मण्डल !

देह प्राण मन के मूल्यों में उतर ऊर्ध्व से
रज-तम स्तम्भों पर ही जीवित रहता क्या सत् ? —
ऐसा लगता देख रूप-मांसल जघनों को,
शोभा से पद-चिह्नित करते जो भू-रज को !
मूर्त सिद्धि-सी कौन खड़ी अज्ञात यौवना
अंगों को पोंछती अनावृत, ध्यान लीन हो,
शोभा प्रतिमा वह, स्त्री नहीं, सुभग अंगों को
मार्जित करती रुक-झुक मुग्ध कला कृति में ढल !
सित दशनों की प्रभा फूटती स्मित अधरों से
नव प्रभात हो रहा भावना जग में मेरे !
सत्यकाम को ध्यान न था मन कहता है क्या—
उसका द्रष्टा रस स्रष्टा कवि सहज बन गया !

शोभा के मन्दिर-सी, गोरी लम्बी तन्वी
चन्द्र किरण-सी देख उसे उतरी धरती पर
वह अवाक्, अनिमेष, चेतनाशून्य हो उठा !
क्या अंगूठे के बल खड़ी सरोवर लहरी
अपनी ही शोभा तनिमा में विस्मय स्तम्भित ?
या कि अरण्यानी यह कोई, नव वन देवी ?
निखिल वनानी की श्री-शोभा मूर्त हो उठी
इसके अकलुष अतुल रूप में ! आः, निश्चय ही
योग सिद्धि अवतरित हुई है यह पृथ्वी पर,—
हृदय सरोवर को निज आभा में नहलाने !—
नये सूर्य शशि तारे जिसमें गात्र धो सकें !

मुझको तापस जान खड़ी क्या नग्न निर्वसन ?
मुझे नहीं देखा या उसने ?...अब समझा मैं
तारे क्यों जलते अनादि से किसे देखने,
किसके तन का दिव्य स्पर्श पाने को ज्योत्सना
रेशम के झीने आँचल-सी फहराती नित !
पावस मेघ उमड़ते घन कुन्तल बनने को
मधुपों के गुंजन-से कच उलझे स्मित मुख पर,
तड़ित् स्पर्श से उसके आलोकित होने को !

कूद पड़ा सरसी में वह भावातिवेग से,
या प्राणों के जीवन की रस चंचलता में,
या युवती की श्री सुषमा की निर्मलता में ?—
वहिर्जगत् में ब्रह्म रूप में लय होने या !

पार सहज कर उसने जल व्यवधान तैर कर
अपने को पाया उस अज्ञाता के सम्मुख
मुग्ध खड़ा !...शोभा पट ही में आवृत, उसको
रही देखती वह आश्चर्य चकित हो, मुँह में
अँगुली डाले,—अनजाने फिर दृष्टि विनत कर !

सत्यकाम भी स्तब्ध, सोचता था निज मन में—
नवल पल्लवों की लाली अधरों की स्मिति में
प्राप्त कर सकी सहज पूर्णता ! नील सरोरुह
पर न निर्निमिष नयनों के उपमान बन सके,
चकित मृगी की दृष्टि उन्हें विधि ने प्रदान की !
लता पा सकी क्या मृदु बाँहों की सुडौलता ?
जलते रहें गगन के गोलक छवि-पावक में
वे वक्षों के हंसों की स्वर्गिक गरिमा को
क्या समानता भी कर सकते ? शेष अंग जो,
गुह्य रूप उनका अवाक् रखता वाणी को !

उसने तरुण तपस्वी को पहचान लिया था
जिसको वह देखा करती तरु अन्तराल से
अपर पुलिन पर, ध्यान मग्न निश्चल दृग मूँदे !
सहज भाव से उसने मृदु रोओं का आँचल
डाला तन पर, ढँक कदम्ब के गेंदों के सँग
अधोभाग को ! केशों की कोमल रजनी को
अकलुप सस्मित शशिमुख के पीछे छिटका कर !

सूर्य किरण में इन्द्रधनुष रँग जितने पावन
उतना ही लगता पवित्र उसका आच्छादन,—
विना किसी संकोच किया उसने पट धारण—
देह बोध से शून्य चेतना देख अनामय
सत्यकाम विस्मित था ! प्रणत हुए उसके दृग !

"मैं प्रणाम करती तापसवर को श्रद्धानत,"
बोली वह वन कोयल के रस कोमल स्वर में
झंकृत कर स्वर्गिक संगीत हृदयतन्त्री में
सत्यकाम के! "कौन, कौन तुम? स्वर्ग अप्सरा,
विश्व प्रकृति की श्री सुषमा की या प्रिय प्रतिमा?
या अधिमन के आकाशों की चन्द्रकला तुम
नयी चेतना आभा छिटकाती भूपथ पर?

"कहो, कौन तुम, नव प्रभात की सुन्दरता-सी
नग्न निरावृत, लिपटी-सी सौन्दर्य क्षौम में!
स्वर्गिक शोभा सृष्टि, देख तुमको निर्जन में
भूल गया हूँ मैं अपने को, तन्मय तुममें—
योग दृष्टि परिचित-सी तुमसे! लगता मुझको
सभी सूर्य शशि तारे इसी अनिन्द्य रूप से
अपनी दिव्य प्रभा पाते हैं! वक्ष:स्थल पर
जो पुष्पों के ऋद्धि स्तवक सम्पुटित हुए हैं
सूक्ष्म अर्थ भावों के उनसे उभर रहे हैं!
ज्ञात नहीं, क्यों शक्तिपुंज उस दिव्य ऋषभ ने
बदल दिया मेरा मन, जगा अकाम चेतना!
लगता, तुमको देख न पाता यदि मैं, सुभगे,
समझ न पाता सृष्टि प्रयोजन मैं ब्रह्मा का!"

"नहीं जानती मैं, तापस, जो कुछ तुम कहते,
ऋषियों की वाणी गम्भीर प्रयोजन रखती!"

"आः अबोधते, तुम्हीं न क्या सौन्दर्य तत्व की
नि:स्वर विस्मय से मण्डित पावन रहस्य हो!
क्या प्रिय नाम तुम्हारा?" "मुझे ऋचा कहते सब!"

"आः, शोभा की ऋचा, ज्ञान की शुष्क ऋचा से
तुम महार्घ हो! दृष्टि-मूर्त चेतना-रूपसी!
कैसे हो सुन्दरता का पूजन, आराधन
श्री शोभा पावक में प्राणों की आहुति दे
सृष्टि यज्ञ सार्थक हो रस आनन्द समाधित!
ध्यान मग्न अन्तर तन्मय, सुख सृजन-काम हो!—
गूढ़ समस्या यह नि:संशय! तुम्हें देख कर
नयी प्रेरणाएँ अन्तर में उतर रही हैं,
प्राणों में रस स्रोत फूट कर प्लावित करता
नयी कल्पना से जीवन को, भूल आत्म-पर!"

"नहीं समझ पाती मैं ऋषिवर, गूढ़ आपके
भावोद्रेकों, उच्छ्वासों को,—क्षमा चाहती!"

"नील पद्म, रक्तिम प्रवाल में, चलोर्मियों में
पुष्पों के स्तवकों, मुकुलित तनु लतिकाओं में,

गज हस्तों में, कलहंसों की मार्दव गति में
प्रथम प्रयोग किये विधि ने सौन्दर्य कला के !
अनिमिष नयनों की तुलना में सरसिज टिकते ?—
जिनसे अपलक सूर्योदय देखा करता सर !
स्मित अधरों के सम्मुख फीके लगते पल्लव,
शशि कब सुख देगा अकलुष शशि मुख विलोक कर ?
रूप गौर कुम्भों के आगे स्वर्ण के कलश
पानी सदा भरेंगे ! कदली विटप नहीं ये
रस कलशों को शोभा स्तम्भ किये युग धारण !
कोमल पदतल तले विहँस बिछने को लगता
मृदु तृण पुलकित हो उठती धरती की शोभा !"

"नहीं जानती मैं, क्या कहते आप तपोधन !
निर्जन ने जो मुझे सिखाया वही समझती !
वन पिक के सँग कण्ठ मिला मैं गा सकती हूँ,
लतिका सँग नाचा करती, जब पवन स्पर्श से
पुलकित वह फूलों के अंग मरोरा करती !
ऋतुओं का सौन्दर्य भोगती हूँ मैं छक कर
सुमनों की सौरभ पी उर की प्यास बुझाती !
फूल ज्वाल के अन्तरिक्ष मुझको बाँहों में
भर कर तन्मय करते—पुष्पों के पराग से
मैं अंगों को रँगती, कर-पद में रच लाली !

"हिरनों के सँग चपल चौकड़ी भर कर वन में
उनके नन्हें शावों को मैं गोद खिलाती,
आर्द्र अधखुली चितवन से वे मुझे देख कर
उगते सींगों के अँकुओं से तन सहलाते !
हिम शृंगों की वायु देह कम्पित करती यदि
ऊष्मा में तन-कूपों से मोती झर पड़ते !
वर्षा इन्द्रधनुष वेणी बांधती घनों की,
रँग-रँग के मुकुलों से मैं कच पाश सँजोती !
शरद चन्द्र को देख निर्निमिष कहता प्रिय ऋष्यु
जाने किसके मुख से किसका मुख है सुन्दर !"

"यह ऋष्यु कौन ?" "अनुज है मेरा प्यारा, तापस !—
इन्हीं कल्पनाओं से, भावों से निर्मित मन
मैं वन की चेतना वहन करती जीवन में !"

"सरला हो तुम तभी !—प्रकृति तूली से चित्रित !
आत्ममुक्त, अपने में स्थित, आनन्द रूपमयि,
तुममें मैं साकार पा रहा सभी भाव वे
आत्मान्वेषण में जो मुझे मिले ध्यानस्थित !"

"आप तपस्वी हैं, द्रष्टा हैं, सहृदय ऋषि भी,
आप कह रहे हैं जो वह निश्चय सच होगा!
मैं प्रणाम करती फिर श्रद्धा स्नेह प्रणत हो!—

"आश्वासन दो, तुम्हें देखने को मैं जब-तब
आ सकता हूँ!—भाव-साधना सफल बनाने!
यहीं मिलोगी मुझको तुम सायं या प्रातः!"

"यहीं निकट ही लता कुंज है पार्श्व भूमि में,
वहाँ किसलयों का मृदु तल्प बिछा कर प्रायः
मैं निर्जन में बैठा करती हूँ, अपने से,
वन की एकाकी आत्मा से बातें करने!...
आना, तापस, हाँ, तुम आना, मैं ऋभु को भी
ले आऊँगी,—वह भी पावन साहचर्य से
सीख सकेगा सहज, आप समझाते हैं जो!...
मेरे जननी जनक प्रतीक्षा करते होंगे,
आज्ञा दें अब," कह कर चुपके चली गयी वह
क्षिप्र हरिण गति से—फिर मुड़ कर कियत् दूर से
देखा उसने, बालोत्सुक स्मित मुग्ध दृष्टि से—
तापस को अनिमेष पुलिन पर पा चिन्तन रत
तुरत घूम वह फिर अदृश्य हो गयी दौड़ कर,
मा से कहने तापस से मिलने की घटना!

अपनी पर्णकुटी के एकाकी आँगन में
अस्थिर डग धर सोच रहा था सत्यकाम अब
कैसे उसके प्राणों की अनुभूति नयी यह
बन सकती सहचरी अभिन्न हृदय की उसके,
जिससे जीवन को शोभा की मधुर उपस्थिति
नया अर्थ दे सके—खोल आँखों के सम्मुख
आशा का नव अन्तरिक्ष स्वप्नों से रंजित!

भूल गया था वह अन्तर का भावोद्वेलन
प्राणों के मादक स्पर्शों से जागा था जो,
ज्वार उठा महदाकांक्षा का उसके भीतर!
अब उन स्वप्नों को नव भू जीवन-यथार्थ की
बाँहों में बँध, मूर्त रूप धारण करना था!—
जिसके लिए उसे सम्भवतः अभी और भी
अपने मन को उद्यत करना था—सीमाएँ
तोल साहसिक इच्छा के उत्कण्ठ कर्म की!

स्त्री का रूप अलौकिक हो सकता है इतना,
उसने इसकी कभी कल्पना भी क्या की थी?
प्रथम बार अब दिव्य दृष्टि पा प्राण ग्रह्म से
देख सका वह जीवन का सौन्दर्य अपरिमित!

भीतर ही देखता रहा वह निज सत्ता को
अब अपने से बाहर देख सका अपने को!
देश काल के परे देखता रहा सदा वह,
देश काल की सुन्दरता भी देख सका क्या?

भले हृदय हो वह खो चुका अजाने अपना,
वह उन्मन था, जाने विधि को क्या स्वीकृत है!
गुरुकुल में है उसे लौटना गायों के सँग···
ध्येय पूर्णतः सिद्ध हो गया है क्या उसकी
इष्ट साधना का?—वह शंकित पाता मन को?···

उसके अन्तरतम में जो उद्भावना नयी
मानव जीवन की गरिमा के प्रति जाग्रत थी
उसकी ऋचा अभिन्न अंग अब लगती उसको!
पर यह केवल अंश सत्य था, जिसका अनुभव
अभी नहीं हो पाता था अभिभूत हृदय को!

गहरी डुबकी नहीं लगा पाता उसका मन
जीवन के आनन्द सिन्धु में शोभा उच्छल,
संयम तप की क्रूर शृंखलाओं में जकड़ा!
जीवन का रथ संचालित हो ज्ञान-रश्मि से
या कि ज्ञान अभिप्रेरित हो भू जीवन गति से—
गूढ़ समस्या उसके अन्तर को मथती थी!

मन की इस संशय दंशित भावाकुल स्थिति में
खींच ले गया हृदय उसे उस पार अजाने—
उसने अपने को पाया चित् जल में तिरते,
पाया अपने को जीवन का पुलिन पकड़ते,
और दूसरे ही क्षण उसने देखी सम्मुख
दशन पंक्ति फैली कानों तक रश्मि रेख-सी,
अधर लालिमा अभिनव पल्लव क्षितिज-सी खिंची!

तीर पार कर भाव वस्तु के, या निज-पर के,
और अधिक वह खिंचता रहा ऋचा की छवि से,
उसकी मधुर उपस्थिति की आत्मिक पवित्रता
फिर-फिर उससे मिलने को आमन्त्रित करती!

निभृत कुंज में बैठ एकटक रहा देखता
सद्यः स्फुट उस पाटल शोभा कलिका को वह
रक्तिम गौर उषा की आभा से हो विरचित
उसका अकलुष गात्र—अछूता दृष्टि-स्पर्श से!
सत्यकाम ने उसके करतल को कर में ले
शोभा की कोमलता का नव परिचय पाया,
उपचेतन मन जिससे रस अंकुरित हो उठा!—
ऋभु न आ सका, सुहृदों सँग था खेलने गया!

उसने उस सौन्दर्य सृष्टि को बाँहों में भर
लगा लिया निज वक्षःस्थल से स्वप्न मुग्धवत् !
इसी प्रकार रहा वह भाव-विभोर देर तक
ब्रह्म सत्य की मौन मूर्त अनुभूति प्राप्त कर !—
उसकी काया में निज काया का अनुभव कर,
उसके मन में अपने मन का द्वार खोल कर !
जाग उठी वह स्वप्न वल्लरी-सी सुख पुलकित
क्षण विस्मृति की उस तन्मय नीरव समाधि से !

बोली, "तापस, ऐसे ही मैं ऋभु को अपनी
कभी गोद में ले अनन्यता अनुभव करती !
तुम स्नेही हो, सहृदय हो, सुन्दर सुशील हो,
तप की पावनता में आकृति ढली तुम्हारी—
उन्नत मस्तक, केन्द्रित दृष्टि, सुडौल नासिका,
बाहु प्रलम्ब, गात्र, सुगठित, संकल्प सिद्धि-सा—
स्नेह तुम्हारा पा कृतार्थ अब लगता जीवन !

"मुझको वीणा-सी ले निज तप पूत अंक में
तापस, छेड़ो तुम स्वर्गिक रागिनी प्रेम की,
द्यावा पृथ्वी बँध जाएँ आनन्द पाश में !"
सत्यकाम बोला लज्जित-सा अपनी स्तुति से,

"जो निश्छल सौन्दर्य प्रकृति के जग में मिलता,
सरल चेतना जो फूलों में, जल लहरों में,
गिरि-समीर या स्वच्छ चाँदनी में मिलती है,
सहज स्वभाव तुम्हारा, ऋचे, उसी से निर्मित,—
भू-मन की न विकृतियाँ उसको छू पायी हैं !

"अन्तरिक्ष के नील मौन-सी हो तुम निर्मल,
जो विशालता में निज तन्मय कर देता मन !
तुम्हें जानना नहीं, सहज अनुभव करना है,
शब्दों से न तनिक तुमको समझा जा सकता,
प्रथम रश्मि के मधुर स्पर्श-सी छा जाती तुम
अन्तर-नभ में—जिसने भू-रज नहीं छुई हो !"

बोली वह भावनावेश से पुलकित सहसा,
"छूओ मेरा करतल, निर्मल सरसी जल यह,
ये अंगुलियाँ चंचल लहरें, पकड़ो इनको !
ये फूलों के माखन के मोदक, बच्चों की
लघु गेंदें, मेघों के त्वच कोमल शावों-से
किसलय चोली से चिपके जो ! शुभ्र स्वर्ण के
गोलक ये, खेलो इनसे ! सम्पूर्ण तुम्हारी
हूँ मैं ! ये मृदु मुकुलित बाँहें, इन्हें गले का
हार बनाओ,—भावों के दर्पण कपोल ये,
इन पर अपना श्मश्रुल आनन रख कर देखो !

प्यार करो मुझको, मेरे मस्तक पर अपने
अधर चाँप कर पावन कर दो मेरा तन मन !

"मा कहती, स्त्री की मर्यादा की वेदी है
अधोभाग में, वहाँ प्रवेश निषिद्ध सभी का !
तापस, तुम सर्वत्र विचरने को स्वतन्त्र हो,
उस वेदी पर यज्ञ करो, हवि दो देवों को !"

"धन्यवाद ! यह भले निषेध-मुक्त होना हो,
मुझे नहीं करना प्रवेश उस वर्जित स्थल में !
कौन करेगा ऐसे निभृत निगूढ़ प्रान्त में
अनधिकार घुसने का साहस ?—स्वर्ग द्वार वह !
मा का मन्दिर ! उसकी अक्षय पावनता की
रक्षा करना प्रथम धर्म है मानवता का !
प्राण शक्ति समदिक् व्यापी हो, नहीं अधोमुख,
ऊर्ध्व अधः में हमें सन्तुलन भर कर उसको
समदिक् रस स्तर पर संचालित करना होगा
भू जीवन को श्री संस्कृत शोभा से भरने !
ब्रह्मचर्य प्राणों का वैभव कोष अनामय,
प्राणों की सम्पद् ही है निश्चय जीवन-निधि
इससे ही भावों के हीरक माणिक बनते,
निखिल विचारों के उदात्त सूरज शशि उगते,
ब्रह्मचर्य सन्तुलित भोग है भू जीवन का !"

"तापस, आज तुम्हें पाकर मैं निकट हृदय के
गाँठ मर्म की खोल रही संकोच छोड़ कर,
सखियों सहेलियों से जैसा सुनती आयी—
कैसे पड़ती पावक वेदी में चरु आहुति ?"

"सरले, तापस एक यज्ञ ही से परिचित है,
ब्रह्म ज्ञान का यज्ञ ! ले चुका वह जिसका व्रत !"

"तुमसे यह सुन मुझे असीम शान्ति मिलती है !
मेरी उर तन्त्री में भी यह राग बजाओ,
साम छन्द स्वर छेड़ो इसमें, वेद मन्त्र ध्वनि !
भाव पाश में भर लो मुझको, लता कुंज यह
लिपटाए जैसे कोमल तनु व्रतति प्रतति को !

"थिरक कभी उठते पग, लतिका को समीर में
देख नाचते,—तुम भी मधु ऋतु का समीर हो !
लो, मैं केशों में ढँक लेती हूँ अपना मुख,
तुम काले मेघों में खोजो अपने शशि को !
तुम्हें भोज देती मैं स्पर्श मधुर अंगों का
यती, मना लो नयनोत्सव तुम स्त्री-शोभा का !"

सत्यकाम उन्मुक्त प्रकृति की सरल ऋचा का
भाव स्पर्श पा, मन्त्र मुग्ध, अभिभूत हो उठा !
अपने मन को शान्त संयमित कर वह बोला,
"जितना मैंने सोचा, उससे कहीं अधिक ही
मुझे मिला तुमसे ! अब देवि, विदा दो मुझको !
आत्मसात् कर सकूँ तुम्हारी हृदय मधुरिमा
फिर आऊँगा मैं खिंच स्निग्ध प्रीति सौरभ से !"

कूद सरोवर में, शीतल कर चित्त वृत्ति को,
पहुँचा वह निज कुटी द्वार पर ! सान्ध्य गगन में
वह विराग ज्वाला थी या अनुराग लालिमा,
समझ नहीं पाया वह मन के सन्धि-भाव को !
ध्यान लीन हो भीतर, उसने कसना चाहा
शुद्ध रूप का स्वर्ण अरूप समाधि-निकष में !

गया शीघ्र ही पुनः ऋचा से मिलने जब वह
वन कुसुमों से वह शृंगार किये थी अपना,—
स्वागत उसने किया तपस्वी का मृदु स्मिति से
पास बैठ कर देखा प्रश्न भरी चितवन से !

"और बताओ अपने बारे में," वह बोला,
"नख से शिख तक बाहर भीतर तुम्हें जान लूँ !"

"मैं क्या बतलाऊँ ? कुछ भी तो नहीं जानती,
वन के एकाकीपन में मन के स्वप्नों का
नीड़ बनाती मैं, जिसमें गोपन उर इच्छा
जब चाहे तब वास कर सके—पंख खोल या
मुक्त उड़ सके पन्थ हीन नीले नभ में [illegible] !

"मुख पर छायांचल डाले मैं लेटी [illegible]
कुंजों में, निष्ठुर ग्रीष्मातप से बचने [illegible] !
हिम ऋतु सबसे प्रिय मुझको पर्वत [illegible],
जब रोमिल शोभा बिछ-सी जाती [illegible]
लोट पोट करती मैं शीतल [illegible] !

"अपने ही से बातें करती मैं [illegible],
विहग नहीं डरते मुझसे—वे [illegible]
मेरी आत्म कथा सुन, [illegible] !
पतझर में जब पीले [illegible]
मुझको लगता, मेरी [illegible]
मौन निमन्त्रण [illegible] में !
कभी भँवर पड़ता [illegible]
गुह्य क्रान्ति [illegible] में !

"वन के [illegible]
संचालित [illegible] का स्पन्दन !

मुझसे कुछ कहते-से शुभ्र अवाक् हिम शिखर
जिसे बुद्धि से ग्रहण न कर, मैं अनुभव करती,
रोमांचित तद्गत हो तत्क्षण !" "भाव प्रवण है
हृदय तुम्हारा, खुला सूक्ष्म उन्मेषों के प्रति !"

"तुहिनों का स्रक्, खद्योतों का रुक्म, मेखला
नव किसलय की बाँधे, वन देवी जब अपना
रचती प्रिय शृंगार—गन्ध मुकुलों के गहने
पहने मैं, उसका नत अभिवादन करती हूँ !
गन्धर्वों की गन्ध फैलती ऋतु कानन में,
भाव द्रवित उनके कण्ठों के मधुर स्वरों में
मैं अपने मन को नहलाती, डूब हर्ष में !

"वन श्री ने ही मुझे प्यार करना सिखलाया
चराचरों को ! भाव वस्तु एक ही—सभी को
प्यार चाहिए—कमल सूर्य के, सिन्धु चन्द्र के
प्रति आकर्षित ! हृदय प्रेम में हो यदि तन्मय
सभी तुम्हारे हैं ! तुम जो चाहो वह कर लो !
इस सूखी टहनी में प्यार उड़ेल हृदय का
इसे हरी कर फूल खिला सकते तुम इसमें !
घायल मृग को छूकर उसे स्वस्थ कर सकते,
तुम अन्धों को दृष्टि, श्रवण देकर बहरों को
रुद्ध चेतना द्वार खोल सकते हो उनके !"

"यही योग वास्तव में ! सिद्धि यही सर्वोत्तम !
मैं साँसों के ताने बाने सुलझा केवल
कृत्रिम चित् पट बुनता आया ब्रह्म ज्ञान का !
ब्रह्म, तुम्हें जिसका अनुभव धरती पर होता !—

"इस ऊँचाई के समीर में साँस ले सकूँ
जिस असीम ऊँचाई में तुम रहती प्रतिक्षण !
स्वच्छ तुम्हारी सुरभि भर सकूँ उर साँसों में
जिससे अन्तर के सब कलुषित भाव धुल सकें !"

"डूबो फिर,—इस रूप-तरी की गहराई में
तुमको वह पावनता क्यों दीखती नहीं, जो
ऊँचाई में तुम्हें दीखती ? यह भी निर्मल
ब्रह्मानन्द सरोवर—चंचल, मुक्त, तरंगित !
गहराई क्या ऊँचाई से कम पवित्र है ?
जाने कैसी गहन एकता का अनुभव हो !
निश्चेतन क्या नहीं मूक निद्रा चेतन की ?"

सत्यकाम ने जैसे नहीं सुना हो ! बोला—
"ऐसा हृदय न जन्म ले सका मेरे भीतर
जैसा तुमको मिला बिना जप तप साधन के !

ईश्वर कृपा कहो इसको या पूर्व जन्म के
ये संस्कार तुम्हारे हों! तुम सिखला सकती
स्वयं सरलता को भी सरल हृदय से रहना,—
ब्रह्म सत्य की रूप ऋचा हो तुम रज तन में!"

कालजयी हो तापस तुम, मैं हार मानती,—
ऋचा सोचती मन-ही-मन, आश्वस्त यती से!
"मैं शब्दों को नहीं समझती,—शुष्क बुद्धि की
जटिल उपज जो,—मैं भावों की वन कन्या हूँ!"

"तुम भावों की रस प्रतिमा हो चिदानन्दमयि!"

"मेरी आँखों में देखो वन की सुन्दरता,
मेरी अनिमिष दृष्टि—नील खो जाता इसमें!
तारे क्यों अनिमेष? मुझे वे देखा करते,
वे नीरव लोरी गाते जब मैं सोती हूँ!
मेरे गालों की सरसी में हँसते सरसिज,
उषा इसी से मुझे देखकर नित्य लजाती!

"मैं जब अपने बारे में सोचा करती हूँ
लगता, तब मैं नहीं, ब्रह्म की कला सृष्टि यह!
वन के इस एकान्त शान्त परिवेश प्रान्त में
लीन हो गयी मेरी सत्ता, निखिल अस्मिता,—
मैं अब केवल फूल, सुरभि, मधुकर, वन पिक हूँ,
ऋतुओं का परिवर्तन हूँ, भंगिमा गगन की!"

"परम योग की पूर्ण सिद्धि हो तुम, असंग मन,
तुम भू-नारी, निखिल सृष्टि शोभा की प्रतिनिधि!
तुम महान् शिल्पी की अनुपम कृति हो, सुभगे,
पूर्ण रूप से जिसे समझना सदा न सम्भव!"

"मैं तन से स्त्री, तन से ही तुम पुरुष कहाते,—
क्या न एक ही भीतर से हम दोनों,—बोलो?
तापस, यह एकता प्रतिष्ठित कर जीवन में
आओ, संस्कृति का नव स्वर्ग बसायें भू पर!
मुझको भी तापसी बना लो तुम अपने सँग
अपने तप के पावक से छू मेरा तन मन,—
रोम-रोम मेरा गर्भित हो रस प्रहर्ष से
मेरी सत्ता वेष्टित कर लो चित् प्रकाश में!—
जैसा इतने दिन से तुमसे सुनती आयी!
(सत्यकाम ही बोल रहा था उसके मुख से!)

"अम्बर से ज्यों ऊषा की सित रश्मि फूटतीं
मेरे मन से झरें चेतना किरणें स्वर्णिम
दुग्ध धार-सी तन से निखरे शुभ्र भावना
ऋचा नाम सार्थक कर दो मेरा, मेरे ऋषि!
ऋचा, रूप की ऋचा, प्रीति की ऋचा, ज्योति की···"

झर-झर उसके नयनों से निर्मल प्रकाश कण
तापस को नहलाने लगे पवित्र अश्रु से,
लिपट गयी वह उससे तन्मय योग सिद्धि-सी—
तन को आत्मा, आत्मा को तन का स्वरूप दे !

तापस अपलक देखता रहा, देखता रहा
उस प्रकाश प्रतिमा को शोभा रस में डूबी,
"यही सोचता, यही चाहता था मैं तब से…
भावों की संसिद्धि मुझे साकार मिल गयी !"…
सोच रहा था उसका मन जाग्रत् समाधि में !
उपनिषदों के मन्त्र ऋचा के श्रवणों में पड़
मूर्त हो उठे उसके तन मन में, प्राणों में,—
आत्मा बन उसमें सदेह—ज्यों सत्यकाम को
ब्रह्म सत्य की अभिव्यक्ति का मिला निदर्शन !

सागर के प्लावन में तिरती चन्द्र किरण ज्यों
प्राणों का प्लावन तापस का दीप्त हो उठा
अग्नि-ऋचा की श्री सुषमा की ज्वाल रश्मि से !
सूक्ष्म भाव ग्राही था हृदय ऋचा का निश्चय
सत्यकाम की सिद्धि उतर उसके अन्तर में
देह मूर्त हो उठी ! स्वयं को पाकर उसमें
आप्त काम हो उठा तपस्वी, अन्तर्द्रष्टा !

निःसंशय, तापस का उर अगाध प्रेमी था,
जो अपना सर्वस्व समर्पण उसे कर सका—
यह महान् संयोग, या कि यह विश्व प्रकृति का
था अविराम प्रयत्न—जगत् जीवन विकास क्रम !

देख रही थी छिपकर तरु गुल्मों के पीछे
अपनी युवती कन्या को मा एक यती की
बाँहों में बँध, आत्म समर्पण को उद्यत-सी !
आँखों पर विश्वास हो सका उसे न पहिले,
कन्या के निर्लज्ज भाव से क्षुब्ध हृदय हो
लौट पड़ी वह तुरत कुटी को क्षिप्र चरण धर !

स्वामी को उसने बतलाया आँखों देखा,
कन्या को कोसा, समझाया अपने पति को,
उसे ब्याह शीघ्र ही किसी नृप के सेवक से
दूर भेज दें घर से,—जिससे फिर न मिल सके
वह तापस से गोपन छल बल कर,—हम ऋषि के
तपोभंग होने के लांछन से बच जायें—
कहीं न शाप हमें दे दे वह, आत्म बोध जब
अपनी गर्हित स्थिति पर उसके मन में उपजे !
सरल हृदय पटकर पर बुद्धिमती पत्नी की
बातों का गम्भीर प्रभाव पड़ा तुरन्त ही !

इतने ही में ऋभु ने आकर कहा बहिन से
तुम्हें पिताजी बुला रहे हैं! शीघ्र करो अब!
सत्यकाम का ऋषि व्यक्तित्व सुहाया उसको,
उसे नमन कर, लिवा ले गया वह बहिनी को!
"जाती हूँ मैं तापस, देखूँ, क्या कहते हैं
पितृ चरण,—कल इसी समय मिलने आऊँगी!"

"क्या करते हैं पिता?" "वस्त्र बुनकर मेषों के
रोमों के वे, उन्हें भेंट करते भूपों को!"
गयी ऋचा, चंचल मृग शावक अपने मन को
अंक से लगा, फिर फिर मुड़कर देख, मन्द गति!

सत्यकाम जब गया पुनः उस प्रीति कुंज में
सुधामयी बातें सुनने हृन्मूर्ति ऋचा की
वहाँ न थी वह! सूना था वह प्रिय मिलन स्थल!
सत्यकाम कुछ काल प्रतीक्षा में सा बैठा
लगा सोचने, सम्भव अब वह नहीं आ सके!
उसे बुलाने का आशय हो यही पिता का!

एक दीर्घ निःश्वास हृदय से निकला उसके
जिसके संग ही जीवन के प्रति उसके उर की
भव्य कल्पना बिखर-सी गयी मनोभूमि पर!
स्वप्नों का सुख सौध ढह गया हो यथार्थ के
क्रूर घात से! भग्न निराशा में उसका मन
ऊब-डूब-सा करने लगा भावना-मन्थित!...
मैं क्या उसके भद्र पिता से मिलने जाऊँ?...
यह सम्भव होगा मुझसे?...देखूँ कुछ रुककर!

इसी समय ऋभु ने आ, सविनय नमस्कार कर,
आर्द्र स्वरों में दिया उसे सन्देश ऋचा का—
स्मृति पट पर अंकित उसके शब्दों को दुहरा:
"तापस, तुमको मैं अपने सम्पूर्ण हृदय का
प्यार भेजती हूँ अखण्ड! मैं सदा तुम्हारी,
सदा तुम्हारी बनी रहूँगी—मर्म प्रीति की छाया-सी
प्राणों से लिपटी, रस तन्मय रख हृदय तुम्हारा!
मुझे भूलना मत, विश्वास बनाये रखना!

"मैं स्थापित पति के गृह जाती, जो पति मुझको
मिले पिता से, मेरे मन ने चुना न जिनको!
यही नियति थी यदि मेरी, तो मुझे व्यर्थ ही
विधि ने प्रथम मिलाया तुमसे! मेरे उर के
छिपे सत्य को मूर्त रूप में दिखा तुम्हारे
रस उदात्त व्यक्तित्व मुकुर में निश्छल बिम्बित!

"मुक्त भावना पथ से अब तक रही समझती
मैं जीवन को, सहज चेतना-इंगित प्रेरित,

शीत ताप के स्पर्शों से भी रही अपरिचित
भाव-बोध की तन्मयता में डूबी निश्छल !
संकट स्थिति ने सोयी बुद्धि जगा कर मेरी
मुझे बाध्य कर दिया सोचने को जीवन पर !
लगता, भू पथ सरल नहीं, कण्टकित जटिल है !
पर आशा आस्था का उत्स हृदय में जो अब
तुमसे मिलकर उदय हो चुका, वह न कभी भी
सूख सकेगा मेरे भीतर, सच मानें यह,
तुमसे पुनः मिलूँगी, कब, यह नहीं जानती !
हृदय समर्पित कर देने के बाद मुझे अब
छीन नहीं सकते ब्रह्मा भी तुमसे, प्रिय ऋषि !"

"अश्रु-द्रवित वाणी में बहिनी ने कहलाया
श्रद्धा से तुमको प्रणाम कर, पद रज लेकर,
तुमको स्मरण दिलाऊँ मैं उसकी कुछ दिन की
मुक्त भाव लीला—जो उसके मानस पट पर
जीवित सदा रहेगी, रस की तूलि से लिखी !
तुम्हें मिलेगी वह निश्चय—उसने कहलाया—
असन्दिग्ध यह सत्य धरा जीवन विकास का—
उसके अन्तर्मन में ज्योति किरण से अंकित !"

चला गया ऋभु, स्वर्ण रुक्म स्रक् पहना ऋषि को,
जो कि ऋचा ने भेंट स्वरूप उसे भेजा था !
किंकर्तव्य विमूढ़ बैठ-सा गया वहीं पर
सत्यकाम, अन्तर की मूक व्यथा से मन्थित !
स्थिर, एकाग्र किया अपने को, केन्द्रित कर मन
ध्यान भूमि पर उसने, शनैः विजय पा साम्प्रत
युग जीवन की बाह्य परिस्थिति के घातों पर,—
लोक धर्म की रूढ़ि रीतियों का फल निर्मम !

अन्तर्जग का सत्य न उतना रहा सर्वक्षम
बाह्य जगत् के अन्धकार ने निज छलबल की
चिन्ता रेखा अंकित कर दी उसके उर में !
अन्तर्जग के सदृश बहिर्जग में भी सब कुछ
जाना जा सकता है नहीं—विकास प्रक्रिया
नित्य उत्तरोत्तर बढ़ती लहरी अमेय है !

देखा उसने, अन्तरिक्ष में उदय हुआ अब
चाँद पूर्णिमा का, निज शीतल शान्त ज्योति में
डुबा हृदय का कल्मष—जीवन-द्रष्टा ऋषि-सा !
सोचा उसने, एक पाख अब पूर्ण हो चुका
प्रथम बार जब परिचय हुआ ऋचा से उसका,
अब उसकी स्मृति का शशि उदित हृदय के नभ में
अन्धकार में उसे दिखायेगा प्रकाश-पथ !

तिर दोनों कूलों की दूरी, वह फिर अपने
कुटज अजिर में पहुँच गया, हत, श्रान्त, क्लान्त मन,
दुर्गम दुःसह एकाकीपन से दंशित-सा !
कहाँ गया वह प्राणों का सौन्दर्य लोक अब
जो जब तक अस्पृश्य रहा, था सत्य तभी तक,
रूप मांस की जीवन शोभा में बँध क्षण भर
वह अदृश्य हो गया—अतल गहरे विषाद में
डुबा चित्त को ! यह निगूढ़ कटु परिणति कैसी
प्राण शक्ति की! ···जो जड़ चेतन सृष्टि विधायक!

कौन उठायेगा अब मेरे मुग्ध हृदय को
शुभ्र प्रेम के अन्तरिक्ष की ऊँचाई तक ?
तुममें कर साक्षात्कार उस महत् सत्य का
भू जीवन में वितरित करता रस प्रकाश मैं !

जैसे आस्था खो बैठा हो कोई सहसा
ईश्वर पर, अग जग पर, भू जीवन यथार्थ पर,
दुरवगाह्य घन अन्धकार के अतल सिन्धु-सा
मन के भीतर उसे दीखता गर्त भयानक
जिसमें नहीं तरंग शक्ति की, आत्म ज्ञान की,
सुख-दुख या आशाऽकांक्षा ही की उठती थी !

पतझर···पतझर···उसे चिरन्तन सत्य-सा लगा,···
कहाँ गये स्वप्नों के पल्लव, दिङ् मण्डल की
मांसल ज्वालाओं की शोभा···अब न कल्पना
सेतु बांध पाती पतझर-मधुऋतु के निर्धन
अन्तराल में—उनको ऋण धन रूप मानकर
एक सत्य का, ह्रास विकास चरण धरकर जो
विघटित विकसित होता जग के शोभा मग में !

स्मरण उसे आती थी फिर-फिर सरल प्रिय ऋचा
गहन निराशा मेघों में स्मित विद्युत् असि-सी,
चीर रही हो जो उर के भय संशय तम को !
मूक वेदना पथ से गहरे पैठ हृदय में
जो उसको तन्मय रखती अपने में प्रतिक्षण !

मुक्त नील में तिरती हो उसकी ही आत्मा,
सरसी जल में मिलती उसकी भीड़ा प्रियता,
वायु ऋचा की बाहों में करती हो वेष्टित,
उषा लजाते भी उसको कैशोर्य हर्ष से
भाव-मुग्ध कर देती—अपनी अनुपस्थिति में
वर्तमान वह रहती समधिक—ज्यों अदृश्य हो
व्याप्त हो गयी हो बहिरन्तर जग में उसके ?

उसकी शोभा अधिकाधिक प्रस्फुटित प्रतिक्षण
निखिल प्रकृति के प्रतिमानों से उसकी प्रतिमा

गढ़ने का असफल प्रयत्न कर उसके मन में—
उसकी आन्तर समग्रता से वंचित रहती!
उसे स्मरण आया, सम्भवतः अग्निदेव हो
प्रकट, उसे इस व्यथा ताप से मुक्त कर सकें!
प्राणों के पावक में मिल उनका अधिपावक
अनुपस्थिति में पूर्ण उपस्थित करे ऋचा को
व्याप्त उसे कर विश्व सत्य में—स्पृश्य दृश्य भी!

रूप ग्रहण कर सके चेतना उसकी छवि में
मोह छोड़ अपनी अरूपता का एकाकी!
सम्भवतः साधना मुझे करनी हो इसकी!
गोधन को आगे कर वह चल पड़ा बढ़ा पग
गौतम के आश्रम की ओर—अनिश्चित मन से!

ब्रह्माग्नि

सौम्य धेनुओं के सँग जाते सत्यकाम ने
देखा, दिन ढल गया स्तब्ध तरु वन के पीछे,
घायल सन्ध्या रक्त सिक्त-सी अन्तरिक्ष में
लेटी है निःस्पन्द हृदय पादप शिखरों पर!
उड़ गोपथ की धूलि छा रही नभ के मुख पर,
पंख कटा हो गृद्ध, वायु उड़ने को आतुर
गिरि खोहों में लुढ़क, खोजता वास विवश हो!
रोदन-सा करते शृगाल मुँह फेर गगन को,
गुह्य शब्द कर घूक निमन्त्रण देते निशि को!

कहाँ खो गया था उल्लास हृदय का जाने,
ताम्र वर्ण का विश्व, डूबता मन विषाद में,
मूक नीलिमा ढला गगन का रिक्त पात्र हो
महाशून्य के कन्धों पर अटका अनादि से!

ताप हृदय में अनुभव करता विरही तापस,
ताप, भयंकर ताप भस्म करता हो उर की
तृष्णा को, सौन्दर्य पिपासा, आकांक्षा को!
दावा से ज्यों नयी घास उग आती वन में
वैसे ही इस हृदय ताप से सम्भव फूटें
नयी चेतना, नयी कल्पनाओं के अंकुर,—
यही साध सान्त्वना हृदय को देती उसके!

श्रान्त क्लान्त, उद्विग्न चित्त उसने गायों को
रोक-थाम कर, छोड़ दिया वन में चरने को,
मौन जुगाली करतीं वे बैठीं छाया में,
सिहर त्वचा उठती वन माखी के दंशों से!
सत्यकाम के अन्तर्मन में चलता मन्थन,

शुष्क समिध चुन उसने वन से, बना वेदिका,
अग्नि प्रज्वलित की—निज अन्तर्ज्वाला से हो!
पूर्व ओर अभिमुख हो, अग्निकुण्ड के पीछे
बैठ गया वह, स्तवन हव्य दे अग्नि शिखा को! —

"नमन अग्नि, तुम जातवेद हो, वीतिहोत्र हो,
वैश्वानर तुम, विश्व योनि में व्याप्त बीज-सी,
गौतम, भार्गव, भरद्वाज, औ' अत्रि आदि ऋषि
गान तुम्हारा करते कण्व, वशिष्ठ, अंगिरस!
आत्म तेज तुम, भस्म करो सब कल्मष, कर्दम,
अपनी ज्वालाओं की जिह्वाएँ लपकाकर!
दैत्य वृत्तियाँ दग्ध निखिल हों भू जीवन की,
निगल वनों को जाते तुम अपने मुँह में भर!

"आहुति देते हम तन मन प्राणों की तुमको
ज्योति शिखाएँ हमें स्वर्ग का मार्ग दिखाएँ!
प्रखर तुम्हारे दंष्ट्र, प्रभा के शिखर अनामय
जो कलुषों को चबा दीप्त करते भू-अन्तर!
तुम सर्वज्ञ, तमस में हमको ज्योति दिखाओ,
मृत्यु द्वार से ले जाओ अमरत्व धाम को!
खोलो मन के नमन श्रवण छू सत्प्रकाश से,
तप्त स्वर्ण-से शुभ्र वर्ण पर न्योछावर जग!

"दिव्य दूत तुम वह्नि, स्वर्ग तक हवि ले जाओ,
ज्योतिर्मय देवों का हृदय द्रवित हो जिससे!
वे प्रसन्न आनन्दित हो वरदान हमें दें,
विजय शत्रुओं पर पावें हम उनके बल से!
अग्नि, तुम्हारा ही हम आराधन करते नित,
नहीं अन्य देवों का, तुम द्रष्टा, स्रष्टा हो!
ब्रह्म ज्ञान के गुह्य प्रकाशक, विश्व रूप तुम,
मरुतों के रथ से भू पर उतरो, हिरण्मय!
भय संशय मेघों पर टूट तड़ित-से सत्वर
तुम उन्मेषों का प्रकाश बरसाते अक्षय!
दिव्य प्रेरणाओं की आभा से भूषित कर
नयी उषाएँ लाते किरणों के पंखों पर!

"आओ हे, भू मानस की वेदी पर उतरो,
परम बोध से नव आलोकित करो दिशाएँ!
सूर्य चन्द्र तारे नभ में तुमसे ही दीपित
व्याप्त तुम्हीं दिव अन्तरिक्ष भू में, भूतों में!

"सत्कर्मों की आहुति दें हम सत्य-घृत सनी,
अन्न द्रव्य सम्पन्न बनाओ सब भुवनों को!
महिमा गाते सदा गूढ़ उद्गीथ, साम, ऋक्,
इन्द्र वरुण मरुतों में तुम देवाधिदेव हो!

आवाहन करते हम, 'अपने दिव्य तेज से
बोध शिखाओं का वर सेतु रचो दिव-भू पर !"

अग्निदेव स्तुति से प्रसन्न हो, प्रकट हुए द्रुत,
दिव्य भाल सित स्वर्ण वर्ण केशों से शोभित !
रजत कान्ति के श्मश्रु, दीप्त विस्फारित लोचन,
ऊर्ध्व बाहु शत, अमित उदर, दिग् गामी बहुपद,—
सत्यकाम ने उन्हें प्रणाम किया नत मस्तक !
अटल अभीप्सा से आश्वस्त हुए वे मन में !
सम्बोधित जब किया उन्होंने सत्यकाम को,
'भगवन् !' कहकर, उसने उत्तर दिया ससम्भ्रम !

अग्निदेव बोले, "मैं तुमको, वत्स, ब्रह्म के
एक पाद की दीक्षा दूंगा ! समित्पाणि मैं !
पृथवी कला, द्युलोक कला है, अन्तरिक्ष भी,
सिन्धु कला है ! —यही चतुष्कल पाद ब्रह्म का !—
जिसका नाम अनन्तवान् है ! जो उपासना
करता सत् के इस स्वरूप की—वह अनन्त बन
विजयी होता सदा अनन्तवान् लोकों पर !
हंस तुम्हें दीक्षा देगा प्रत्यग्र पाद की !"

सत्यकाम बोला सविनय, "कृतकृत्य हुआ मैं !
निश्चय ही विज्ञान कभी साधना करेगा
सिन्धु, धरा की, अन्तरिक्ष की—तब द्युलोक भी
शनैः अवतरित होगा नव अनुसन्धानों से !"
अग्निदेव अभिषेकित, अभिमन्त्रित कर उसको
अन्तर्धान हुए फिर से द्रुत यज्ञ कुण्ड में !

दाह, निरन्तर दाह, भयंकर दाह तपाता
सत्यकाम की सत्ता को अब बाहर भीतर,—
अग्निदेव कर गये प्रवेश हृदय में हों ज्यों,
देह प्राण मन को मख की वेदिका बनाकर !
कितनी अनजानी तृष्णाएँ, आकांक्षाएँ
निश्चेतन के दुरवगाह्य अर्णव से उठकर
आहत करतीं अन्तर को खर व्यथा दंश से !—
भूल गया वह योग सिद्धि का अहंकार सब,
देखा उसने उपचेतन निश्चेतन जग में
रुद्ध वासनाओं का वारिधि क्षुब्ध विलोड़ित
शतफन सर्पिल ज्वारों में फुंकार मारता,
डुबा सुदृढ़ संकल्प शक्ति का तट प्लावन में !

अग्नि पन्थ था, अग्नि पर्व अब उसके सम्मुख,
जो कि वियोगानल से तप्त हृदय को उसके
दीप्त अभीप्साओं के अग्नि शिखा शिखरों के
अधिक प्रबल पावक के लोकों में ले जाकर

भस्मसात् कर सके देह मन की, प्राणों की
गुह्य विकृतियों, आशाऽकांक्षाओं को तृणवत् !
शुद्ध बुद्ध आत्मा के रस आलोक अमृत में
अवगाहन कर सके चेतना अकलुष बनकर,
जीव योनियों के संस्कारों की केंचुलियाँ
झाड़ फेंककर, कर्म बन्धनों से विमुक्त हो !

कहते हैं, शाश्वत के मुख के शुभ्र हर्ष का
एक बार भी रोमांचित सित स्पर्श प्राप्त कर
मन, जीवन के सुख दुख दंशों से सदैव को
शोक मुक्त हो, विचरण करने लगता उज्ज्वल
दिव सम्पद् आकाशों में सुरधनु मणि मण्डित !
कालातीत वहाँ के अविजित उच्छ्रायों में
युग संवत्सर मास पक्ष दिन के गति क्रम के
क्षण भंगुर पद-चिह्न नहीं पड़ते मिटने को !

काल वक्ष पर सोयी दिशा क्षितिज से विरहित
दृष्टि अगोचर रहती—अपने ही में खोयी !
वहाँ सृजन सौन्दर्य सूक्ष्म छायांकित रहता
श्वास शून्य-सा, स्तब्ध, परात्पर के दर्पण में !
मन विचार से रहित, कर्म निष्क्रिय स्थित, वाणी
शब्द अर्थ से शून्य,—मूक गूंगे के गुड़ सी !

ऐसे अत्यानन्द लोक में, बिन्दु-सिन्धुवत्,
लीन ब्रह्म में होना ही पुरुषार्थ कहाता !
सृष्टि स्रोत के तिर विरुद्ध ज्ञानी लय होता,
सृष्टि स्रोत के ही अनुकूल सजग वह कर्मी
विश्व सिन्धु तिरता निःसीम अकूल सत्य का !

कैसी उत्कट सूक्ष्म वासना, मूक क्रोध था
उसके भीतर छिपा अचेतन अतल गर्त में !
अग्नि परीक्षा लेनी हो सम्भवतः विधि को,
उभर चेतना में वे अब कढ़ आये बाहर !
अन्तिम लोहा लेना है क्या धरा प्रकृति से
मूंद मदिर इन्द्रिय विषयों के प्रति मन के दृग ?

जीवन ईश्वर को भू पर लाने से पहिले
निर्विकार निःसंग बनाना है अन्तर को !
बाह्य जगत् भूधराकार जो खड़ा सामने—
आदिम युग की रूढ़ि रीतियों में जड़ कुण्ठित—
उसे बदलने से पहिले पुरुषार्थी नर को
अन्तः स्थित, आत्मा पर निर्भर रहना होगा—
बाह्य परिस्थितियाँ व्याघात न करने पायें !

यज्ञ किसे कहते हैं, मन अब लगा समझने,
आत्मा जिसका ऋत्विज्, मन जिसका चिर होता,

माया ममता राग द्वेष की ग्राहुति देकर
सतत प्रज्वलित रखना है ग्रान्तर वेदी को,—
भस्म ग्रस्मिता को कर, ग्रात्मा के प्रकाश से
ज्योतित करना जीव-प्रकृति ग्रस्तित्व को ग्रखिल !
मन्दिर उर बन सके ब्रह्म का जिससे पावन,
देव वृत्तियों के विकास के योग्य क्षेत्र बन
सृजन शक्तियों का वह क्रीड़ा-मंच बन सके !

यही ग्रग्नि दीक्षा का सम्भव रहा प्रयोजन
तप्त स्वर्ण-सा निखर उठे मन जला विकृतियाँ !
ग्रनासक्त बन, भोग कर सके वस्तु-ब्रह्म का,
स्वाद बदल जाये समस्त इन्द्रिय-विषयों का !

नयी ग्रभीप्सा उदय हुई थी उसके भीतर,
दिव्य वृषभ स्पर्शों से जो सौन्दर्याकांक्षा
जगी हृदय में थी उसके,—वह भू-जीवन में
उसे प्रतिष्ठित करने की साधना करेगा,
ग्रपने सुख दुख भुला, त्याग झूठे ममत्व को,
विश्व प्रेम की ग्राहुति दे चैतन्य ग्रग्नि में !

समझ रहा था वह विधान को विश्व प्रकृति के
मनुज वृत्तियों को जो विकसित, रस संस्कृत कर,
सूक्ष्म मनोभावों, रूपों में, सौन्दर्यों में
ब्रह्म सत्य की ग्रभिव्यक्ति करने का क्रमशः
यत्न कर रही थी समग्र जीवन के स्तर पर !

ग्रन्तर्दृष्टि ग्रनल में, जो वरदान ग्रग्नि का,
क्षुद्र वृत्तियाँ उसे दग्ध करनी थीं ग्रविरत !
ग्रादिम भू-मानस के ग्रभ्यासों से, जिनसे
उपचेतन निश्चेतन स्तर जन मन के निर्मित,
शनैः मुक्त करना था जन-भू के जीवन को—
यही योग साधना उसे ग्रब सार्थक लगती !

भू-जीवन उठ-गिर ग्रहरह ग्रान्दोलित रहता,
दीप स्तम्भवत् मनुज कर सके पथ-निर्देशन,—
उसे ग्रात्म संस्कार निरन्तर करना होगा
वह पुकार सुन सके प्रकृति के क्रम विकास की !

द्विधा मनः स्थिति थी ग्रब उसकी—एक ग्रोर वह
उच्च ग्रभीप्सा के पावक से प्रेरित होकर
दग्ध कामनाग्रों को करने को तत्पर था,
जो उसकी ग्रात्मा को बन्दी किए हुए थीं !—
निर्विकल्प स्थिति में रह, वह ग्रपनी सत्ता को
पूर्ण समर्पित कर, लय होने को उत्सुक था !

और दूसरी ओर वियोग ऋचा का मन में
सृजन-वेदना बन उसको आकुल करता था
नया भाव सौन्दर्य जगत् निर्मित करने को !
विरह व्यथा ही आत्म विलय की इच्छा की भी
कारण थी अन्ततः, भग्न आशा से प्रेरित !

सूक्ष्म उपस्थिति सरल ऋचा की समा गयी थी
उसकी आत्मा में—अभिन्न चेतना-अंग बन !
प्राण विकल रहते उसके सान्निध्य के लिए !
ध्यानावस्थित मन की स्थिति से परे कहीं से
जग उठती वह मुग्ध अविस्मरणीय गूढ़ स्मृति,
जो करती उपहास साधना तप का उसके—
जो उसको निःसंग बनाता जीवन पथ से !

वर्तमान की सीमाओं को अतिक्रम कर वह
उसे दिखाती मार्ग मुक्त मानव जीवन का,
औ' उड़ेलती उसके अन्तर में असंख्य घट
स्वप्न पंख थी सुन्दरता के, रस प्रहर्ष के !
ऊब डूब करता उसका मन नव आस्था के
रस-समुद्र में—प्लावित हो उठता विराग-तट !

नया प्रयोजन स्फुरित हृदय में होता तत्क्षण
महा प्रकृति के अमर सृष्टि शोभा विधान का !
तृण तृण में, मर्मर करते तरु वन पत्रों में
लिखी उसे दिखती रस गुह्य ऋचा प्रकाश की,
जो जीवन के मुख से गुण्ठन उठा तमस का
स्वर्ण रश्मि से दीपित कर देती जीवन पथ !
आत्म साधना उसे अधूरी लगने लगती,
एकाकी साक्षात्कार से बाहर आ वह
मुक्ति चाहता बँधकर द्वैताद्वैत प्रीति में !
योग क्रियाओं ने उसका अन्तर-पट धोकर
सूक्ष्म चेतना का जो बोध कराया उसको
वह अब नखशिख रूप ऋचा का धरकर निरुपम
उसके उर में मूर्त हो उठा—अन्तर्मन को
वेष्टित कर उसके अदृश्य सौन्दर्य पाश में !
शुभ्र वासना हीन काम उसके प्राणों में
हुआ अवतरित—नवोन्मेष-सौन्दर्य-शक्ति बन !
जिधर देखता वह, नभ में, दिशि में, जल स्थल में,
मधुर ऋचा की स्मिति उसको सम्मोहित करती,
सूक्ष्म देह का स्पर्श न पा सकने के कारण
वह उसको छूने को आकुल हो उठता था !
गोपन बातें सी वह उससे करती निःस्वर
अधरों का मृदु कम्पन सार्थक-शब्दों में वह
सहज अनूदित कर भावों का विनिमय करता !

कभी निकट आकर फिर दूर खड़ी हो सहसा
राग विभोर हृदय को करती समधिक मोहित !
इंगित करती वह नव नव अर्थों के व्यंजक,
भाव सम्पदा का जो गूढ़ रहस्य खोलते !
अंगुलियों से रेखाएँ खींचती गगन में
तड़ित् लेख बन जो संवेदन तीव्र जगाते !

तुरत हृदय आसन पर बैठ, मनोज्ञ हास कर,
दिव्य रूप की सित किरणें बरसाती मन में !
दृष्टि-क्षितिज में उसके छा जाती समग्र वह,
अखिल प्रकृति उपकरण अंग बन जाते उसके,—
शशि लेखा प्रिय मुख बनती, ऊषा सलज्ज स्मिति,
वायु उसी की सौरभ से तन पुलकित करती !
वन पिक के स्वर प्रतिध्वनित करते उसके स्वर
कलियाँ उसकी कोमल अंगुलि बन मन छूतीं !
भू जीवन को उसकी शोभा के स्वप्नों में
गूँथ, मूर्त देखना चाहता था वह जग में !

अग्नि अभीप्सा की फिर धधक हृदय में उसके
गन्ध धूम जिज्ञासाओं से भर देती मन !
ऊर्ध्व शिखावत् कृच्छ्र साधना कर, अपने को
आत्मा में केन्द्रित कर, वह मन ही मन कहता—
डूब अतल अन्तस्तल में, उठ चिद् अम्बर में
कहीं नहीं मैं अपने को पाता हूँ भीतर
अथवा बाहर—विश्व प्रकृति ही का प्रसार सब
लगता मुझको—मेरी सत्ता भी उसकी ही
स्वल्प अंश हो, जिसके लघु माध्यम से स्रष्टा
अपना कार्य जगत् में करता हो, यह निश्चय !

ब्रह्म-अग्नि स्पर्शों से उसका अहंकार जब
भस्म हो गया—शेष शुद्ध चैतन्य रूप वह
देख रहा था ब्रह्म दृष्टि से निज सत्ता को—
आत्मा ही से आत्मा का संज्ञान प्राप्त कर !

ईश्वर के इस जग में आकर मुझको अपनी
इच्छाओं को भी तो ईश्वर ही की इच्छा
मान, उन्हें जीवन मंगल के लिए निरन्तर
सदुपयोग में लाना है,— इस सीमित मन के
पाप पुण्य सदसत् के मूल्यों से ऊपर उठ—
कृत्रिम जो, खण्डित-जीवन स्थितियों से प्रेरित !

समझ नहीं पाता था, कैसे अग्नि देव के
दीक्षा पथ से वह उपासना करे ब्रह्म की,
उद्घाटन कर मर्म अनन्तवान् भुवनों का
सान्त अनन्त उभय रूपों पर विजयी होकर !

निराकार साकार हो उठा हो ज्यों उर में
रूप ऋचा का तन्मय करता योग-दृष्टि को !
पृथ्वी से उठ स्वर्ग लोक तक उसकी आकृति
उसे दीखती सूक्ष्म स्वर्ण-किरणों से विरचित !
सत्यकाम की असमंजस स्थिति से विरक्त हो
ओझल हो जाती वह खींच सार प्राणों का !
अर्थ शून्य तब लगता जीवन—दिक् प्रशस्त जग
रिक्त अस्थि पंजर-सा, श्री सौन्दर्य से रहित,
सृष्टि कला की मोहक मांसलता खो जाती,
भावों का ऐश्वर्य वहन करतीं न शिराएँ !—
शून्य, शून्य ही शून्य दीखता बाहर भीतर,
शून्य ब्रह्म ही जैसे अन्तिम चरम सत्य हो !
भाव विचार, निराशा आशा, हर्ष शोक से
रहित चित्त ज्यों निबिड़ नास्ति का जर्जर खँडहर
बन जाता सहसा—रेती का तप्त मरुस्थल !
हृदय खोजता पुनः ऋचा को विह्वल होकर
प्रकृति उपादानों के शोभा-गुम्फित जग में—
विथी लगता जो उसके सान्निध्य के बिना,
रूप उसी का हो वितरित विस्तृत निसर्ग में !
मधुर ऋचा थी मूर्ति प्रेम की—सर्वव्याप्त जो !
उससे रहित जगत् की थी कल्पना असम्भव !
अग्नि शलाका के से लगते क्षितिज पल्लवित,
लँगड़ाकर सा चलता अब विश्लथ समीर हो !
जीवन-चपल हिरन लगते भयभीत भागते,
उसे देखने ही को खिले सरोज सलिल में
स्मृति-तुषार घातों से कुम्हलाये-से लगते !
नवल कोंपलों में उत्साह न था खिलने का,
मधुकर क्या गूँजते, उसे ही खोजा करते,
नृत्य चपल लहरों की सुन पड़तीं न पायलें,
कोक शोक में डूबा रहता चन्द्र बिना भी !
अन्धकार के अंचल में स्वप्नों के बदले
मूक भयानक सूनापन-सा लिपटा रहता !
कैसी थी वह मधुर उपस्थिति, जिससे यह जग
लगता था सौन्दर्य मधुरिमा भरा !—और अब
विशृंखल, सम्बन्ध हीन सी निखिल वस्तुएँ
शुष्क बालुका तट सी लगतीं उसको खोकर !
ऋचा लौट आती फिर करुणा द्रवित हृदय ले,
धरा स्वर्ग के बीच टँगी स्मित रश्मि-सेतु सी,
जोड़ चेतना को देती जो भाव-लोक से !
नयी चेतना के प्रकाश से भर जाता मन,

नवल उषाएँ भू पथ पर अवतरित हुई हों,
पुष्प पिटारी में भर सम्पद् स्वर्ग लोक की!
अन्तः केन्द्रित मन को बाहर खींच पुनः वह
विश्वात्मा का रूप दिखाती बहिर्विश्व में!
ऊर्ध्व धरातल को समतल में बिछा, दृष्टि को
आत्मा से भी महत् सत्य का रूप दिखाती!

स्वप्नावस्था में सा उसको लगता सहसा
बदल गया आमूल विश्व, कुण्ठित भू-जीवन,
मानवीय बन गया निखिल परिवेश धरा का,
मूर्त प्रेम के चरण चिह्न दिखते भू पथ पर!
मनुज प्रकृति अब मुक्त रूप से व्यक्त हो रही
अनघ वास्तविक, स्वाभाविक गरिमा में अपनी,
अतिक्रम कर शैशव-अतीत की सीमाओं को!
नैतिक धार्मिक मूल्य, साधना-पन्थ युगों के
मध्यवर्तिनी स्थिति के द्योतक लगते कोरे!

मनुज प्रकृति अपने में पूर्ण, अपाप विद्ध है,
इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय ब्रह्म क्रीड़ा-स्थल पावन! —
भेद-बुद्धि का स्थान हृदय-एकता ले रही
जिसकी मुक्त मधुर प्रतीक सी ऋचा प्रकट हो
मुग्ध भावना में उसकी—निर्देशित करती
मनः साधना, सृजन कल्पना का प्रशस्त पथ!
जिससे वह मन के मूल्यों के पाश छिन्न कर
भू जीवन मूल्यों के प्रति केन्द्रित कर आस्था
विजय पा सके बाह्य परिस्थितियों पर अविजित!
यही चरित्र—बहिःस्थितियों से जूझ निरन्तर
उन पर विजयी होना, उनसे कभी न झुकना!

कृत्रिम लगता ध्यान साधना-पथ अब उसको,
महा प्रकृति से आत्म-युक्त होना ही उसको
परम योग लगता अब—जग के साथ सन्तुलन
हृदय कर सके स्थापित—व्यक्ति समाज बनाये,
जन समाज इतिहास बनाये, नित आरोहण
करे विश्व इतिहास शुभ्र अध्यात्म शिखर को!

सामाजिक सांस्कृतिक प्रगति के बिना, व्यक्ति का
विश्व रूप का तिरस्कार कर, ऊर्ध्व ब्रह्म में
लय होना या रोहण करना आत्म-भ्रान्ति है!
ब्रह्म सत्य है निश्चय! किन्तु व्यक्ति से समधिक
विश्व रूप ही उसकी अभिव्यक्ति-गरिमा का
महत् क्षेत्र है! इसमें अब सन्देह न उसको!

अनघ ऋचा की सूक्ष्म भाव-आत्मा में लिपटा
जन भू जीवन मंगल के प्रति वह अपने को

पूर्ण समर्पित करने को आतुर था—अक्षय
प्रीति-सूत्र में बँधा—जगत् जीवन विकास की
बागडोर कर में थामे, सहृदय भू-नर बन!

बृहद् विश्व पट पर जीवन का नव मूल्यांकन
मनुज हृदय की भाषा में करना श्रेयस्कर!
कितने भिन्न स्वभावों, रुचियों में, रूपों में
अभिव्यक्ति पाता सद्ब्रह्म समग्र सृष्टि में!—
विश्व एकता जब तक निखिल विविधताओं को
आत्मसात् न करेगी, सहृदय हो उनके प्रति,
तब तक आध्यात्मिक चेतना अपूर्ण रहेगी!

निश्चय ही गत नैतिक धार्मिक या आध्यात्मिक
मूल्य मनुज के सीमित दृष्टिकोण के द्योतक!
मनुज प्रकृति ही मनुज सत्य की स्वर्ण कसौटी!
मनुज प्रकृति को धरा परिस्थिति नव निर्मित कर
नये रूप में है सँवारना—उसे हृदय के
मूल्यों के अनुरूप ढालकर नव समाज में!—
मनुज प्रकृति चरितार्थ हो सके जिससे भू पर!

अन्तर्मन में शब्द गूँजकर प्रश्न पूछते—
किसके हैं ये आँख, कान, मस्तक, नासा मुँह?
गन्ध स्पर्श, रस शब्द अर्थ सार्थक हैं किससे?
किसके कर-पद, कर्मों की प्रेरणा, मनीषा,
निखिल इन्द्रियों का स्वामी वह कौन? ब्रह्म ही!
एकमेव वह अद्वितीय वह सर्वशक्तिमय!

कौन प्रेम को छोड़ ब्रह्म हो सकता? निश्चय
कौन प्रेम को छोड़ ऋचा का शक्ति रूप धर
दिव्य उपस्थिति से सम्मोहित कर सकता मन?
निःसंशय, प्रेम ही ब्रह्म है, वही शक्ति है,
वही सृष्टि पट विश्व प्रकृति, स्रष्टा, ईश्वर है!
वही दुःख सुख के द्वन्द्वों के पार स्वयम्भू,
अनघ विद्ध, चिर क्षमाशील,—भू ताप शाप भय
आत्मसात् कर पावन रहता, कलुष पंक में
सित सरोज-सा,—उग्र साधना शिखर लाँघकर,
शुष्क ज्ञान का मरु तिर, जन मंगल से प्रेरित,
सुधा सरोवर में रस-तन्मय करता अन्तर!
तोड़ निखिल बन्धन साधन तप के, निज पर के,
कीटों से देवों तक अपनाता अग जग को!

वही पूर्ण अध्यात्म तत्त्व, मिथ्या जग को भी
सत्य बनाता, जो अक्षय अवगम्य उसे है!
वही अभीप्सा, अमर कल्पना-धावित गुंजन-रत,
जो कि असम्भव को भी सम्भव कर सकता है!

अब समझा मैं, क्यों सर्वोपरि रूप ऋचा का
योग दृष्टि को ज्ञान ध्यान तप को अतिक्रम कर,
मुझे शून्य से खींच सर्व की ओर निरन्तर
सृजन प्रेरणा देता, खोल हृदय में नूतन
भावोन्मेषों के वातायन, रस प्रकाशमय !—
भू जीवन को नयी चेतना में कर विकसित
ज्योति प्रीति हो जहाँ, शान्ति आनन्द मधुरिमा,
दया क्षमा सहृदयता, श्री शोभा की सम्पद !

जहाँ हृदय का स्वर्ग समन्वित करे बुद्धि के
भेदों को—आत्मा के व्यापक अन्तरिक्ष में !—
मानव अन्तर रहे नित्य जाग्रत्-समाधि में !
प्रेम-ऋचा ही ब्रह्म ऋचा है, सृष्टि ऋचा है !

आत्म ब्रह्म

श्रान्त, रँभाती, गुरुकुल को जाती गायों को
सत्यकाम ने रोक दूसरे दिन फिर वन में,
छोड़ दिया चरने को, छाया तरु वीथी में
वे विश्राम करें सरिता तट पर तृण श्यामल !

साँझ सुनहले पंख खोल निःस्वर दिगन्त में
अस्ताचल पर उतर रही थी शान्त तार्क्ष्य-सी !
तीतर पंखी नभ में उड़ नवमी के शशि की
रजत तरी तिरती, आशा के पाल तानकर !
तरु नीड़ों में पुनः लौट आने के सुख से
चहक रहे थे विहग, पंख फड़का पुलकों के !
ध्यानमग्न बैठे थे कुछ वक सरित पुलिन पर
चटुल झपों को चोंचों में भरने को उत्सुक !

नैत्यिक कर्म समापन कर द्रुत सत्यकाम ने
समिधाधान प्रदीप्त अग्नि के बैठ पार्श्व में
पंक्ति बद्ध आदित्य वर्ण हंसों का कलरव
सुना दूर से आता,—उड़ते अन्तरिक्ष में
जो पंखों का शुभ्र सेतु ताने थे तिर्यक् !

किरणों के माखन-सी उनकी स्वच्छ कान्ति की
सुन्दरता को रहा देखता निर्निमेष वह !
गोरी ग्रीवाओं की गरिमा अंग भंगि से
झलक रही थी चकाचौंध करती आँखों को !
एक हंस चक्कर खाता शोभावर्तों में
उसके सम्मुख उतरा चित् आलोक पिण्ड-सा,
अवरोहण का दिव्य स्पर्श पा, आत्म-मुग्ध हो,
नये चेतना लोकों में वह लगा विचरने !

बोला स्वर्गिक हंस, "तुम्हें मैं ब्रह्म तत्व के
एक पाद की दीक्षा देने आया, साधक !"
"महत् अनुग्रह भगवन् !" बोला सविनय तापस !
"अग्नि कला है, सूर्य कला, चन्द्रमा कला है,
विद्युत् भी है कला चतुष्कल पूर्ण ब्रह्म की !

"जो उपासना करता ज्योतिष्मान् पाद की
ज्योतिर्मय बनकर वह ज्योतिष्मान् ग्रहों पर
विजयी होता ! मद्गु तुम्हें दीक्षा-वर देगी
अपर पाद का !" "देव, पूर्ण कृतकृत्य हुआ मैं !"
हंस मुक्त नभ में उड़ अन्तर्धान हो गया—
सत्यकाम के मन से भार अनन्त युगों का
उठा ले गया अपने तड़ित्-प्रभा पंखों पर !

ज्यों समुद्र की लहरें वृत्ताकार घूमकर
विस्तृत होती जातीं छूने तट अकूल के,
सत्यकाम के उर में भी व्यापक प्रकाश का
भुवन उतर आया गहरे निश्चेतन स्तर तक,
चित् ज्वारों में रस-मज्जित कर सत्ता उसकी !
ताप अग्नि का शान्त हो गया ज्योति दृष्टि पा,
कण कण में उसको अनन्त अब लगा दीखने !

आत्मा का वह भुवन शुभ्र चैतन्य पूर्ण था,
निष्कलंक थे वहाँ धूप छायाओं के जग—
छायाएँ भी थीं प्रकाश ही की अभिन्न स्तर !
वह द्वन्द्वों से विरहित था, दोनों उसमें थे
पूर्ण समन्वित—वह उनसे अत्यधिक पूर्ण था !
देख रहा था आत्मा की निरपेक्ष दृष्टि से
सत्यकाम सुख दुख, प्रकाश तम, जन्म मरण को !

सब थे दिव्य ! सभी का था उपयोग सृष्टि में,—
मुक्ति-हंस से साक्षी-दृष्टि मिली थी उसको !
ग्रन्थि खुल गयी थी मन की, जीवन द्वन्द्वों की,—
अकलुष, पूर्ण, अपाप विद्ध जग का विधान था !
कहीं नहीं कुछ भी अनात्म था, सभी वस्तुएँ
आत्मा से थीं युक्त—मुक्त अपने में इससे !
मनुज अस्मिता आत्मा की प्रतिनिधि बन जग में,
भाग्यों के उत्थान-पतन से जूझ निरन्तर,
जीवन संघर्षों का मूल्यांकन कर प्रतिक्षण,
देश काल में धर्म नीति स्थिति निश्चित करती,
क्रम विकास में ऊर्ध्व-मूल्य को करा अवतरित !

टस से मस हो सकता था न विधान सृष्टि का,
योग-साधना से अथवा दर्शन के बल पर !

भावों की मधु द्राक्षाओं का रस निचोड़कर
पीना था, अन्तर्विवेक की पुष्टि के लिए!
कभी न बुझनेवाली अग्नि हृदय के भीतर
सुलगा करती जो दावा वाड़व - सी भीषण
वह जीवन मन की तृष्णाओं की समिधाएँ
सदा जलाती रही, जलाती सदा रहेगी!

अन्त नहीं दीखता उसे इस महायज्ञ का,
सृष्टि जिसे कहते!—नव-नव भावों की हवि पा
नव संवेदन की लपटों में वह अग जग को
आवृत किये रहेगी, नित अनुभूति दे नयी!
विश्व प्रकृति के ही अनुरूप हमें जीवन के
मूल्यों को स्वीकृति देनी होगी निःसंशय,—
तभी मिट सकेंगे आदर्श - यथार्थ-दृष्टि के
भू - विरोध—व्यापक अन्तश्चैतन्य में समा!

रत्नच्छायाओं - सी जीवात्माएँ तिरतीं
वर्ण वर्ण के भावों के स्मित पंख खोलकर
सुरधनु इच्छाओं से सँजो क्षितिज प्राणों का!
बोध स्फुरित घन चित् प्रकाश के उड़ते उज्ज्वल
राज मरालों-से आत्मा के दिव्य व्योम में
गहन ज्ञान नीलिमा जहाँ छायी थी नीरव!
श्वेत सरोरुह की सी पंखड़ियाँ झरती थीं
सत्यकाम के अन्तर में आनन्द पुलक भर!
अकलुष था वह लोक, जहाँ की स्वस्थ वायु पी
हृदय शिराओं में बहता संगीत स्वर्ग का!

प्रथम बार वह जान सका था वह अमर्त्य है!—
भंगुर कोषों से भूषित शाश्वत प्रकाश कण!
देख सका था वह कैसे सुख दुख, दुख सुख बन
तम प्रकाश में औ' प्रकाश तम में विलीन हो
परिणत होते क्रमशः भाव-बोध में अभिनव!

देख सका वह, मृत्यु तमस का द्वार पार कर
किस प्रकार उसका अमरत्व अखण्डित रहता!
अक्षय आत्मा ही में था वह श्वास ले रहा,
प्राणवायु से थी जो कहीं अधिक जीवनप्रद!
तन मन प्राणों के बन्धन खुल गये निखिल थे
आत्मा ही साक्षात् भोगती आत्म-मुक्ति थी!

भार हीन वह तन्मय रहता जब अपने में,
कौन न जाने उसे जगा देता तब सहसा!—
अपनी आन्तर यात्रा में मिलते उसको बहु
सिद्ध पुरुष, आलोक पुरुष आनन्द दीप्त मुख!
वह द्युलोक में विचरण करता देवों के संग
जो अब कल्पित नहीं, आत्म अनुभूत सत्य थे!

आत्म निरीक्षण चिन्तन कर उसकी प्रतिभा ने
निर्णय लिया महत्वपूर्ण—ब्रह्माण्ड में निखिल
मानव ही सबसे सुन्दर, सबसे पावन है!—
विश्व प्रकृति ने उसको जैसा गढ़ा सृष्टि में—
वह महान् है कहीं सिद्ध पुरुषों, देवों से,
जो अपनी सीमा ही में सुन्दर पावन हैं!
अधिमन अतिमन से कर सार ग्रहण, बहिरन्तर
भावों का मन ही प्रतिनिधि है भू-जीवन का!

आत्मसात् कर सकता मानव क्रम विकास के
पथ के कलुषों, रुजों, प्रमादों, बाधाओं को
जीवन ईश्वर पर श्रद्धा आस्था के बल पर!
निखिल पूर्णताओं को अतिक्रम कर अपूर्णता
अधिक पूर्णतर बनती जाती अहरह उसकी!
अन्धकार को दीप दान दे सकता वह नित,
वह प्रकाश से अन्धकार से परे मनुज है!

मोह भंग हो गया सदा को आत्म सिद्धि का,
उसे लोक निर्माण कर्म की सिद्धि चाहिए!
देखा उसने मन की निर्निमेष आँखों से
पूर्ण धरा जीवन ही मानव की आत्मा है!
निखिल वस्तुएँ जग की आत्मा की स्वरूप हैं—
वस्तु-बोधमय आत्म ज्ञान ही पूर्ण धनात्मक!

हंस मुझे ऋण बोध दे गया था आत्मा का,
उसे देह मन प्राणों की निधि से वियुक्त कर!
किन्तु न जाने किसने मुझको स्पर्श सत्य का
दिया समग्र, समन्वित कर रस-रूप तत्व को!
निःसंशय ही परम चेतना कहीं ऊर्ध्व में
छिपी, गुह्य संकेतों से नित सत्य दिशा का
बोध हमें देती,—महान् है वह आत्मा से!

रूप तत्व ही की अरूपता आत्मा में है,
औ' आत्मा की ही अरूपता रूप तत्व है,
पा इसकी अनुभूति प्रबुद्ध हुआ उसका मन!
तभी रूप का प्रेम पूर्णता प्राप्त करेगा
रूप प्रतिष्ठित होगा जब मन में अरूप पर!

असामान्य बनने की अब किशोर आकांक्षा
लुप्त हो गयी, अन्तर्दृष्टि मिली जब उसको
वैश्व प्रकृति के साधारणतम भव-विधान में—
जो अपने ही में सबसे सौन्दर्य पूर्ण था!
सब कुछ जिसको क्षुद्र समझता आया था वह
अपनी लिये महत्ता था विधि के विधान में!—
उसके बिना अपूर्ण जगत् का जीवन होता!

यह कैसे सम्भव, क्षण-भंगुर भू-रज में रह
आत्मा का अमरत्व भोग सकना जीवन में!
अन्तर्मन कहता,—यह सृष्टि-कला स्रष्टा की
जिसे सीखना है मनुष्य को, यही ज्ञान है!
धरा परिस्थितियों को मानव के हाथों के
स्पर्शों से विकसित हो ऊपर उठना होगा!
मनुज बुद्धि के क्रम-विकास पथ के मूल्यों को
स्वीकृत कर, युग जीवन पथ पर बढ़ना होगा!

पीढ़ी पीढ़ी नया मनुज आता जन-भू पर,
जीवन मूल्य बदलते, युग स्थितियों से प्रेरित!
कालातीत तत्व आत्मा का देश काल बन
अपने को देखता विविध रूपों, स्थितियों में!—
खण्ड खण्ड हो आँख मिचौनी खेला करती
आँख मूंद फिर आँख खोल आत्मिक अखण्डता!

वनचर जीवन अभी मनुज का घोर कष्टमय-
निर्मम स्थितियों से लोहा लेना मानव को,-
भार भूधराकार चेतना पर जड़ता का,
विजय प्राप्त करनी होगी जड़ पर चेतन को,—
जगा शक्ति जड़ भूतों की—जो निद्रित चेतन!

जब तक वन-जीवी जन धरणी के जीवन को
मनुज हृदय प्रतिकृति अनुरूप न गढ़ पायेंगे,
मानवीय बन पायेगी न धरित्री तब तक,
भू-जीवन संघर्ष न मिट पायेगा किंचित्,—
आत्मा की सम्पद् भी मूर्त न हो पायेगी!

मुक्त चेतना के जीवन के लिए मनुज को
बहिर्मुखी साधना कठिनतर करनी होगी,
क्रूर परिस्थितियाँ जन-भू जीवन की जिससे
परिवर्तित हो सकें—कर्म शोभा में मूर्तित!
तदनुरूप परिवेश सँभाल धरा जीवन का
रूपान्तर हो सके रुद्ध प्राणिक मूल्यों का
पथ प्रशस्त मिल सके मनुज आकांक्षाओं को
भोग सके अन्तर भू-जीवन की शोभा को!

मुट्ठी भर दर्शन से ही मन के प्रश्नों का
समाधान हो जाता,—दिग् विराट् जीवन की
एकछत्रता को भू पर स्थापित करने में
कोटि हाथ पाँवों को, हृदयों, मस्तिष्कों को
सत्प्रयत्न में निरत निरन्तर रहना होगा,
असफलताओं को सोपान बना उन्नति का!
हानि लाभ, जय और पराजय में, जीवन की

सर्वशक्तिमत्ता में आस्था असन्दिग्ध रख,—
विश्वात्मा की अभिव्यक्ति का पूर्ण क्षेत्र जो!

बोध-दृष्टि-क्षण देती उसको 'अन्तर आत्मा
गूढ़ सृष्टि के सूक्ष्म रहस्य ग्रथित विधान में—
जिसका साक्षात्कार उसे मिलता जीवन में
और विश्वव्यापी प्रसार में भू जीवन के!

जैसे कोई ऊर्ण वस्त्र की सन्धि खोलकर
मूल सूत्र, पट बुनने की विधि का परिचय पा,
नया वस्त्र बुनने की आकांक्षा रखता हो,
वैसे ही मन के मूल्यों की गाँठ खोलकर
सत्यकाम नव भू संस्कृति निर्माण के लिए
प्रेरित हो उठता ताने बाने सुलझाकर
बहिरन्तर जीवन के, व्यक्ति, विश्व, ईश्वर के!

क्रूर दस्यु पणियों की गाथा से छुटपन से
परिचित था वह! बहिरन्तर संघर्षों से जो
पीड़ित रहते, दारिद्र्यों दुःखों से अगणित!
कितना निष्ठुर संघर्षण करना पड़ता है
वनवासी को सम्प्रति भीषण भू-स्थितियों से,
दारुण जीवन भन की वहु आकांक्षाओं से!—
तोड़ डालतीं उनको दुरवस्थाएँ दारुण,
अन्न वस्त्र गृह का अभाव करता तन जर्जर!

विविध प्रकृतियों, प्रवृत्तियों, अभिरुचियों के जन
किस प्रकार इन घोर यातनाओं को सहते,
विद्रोही बन कटु विरोध करते सत्ता का,—
तप खट कर वे कैसे लड़ते, या जी-मर कर
आगे बढ़ते—कौन उन्हें साहस बल देता
नग्न अकिंचन स्थितियों में बर्बर जीवन की,
मार्ग सुझाता उन्हें शनैः, अभ्यस्त बनाता?—
सूक्ष्म प्रक्रिया को उनके अन्तर्जीवन की
आत्मा की पूर्णता सतत संचालित करती
उनके अन्तर्मन द्वारा, उनके अनजाने!

निश्चय ही कटु घूँटें पीनी पड़तीं प्रतिक्षण
प्रगतिशील नर को विकासकामी भू-पथ पर!
व्यक्ति, समाज, युगों, इतिहासों को अतिक्रम कर
जीवन आगे बढ़ता अपराजेय चरण धर!
दस्यु न कोई, पतित न कोई,—ये भू स्थितियाँ,
वैषम्यों के पाटों से मर्दित निरीह जन,
आत्मा की एकता रिक्त कल्पना, रहेगी
मनुज एकता में जब तक चरितार्थ न होगी!

निर्निमेष वह अर्ध रात्रि में देख रहा था
तारों की पंक्तियाँ ज्योति चरणों-सी अंकित
अम्बर पथ में—सृष्टि चेतना निःस्वर पग धर
चलती हो ज्यों महाशून्य के अन्धकार को
अपनी सत्ता के प्रकाश से दीपित करने!

दूर, दूधिया वियत् सरित ज्यों मुक्ता स्रक्-सी
नभ उर में शोभित, ऐसे ही परम चेतना,—
आत्मा जिसकी एक सूर्य है—निखिल विश्व का
जीवन सौर जगत्वत्—जिसकी दीप्त केन्द्र वह!

उसमें ऐसे अगणित ग्रह नक्षत्र सूर्य शशि
अन्तर्हित हैं, ज्योति पुञ्ज नीहार-घनों के
अंचल में लिपटे अन्तःप्रभ आकाशों में,
अधिव्योमों के स्मित कुंजों में छिपे असंख्यक
दीप्त प्रेरणाओं, चिद् उन्मेषों, बोधों के
अग्नि पंख शत बीज अंकुरित युग स्वप्नों में,
जो बखेरते रहते निज चैतन्य रश्मियाँ
मानव मन के भाव निविड़ धूमों के नभ में!

ऐसी ही कुछ भाव-मग्न तन्द्रावस्था में
कृष्ण श्वान का शब्द पड़ा उसके श्रवणों में—
जो अब उसकी गायों का साथी प्रहरी था—
ऊँचे स्वर में भूँका वह आवेश में भरा,
साहस से सामना कर रहा हो संकट का!—
सत्यकाम ने जाकर देखा उसे निकट से
विकट क्रोध से बाल पीठ पर तने खड़े थे,
और झपटने को उद्यत था वह, झाड़ी से
जो दो अंगारे आँखों के चमक रहे थे—
भूल गया हो वह अपने जीवन का भय भी!

सत्यकाम ने हाथ पीठ पर फेर श्वान के,
अन्तःस्थित हो, प्रखर अग्नि लोहित आँखों पर
अचल दृष्टि केन्द्रत कर अपनी, देखा वन के
राजा को, जो शनैः शान्त होकर चुपके से
बैठ गया झाड़ी से आकर उसके सम्मुख!
सौम्य श्वान भी बैठ गया सामने प्रणत हो!
व्याकुल गर्जन भर मृगेन्द्र फिर लौट गया द्रुत
पीठ फिरा, वन के भीतर घुस मन्थर गति से!

सत्यकाम को एक नयी अनुभूति हुई तब,
भूल सिंह को, अपने को, उसने था केवल
वन की आत्मा में विश्वात्मा का मुख देखा,—
वन्य परिस्थिति में निर्भीक, अतन्द्र, साहसी!

आत्म-एकता की अखण्डता का पशु को भी
स्पर्श मिल सका—अन्तरतम केन्द्रीय शक्ति से
प्रेरित हो वह लौट गया, निज स्वाभिमान का,
जीवों की जीवन गरिमा का इंगित पाकर!
कहीं उसे अनुभूति हुई हो अन्तस्तल में
हार्दिकता की, सहृदयता की, प्रेम शक्ति की!

हिंस्र वृत्ति का छादन ओढ़े रहने पर भी
भीतर से वह कहीं पिता, माता, स्नेही था!
सर्वोपरि स्वाधीन वन्य जीवन का प्रेमी
आभिजात्य गरिमा का दीप्त निदर्शन था वह!

दृष्टि अटल केन्द्रित करने में सत्यकाम को
गहरे था पैठना पड़ा निज अन्तरतम में!—
आत्मा का वह आत्मा से कर सका सामना!
मुक्त प्रेम तन्मयता, करुणा की नीरवता
निःसृत हो अन्तर से सहसा व्याप्त हो गयी
उसके चारों ओर कवच-सी, सुदृढ़ चर्म-सी!—
शनैः छू गयी जो पशु को भी सम्मोहित कर!

सत्यकाम को अब सन्देह न रहा रंच भर,
दिव्य प्रेम ही सार तत्व है विश्वात्मा का!—
तर्क बुद्धि से जिसे थाह पाता न मनुज मन,
भाव रूप में उसे हृदय जानता,—प्रेम वह!
निविड़ बुद्धि के वाष्पों को उर-मुकुर से मिटा
देखा उसने अनघ प्रेम का ज्योतिर्मय मुख,—
जिससे पोषित आलोकित ब्रह्माण्ड था निखिल!
झर झर अश्रु प्रवाह मुँदे नयनों से अविरल
उसके उर के तर्क बुद्धि के घाव धो गया!

सहसा ही उन्मेष हुआ हो उसके भीतर
अक्षय स्मृति के द्वार खुल पड़े हों या उर के—
ऋचा सामने उतरी चन्द्र किरण शिविका से
मूर्त प्रेम-सी, सूर्यों का आलोक, रूप की
एक किरण में सँजो,—मुक्त वितरण करने को!
रजत नील से हरित धरा तक उसकी आकृति
स्वर्गिक भावों की आभाओं से वेष्टित थी!

बोली वह, स्त्री सुलभ हास्य की स्वर्णिम ध्वनि कर,
"मैंने कहा न था तुमसे, मैं सिंहवाहिनी
सिंहों की पीठों पर विचरण करती वन में!
हिरनों के रथ पर चढ़कर छाया वीथी में
मुक्त अटन करती, छलाँग भर वायु वर्त्म में!

"देखा तुमने? मेरी वन की प्रजा प्रेम का
अमृत स्पर्श पाने को खुला हृदय रखती है!

मैं ही प्रसरित कृमियों से ऋषियों सिद्धों तक,—
तुमको मैं निर्भ्रान्त सत्य पथ दिखलाने को
आविर्भूत हुआ करती हूँ भाव-मूर्त हो!

"यह देखो!"—उसने अपना अंचल दिगन्त तक
फैलाया, तारों से जड़ा नीलिमा पट सा,—
अर्ध नग्न कर कनक गौर निज वक्षोजों को,—
आत्मबोध की अनघ नग्नता थी जो व्यापक!

ऐसा रूप ऋचा का उसने इससे पहिले
कभी नहीं देखा था,—वह विस्मय अवाक् था!
आँखों के सम्मुख युग-युग के दृश्य अनेकों
उद्घाटित हो रहे निरन्तर थे—अन्तर में
भाव-बोध जीवन विकास क्रम का अंकित कर!
सागर में उठ रहे ज्वार हों रश्मि प्रज्वलित
संघर्षों, उत्थान, प्रगति, पतनों से मन्थित,
मानव भावी चित्रित थी उस छायांचल में!

वह अंचल था अथवा आत्मा का प्रसार था—
जो सबके अन्तर में सबके बाहर भी है—
समझ नहीं पाता था सत्यकाम विस्मय-हत!
बाहर भीतर, जो दो भुवनों में विभक्त थे,
एक दूसरे में विलीन प्रत्यावर्तों में
परिवर्तित विकसित होते जाते थे अविरत!
मुट्ठी भर भर कृषक बीज बोता है जैसे
पीढ़ी पीढ़ी अगणित जीवों को पृथ्वी पर
शनैः अवतरित करा, न जाने कौन शक्ति वह
सृजन योजना को क्रमशः सार्थक करती थी!

देखा उसने परम विराट् प्रकृति के पावन
दिक् प्रांगण में विविध जातियों, वर्णों में वह
जीव ढल रहे बाह्य परिस्थितियों से प्रेरित!
कृमियों, सरीसृपों, मीनों, विहगों, पशुओं में
ऊर्ध्व वंशधर मानव सबसे श्रेष्ठ, मनोमय!

एक ओर नैसर्गिक शोभा भूत-जगत् की,
मनो भुवन दूसरी ओर सोपानों में उठ
सूक्ष्म सूक्ष्मतर चिदैश्वर्य आभा से मण्डित,—
खण्ड सभ्यताएँ संस्कृतियाँ धार्मिक नैतिक
सीमाओं में बँधी बृहद् इतिहास भूमि पर—
महत् विश्व मानव अन्तर में लीन हो रहीं
अभिव्यक्ति पा पूर्ण पूर्णतर काल पृष्ठ में!

वन-भू-जीवन केवल प्रारम्भिक प्रयत्न भर—
जो नगरों, देशों, राष्ट्रों, अन्तर्राष्ट्रों में

विकसित वर्धित हो भविष्य में, मानवता को
धरा-स्वर्ग रचने की सृजन प्रेरणा देगा !

देखा उसने, ऋचा व्याप्त हो निखिल सृष्टि में
कहती उससे हँसकर, तुम आत्मा को केवल
अन्तरतम की सूक्ष्म दृष्टि समझे बैठे थे ?
नहीं, शक्ति भी वह, विकास क्रम भी, प्रसार भी !
आत्मा मेरा ही अंचल है ! जिसे खोलकर
मैंने तुम्हें स्वरूप दिखाया है सत्ता का,
सूक्ष्म स्थूल द्रव्यों में वितरित जो भुवनों में !

तुम्हें सभी स्थितियों में स्वीकृति देनी होगी
अनघ प्रेम को—अहं भावना से ऊपर उठ !
पूर्ण समर्पित कर अपने को आत्मा के प्रति !
सभी जीव सन्तान प्रेम की—सब रूपों में
व्याप्त एक ही रूप—अरूप पूर्णता जिसकी !

सहसा सिमट गया वह व्यापक विश्व दृश्य पट !—
ज्योति चक्र घूमा हो स्मृति के अन्तर्नभ में—
लता कुंज की ऋचा मनोनयनों के सम्मुख
प्रकट हुई सस्मित मुख—अपलक उसे देखती !
वही मधुर स्मिति, सरल प्रकृति, व्यक्तित्व निष्कलुप !
उर पर खिसका आँचल, मुख पर बिखरी मृदु लट,
कुँई कान में, लाल फूल खोंसे वेणी में—
सत्यकाम देखता रहा उसको विमुग्ध हो !

वह कब कैसे लौटा परिचित सरसी तट पर ?···
यह क्या स्मृति का खेल ? कल्पना ? स्वयं ऋचा या ?···
उसने छूना चाहा, उससे लिपट गयी वह,
एक बाँह से उसकी कृश कटि को वेष्टित कर !
नव वसन्त-श्री गोद लिये हो नव कलिका को,
वीणा-उर में नये राग के हों सद्यः स्वर,
रजत कुक्षि में सीपी के स्मित मुक्ताफल हो—
उसने अपने आँचल में लिपटे नव शिशु को
सत्यकाम की गोदी में रख दिया—सलज मुख !
सत्यकाम देखता रहा उस चन्द्र कला को,
सुखमय विस्मय से रोमांच उसे हो आया !

फिर उसने जैसे अपने से प्रश्न किया हो—
"इतना समय व्यतीत हो गया ?"···"मैं अब मा हूँ !"
बोली ऋचा उसी अपनत्व भरी वाणी में—
सत्यकाम के पद छू—"आशीर्वाद दीजिए !"

सत्यकाम का हृदय कहीं कुण्ठित, निर्मम हो
अपने ही भीतर खिंच गया अकारण जैसे !
एक शब्द भी नहीं कण्ठ से निकला उसके !

कठिन मुखाकृति, रुद्ध कण्ठ, निःस्तब्ध मनःस्थिति
देख निठुर प्रेमी की—वह खिलखिला उठी द्रुत !
सत्यकाम को गोपन धक्का लगा कहीं पर !

"मैं अब मा बन गयी, आपने नहीं सुना क्या ?
कैसे ऋषि हैं आप ? दुधमुंहे भोले शिशु को
आशीर्वाद नहीं देंगे ? क्या इससे कोई
अनजाने अपराध हो गया ?···बतलाएँ ना !···

"लो, इसका प्यारा मुख चूमो, इसे उठाकर
गोद खिलाओ, इसको अपना ही शिशु समझो !
उनके ही ढाँचे में ढली मुखाकृति इसकी—
बड़ी-बड़ी गहरी आँखें—जैसे भीतर से
देख रही हों ! ···अभी एक ही पाख की हुई !
कैसी दूध सनी मुसकान लिये पलकों पर ?···
पुष्प स्तवक अब सुधा कलश बन गये न मेरे ?···
हाथ-पाँव देखिए, कमल के फूल भला क्या
ऐसे कोमल होंगे ! इसका मुख तो सूँघें,
कैसी भीनी सौरभ लिपटी है अंगों में !
बड़े प्यार से घर से भाग, तुम्हें दिखलाने
लायी हूँ मैं अपनी निधि को ! ···यह मेरी ही
नहीं, तुम्हारी भी उतनी ही ! ···प्यार करो, लो !

"कन्या-रत्न, प्रकृति माता की प्रतिनिधि भू पर !
निधि अमूल्य ! दुलराओ इसको, आज तुम्हारी
गोद धन्य हो गयी अयाचित सिद्धि प्राप्त कर !
प्यार करो इसको, जैसा मुझको करते थे !"
लिपट गयी वह पुनः ! गले में बाँह डालकर
झूलने लगी ! सत्यकाम प्रस्तर प्रतिमा-सा
निश्चल बैठा रहा···कहीं खोया अपने में !

बोली वह, "पति मुझको प्रिय हैं, पर क्या उनसे
कम प्रिय हो तुम ? इसे भूल क्यों जाते, तापस,
तुम मेरे कैशोर प्रेम के प्रिय प्रतीक हो !
इसीलिए तुमसे मिलने मैं आती फिर-फिर !
सत्यकाम पाषाण शिलावत् रहा अविचलित,
उसने इसको अभिनय, त्रिया चरित्र समझ कर
नहीं विशेष महत्त्व दिया,—प्रत्युत विरक्त हो,
वह भीतर से खिंच, अपने में डूब-सा गया !
पलट ऋचा ने शिशु को उठा लिया तापस की
रिक्त तिरस्कृत गोदी से—बच्ची भी सहसा
उहाँ, उहाँ कर रोने लगी,—कहीं अनुभव कर
सहज स्नेह की कमी, शून्यता मधुर भाव की !

क्षण भर को होकर अदृश्य फिर छायाभा का
सूक्ष्म रूप धर प्रकट हुई वह, खड़ी दूर पर,
व्यंग भरे तीखे स्वर में बोली तापस से—
तड़ित् स्पर्श से मोह भंग कर उसके मन का !

"तुम भी क्या तापस, साधारण जन-से ही हो ?
धन्य तुम्हें, हे आत्मा के आराधक, साधक,
अभी आत्म-पर पाशों ही में बँधे हुए हो ?
द्वेष-भाव से कुण्ठित, क्षुद्र अहंता पीड़ित !
एक निरीह सरल शिशु को तुम मुक्त हृदय का
प्यार नहीं दे सके ? स्वर्ग की एक किरण का,
नये जगत् पथ के यात्री का, विश्व अतिथि का
अभिवादन कर सके न शुद्ध हृदय से अपने !!
यही कि वह मेरे प्रिय पति का स्वर्ग दाय है !

"राग द्वेष से मुक्त समझकर गोद तुम्हारी
मैं शिशु का उपहार तुम्हें देने आयी थी !
धिक् तुमको, अपमान किया तुमने आत्मा का,
यही सर्व भूतों में आत्मा के दर्शन की
खोज तुम्हारी ? विश्वात्मा का बोध तुम्हारा ?
जिसको पाकर तुम अमरत्व प्राप्त कर लोगे !"

'क्या कहती हो ?'—सत्यकाम बोला मन ही मन !
उसी भर्त्सना भरे स्वरों में कहा ऋचा ने—
"क्या न सभी हम पुत्र एक ही मातृ प्रकृति के ?
क्या न एक ही विधि से पैदा होते सब शिशु ?—
मातृ अंक में पिता अंश से ? क्या समान सब
नहीं चराचर ? विश्व प्रकृति ने निर्धारित की
कर्म प्रेरणा जिनकी जग में ? उन्हें सौंपकर
अपने कुछ दायित्व, जिन्हें वे पूर्ण कर सकें ?—
स्रष्टा की योजना अग्रसर कर पृथ्वी पर !

"आत्म मोह से अन्धे तापस, अभी तुम्हारे
चक्षु नहीं खुल सके हृदय के, अहं पिण्ड तुम !
आत्म परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाये !
विश्व प्रेम की धारा से वंचित उर का मरु !
नहीं जानते क्या ईश्वर का प्रतिनिधि होता
भोला निश्छल शिशु—पावनता से भी पावन !

"छोड़ो छिछले आत्मवाद को, हृदयहीन जो !
जगन्मातृ के शिशुओं का जीवन सुखमय हो,
धरा धाम को उनके रहने योग्य बनाओ !
शिशुओं की सेवा कर तुम सदेह ईश्वर की,
विश्वात्मा की सेवा कर पाओगे निश्चय !
धिक् उस ईश्वर को जो जग जीवन से वंचित !

प्यार कर सकेगी अखण्ड ?—जैसा वह अब तक
करती आयी ! यह शंका ही मेरे मन में
राग द्वेष का तिक्त रूप धारण कर गोपन
लता कुंज का स्वप्न दृश्य बन गयी अचानक !

एक पाख भी नहीं हुआ !...वह कैसे मा बन
शिशु को लेकर मुझसे मिलने आ सकती है ?—
मेरे अन्तर को ईर्ष्या-दंशित करने को !
निश्चय ही, वह मन का भ्रम था ! अह, निश्चेतन
उपचेतन शक्तियाँ कहाँ भटका सकती हैं
मानव मन को, इसका अनुभव मुझे हो गया !

ऋचा, प्रेम की मूर्ति ऋचा, मैं तुम्हें कभी भी
भूल नहीं सकता ! वह मेरे मन का भ्रम था !—
समा गया जो आत्म-मोह बन मेरे भीतर !
क्षमा करो मुझको संशय की रात के लिए !
मार्ग दर्शिका बनी रहो मेरी सदैव तुम !

सत्यकाम प्रातः नैमित्तिक कर्म पूर्ण कर
तुरत चल दिया, हाँक धेनुओं को एकत्रित,
दिशा पकड़ आचार्य देव की तपोभूमि की,—
प्रथम स्वर्ण की रेख खिची भर थी प्राची में !

जीव ब्रह्म

सायं फिर अगले पड़ाव पर सत्यकाम ने
निर्झरिणी के फेनिल रव से आकर्षित हो,
रोक धेनुओं को, प्रदीप्त की अग्नि हव्य दे,—
नित्य कर्म कर, बैठा पूर्वाभिमुख शान्त वह !

स्वर्णिम निर्झर-सी रवि किरणें अस्ताचल से
फूट रही थीं मेघ शिलाओं से टकराकर,
ताम्र वर्ण वन छायाओं में गुँथकर, निःस्वर !
स्वप्नों का द्वाभांचल डाल अरण्य प्रान्त पर !

ग्रीवा मटका, चटुल चरण धर, मद्गु जल खगी
सत्यकाम के सम्मुख आकर, आर्द्र शब्द कर,
बोली, "दीक्षा लेने को प्रस्तुत हो, तापस ?"
सत्यकाम ने स्वीकृति दी, "भगवति !" कह उससे!

"प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है,
मननशील मन कला, चतुष्कल पाद ब्रह्म को !
जिसे आयतनवान् पाद बोलते ब्रह्मविद् !
इसकी उपासना कर विजयी हो तुम, साधक,
भुवनों पर आयतनवान् !" कह, विहगी चल दी
अपने धूम्रोज्वल पंखों को फड़का सहसा !

शिशुओं को जिसने न प्यार ही किया कभी भी
वह आत्मा की गहराई को छू सकता क्या?
वही सिखाते, कैसे मृदुल मृणाल तन्तु से
जगधात्री ने रचा वज्र-सा सुदृढ़ सृष्टि वपु!
प्रेम जहाँ करता निवास निज अमृत नीड़ में
औ' असीम करुणा, धीरज से भू जीवन को
सतत उठाता भाव-स्वर्ग के सोपानों पर!

"ज्योति-शिखर ऊँचाई का पा शुभ्र स्पर्श तुम
भले स्वयं को शुद्ध बुद्ध भव-मुक्त समझ लो,...
मुक्त नहीं तुम, बँधे हुए हो आत्म मोह में!
जाती हूँ मैं अपनी प्यारी बच्ची को ले,
तुम्हें नहीं आवश्यकता मेरी, मैं समझी!"

सत्यकाम का अन्तर्मन निःस्तब्ध हो गया,
खींच ले गया सार तत्व हो उसका कोई!
आत्मा का मृगजल खो रेती मात्र रह गयी,
आत्मग्लानि से चूर्ण हो गया उसका अन्तर!
गहन व्यथा से, क्रोध क्षोभ से भर उसका मन
उसको डँसने लगा—सर्प-सा उठा क्षुब्ध फन!

समझ गया वह मानव मन की सीमाओं को!
वह आत्मा से दूर, दूर, रज देह पिण्ड है!
आत्म ज्ञान का दर्प हो गया चूर-चूर सब,
सफल नहीं हो सका यथार्थ परीक्षा में वह!
जग जीवन के भीतर से उसको समता की
आत्म एकता की समग्र साधना तपस्या
करनी होगी, भव बन्धन में मुक्ति प्राप्त कर!
निर्जन में अपने को खो वह सिद्ध न होगी,
छाया ही बस हाथ लगेगी, ऋण मूल्यों के
मरु पथ में खो! जीवन की आत्मा से विरहित
आत्मा का जीवन क्या सम्भव इस पृथ्वी पर?

अपना मान न सका ऋचा के शिशु को मैं—जो
टुकुर-टुकुर ताकता रहा मेरा कठोर मुख!
मानव जग की निष्ठापूर्वक सेवा ही से
आत्मा का साक्षात्कार सम्भव समग्रतः,
अंश सिद्धि भर आत्म ज्योति में तन्मय होना!

सुनता हूँ मैं, योग मार्ग में ऐसे संकट
आते रहते प्रायः, जब सामान्य चित्त की
क्षुद्र वृत्तियाँ बाधक बन जातीं स्तर स्तर पर!
यह सब कैसे हुआ?...व्यग्र सोचने लगा वह,
सम्भव, मेरे उपचेतन में भय संशय था
पति को पाकर ऋचा पूर्ण मन से क्या मुझको

प्यार कर सकेगी अखण्ड ?—जैसा वह अब तक
करती आयी ! यह शंका ही मेरे मन में
राग द्वेष का तिक्त रूप धारण कर गोपन
लता कुंज का स्वप्न दृश्य बन गयी अचानक !

एक पाख भी नहीं हुआ ! ...वह कैसे मा बन
शिशु को लेकर मुझसे मिलने आ सकती है ?—
मेरे अन्तर को ईर्ष्या-दंशित करने को !
निश्चय ही, वह मन का भ्रम था ! अह, निश्चेतन
उपचेतन शक्तियाँ कहाँ भटका सकती हैं
मानव मन को, इसका अनुभव मुझे हो गया !

ऋचा, प्रेम की मूर्ति ऋचा, मैं तुम्हें कभी भी
भूल नहीं सकता ! वह मेरे मन का भ्रम था !—
समा गया जो आत्म-मोह बन मेरे भीतर !
क्षमा करो मुझको संशय की रात के लिए !
मार्ग दर्शिका बनी रहो मेरी सदैव तुम !

सत्यकाम प्रातः नैमित्तिक कर्म पूर्ण कर
तुरत चल दिया, हाँक धेनुओं को एकत्रित,
दिशा पकड़ आचार्य देव की तपोभूमि की,—
प्रथम स्वर्ण की रेख खिंची भर थी प्राची में !

जीव ब्रह्म

सायं फिर अगले पड़ाव पर सत्यकाम ने
निर्झरिणी के फेनिल रव से आकर्षित हो,
रोक धेनुओं को, प्रदीप्त की अग्नि हव्य दे,—
नित्य कर्म कर, बैठा पूर्वाभिमुख शान्त वह !

स्वर्णिम निर्झर-सी रवि किरणें अस्ताचल से
फूट रही थी मेघ शिलाओं से टकराकर,
ताम्र वर्ण वन छायाओं में गुँथकर, निःस्वर !
स्वप्नों का द्वाभांचल डाल अरण्य प्रान्त पर !

ग्रीवा मटका, चटुल चरण धर, मद्गु जल खगी
सत्यकाम के सम्मुख आकर, आर्द्र शब्द कर,
बोली, "दीक्षा लेने को प्रस्तुत हो, तापस ?"
सत्यकाम ने स्वीकृति दी, "भगवति!" कह उससे!

"प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है,
मननशील मन कला, चतुष्कल पाद ब्रह्म की !
जिसे आयतनवान् पाद बोलते ब्रह्मविद !
इसको उपासना कर विजयी हो तुम, साधक,
भुवनों पर आयतनवान् !" कह, विहगी चल दी
अपने धूम्रोज्वल पंखों को फड़का सहसा !

जीवों की मा उसे जान कर सत्यकाम ने
सृष्टि विधात्री को मन ही मन नमन किया द्रुत !

"मन ही वह आयतन"—सुना उसने विहगी स्वर,
"संग्रह करता जो समस्त इन्द्रिय संवेदन !
जीवों के संकुल जग में तुमको प्रवेश कर
पूर्ण ब्रह्म अनुभूति प्राप्त करनी भविष्य में !"
सत्यकाम की आँखों के सम्मुख अब धीरे
निखिल सृष्टि पट खुलता गया—भुवन दिग् विस्तृत!

पंच तत्व—जिनसे विराट् भौतिक जग निर्मित,
उनमें जल का ही कोमल वक्षःस्थल चुनकर
जीव तत्व की रचना की स्रष्टा ने पहिले !
अगणित लघु कीटाणु—बीज-क्षण से जीवन के
उर्वर जल अंचल में उगने लगे अतन्द्रित,—
उनसे धीरे विविध मच्छ कच्छादि रूप धर
जीवन भू पर लगा विचरने नभ में उड़ने,—
धरा गर्भ में, गिरि खोहों में, तरु नीड़ों में
वास बनाकर, जीव सृष्टि फैली जगती में !

देखीं उसने, जीव योनियाँ बहु रूपों की
जल स्थल नभ में तिरतीं, चलतीं, उड़तीं अनगिन
लघु कृमियों से बृहदाकार गजों सिंहों तक
तथा भूधराकार अनाम आदि-पशुओं तक—
जीवन आकांक्षा से प्रेरित, निखिल सृष्टि पर
आधिपत्य निज किये—गुह्य उद्देश्य के लिए !

अप्रकेत तम सागर जल से संघर्षण कर
कोटि योनितर, विपुल अनुभवों को संचित कर,
ऊर्ध्व रीढ़ मानव ने जन्म लिया जब उनमें
बहु विकासक्रम सोपानों पर शनैः चरण धर,
सृष्टि कला का गोपन मर्म लगा तब खुलने !
रवि प्रकाश के भीतर सूक्ष्म प्रकाशों का बहु
उसे स्पर्श सुख मिलने लगा निगूढ़ बोधमय !

अन्न वस्त्र आवास समस्याओं का किंचित्
समाधान कर, क्षुधा काम से लगा जूझने
वह युग स्थितियों के अनुरूप मूल्य दे उनको !—
पशु प्रवृत्ति जो अभी शेष थी उसके भीतर
उससे प्रेरित, राग द्वेष से परिचालित हो,
अपना केन्द्र अस्मिता ही को माना उसने !
खान पान परिणय की पद्धतियाँ निर्मित कर
कुल वंशों में बँट, सामाजिकता को उसने
जन्म दिया !—वह कला शिल्प ध्वनि रस बोधों से
उन्मेषित हो, तर्क विचार बुद्धि प्रज्ञा के

बल पर बहुश: नीति, धर्म, संस्कृति स्थापित की,
खण्ड युगों में जाति-वर्ग में भू-विभक्त हो !

जड़ में प्रथम निर्वतित, फिर जीवन में विकसित,
भू अवरोहण किया ब्रह्म ने जीव जगत् में,—
आरोहण मानव को करना पड़ा, पुन: वह
आत्मा का पा दिव्य स्पर्श, निज मूल सत्य का
सित अनुभव कर सके प्राप्त—सच्चिदानन्दमय !

बड़े-बड़े द्रष्टा ऋषि मुनियों ने वन युग में
ब्रह्म ज्ञान को गूँथा श्रुति प्रेरित सूक्तों में !
छील-छील तन-मन प्राणों के स्थूल स्तरों को
वे अक्षर आदित्य वर्ण आत्मा तक पहुँचे
परे तमस के,—भूतों में चिन्तन कर उसका
पान कर सके अमृत तत्व शाश्वत सत्ता का !

आत्मा के आलोक भुवन में लीन उन्होंने
त्याग दिया तन-मन प्राणों के जीर्ण पटों को
आत्मा के छाया-गुण्ठनवत् भू-लुण्ठित कर !
एकांगी आध्यात्मिकता का परम हर्ष पी
अन्तर्भुवनों ही में रमते रहे प्राज्ञ जन,
बहिर्जगत् के प्रति विरक्त, निष्क्रिय, निरुद्ध-गति !
अन्तर्जग के ऐश्वर्यों पर मुग्ध चमत्कृत
जटिल झाड़-झंखाड़ पूर्ण रख भू-जीवन को !

व्यक्ति मुक्तिमय ध्येय योग साधन दर्शन का
सिन्धु ज्वार ला सका नहीं मानव समाज में,
प्लावित कर दे जो सामूहिक पुलिन नियति के !
ब्रह्म ब्रह्म भी रह न सका—जग से वियुक्त हो,
ज्योति अस्थि पंजरवत् खड़ा विश्व काया का,
भाव शिराओं से विरहित, जीवों के वपु की
रक्त मांसमय श्री सुषमा गरिमा से वंचित !

ब्रह्म ज्योति कर प्राप्त समाधित-मन के द्वारा
वे उसका उपयोग नहीं कर सके जगत् के
जीवन के उन्नयन के लिए !—अन्धे को जब
आँख मिली—वह चित्-प्रकाश की चकाचौंध में
देख न पाया आरपार भव जीवन में रत
पूर्ण रूप आदित्य वर्ण उस ज्योति पुरुष का,
पुरुषोत्तम भी जो, द्रष्टा अग जग विधान का !

शुभ्र ब्रह्म अनुभव ही का आनन्दामृत पी
आत्म विभोर रहा असंग आत्मा का द्रष्टा !
जीवन द्रष्टा नहीं बन सका वह नि:संशय,
आत्म ऐक्य को मनुज ऐक्य में स्थापित कर जो
विशद विश्व जीवन की रचना करता भू पर !

अतः आदि उन्मेष सत्य का, विश्व दृष्टि से,
आत्म बुद्ध होने पर भी रीता अपूर्ण था,
विश्व-रूप को कर वियुक्त सम्पूर्ण सत्य से
व्यक्ति-परात्पर सम्बन्धों तक सीमित था वह !

भूत-निशा का यात्री जीवन ही जन-भू का
एकछत्र सम्राट्, मनुज मन सारथि जिसका !—
दीप-शिखा वाहक भर निश्चय वह भू पथ का,
जीवन जिससे विचर सके निश्चिन्त जगत् में !

जन-भू प्रेमी जल विहगी ने जीवन-दीक्षित
सत्यकाम ने देखीं बहुविधि जीव-योनियाँ
जल स्थल नभ पथ में जीवन संघर्षण करतीं,
आत्म सुरक्षा, सत्ता के उपभोग के लिए !
विश्व प्रकृति की सहज वृत्ति संचालन करती
उनके क्षण जीवी प्रजनन प्रिय अस्तित्वों का !

जीवन की चेतना अत्यधिक सृजनशील थी,
प्रति पग इसका अनुभव होता सत्यकाम को !
कोई ऐसी स्थिति, परिवेश, प्रसार नहीं था
जन्म न ले सकते थे लघु-लघु जीव जहाँ पर
विविध जटिल जड़ उपकरणों का आश्रय लेकर !
इस गति प्रियता, रचना प्रियता पर जीवन की
वह विमुग्ध था ! उसको अब सन्देह नहीं था
यह जड़ धरणी जीवन ही की कर्म क्षेत्र है !
मन केवल जीवन का बोध-सचिव भर जग में !

ऊर्ध्व बुद्धि-सोपानों पर चढ़ने के बदले
जीवन की समदिग् व्यापकता का मानव को
बोध प्राप्त कर, दिग् विराट् भू-मानव संस्कृति
निर्मित करनी जग में—प्रेरित मनुज-प्रीति से !

जीवन के प्रति ऐसी ही महदाकांक्षा से
उन्मेषित था जब उसका आशान्वित अन्तर—
धूपछाँह के पंख खोल जीवों की भावी
उसके मनोदृगों में मँडराई तब सहसा !
देखा उसने, भूतों के जड़ पाश खोलकर
अन्तर्जग के सदृश वहिर्जग में भी मानव
युग प्रवेश कर रहा,—विविध यन्त्रों के बल पर
सूक्ष्म निरीक्षण, गहन परीक्षण कर द्रव्यों का !

विपुल तड़ित्, परमाणु, रश्मि शक्तियाँ त्वरित गति
जड़ भूतों की अन्धी काराओं में बन्दी,—
उन्हें मुक्त कर युग-नर भू जीवन विधान को
बदल रहा कल्पनातीत कौशल अर्जित कर !

करामलकवत् देश काल पर विजयी होकर
भू भागों पर आवागमन मनुज का बढ़ता—
भिन्न भिन्न देशों के लोग परस्पर मिलकर
विश्व एकता में बँधते जाते हैं धीरे,
नयी चेतना, नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण से
प्रेरित होकर, भूत शक्तियों का प्रयोग कर
धरा जनों के दैन्य दुःख बन्धन हरने को,
धरती पर ही मनुज स्वर्ग रचने को उत्सुक!

किन्तु बहिर्मुख जीवन के दुर्धर्ष बोझ से
विश्व-शान्ति आक्रान्त, वृद्धि क्रय-स्पर्धा पीड़ित,
कुण्ठित हृदय, भावना भीषण ध्वंसात्मक बन
अग्नि प्रलय ढाने को उद्यत भौतिक युग में!
जगत् मृत्यु सन्त्रस्त, चित्त भय संशय मर्दित,
घोर विरोधी शिविरों में खण्डित भू जीवन,—
अह, कब क्या हो जाय, जानता इसे न जन-मन!

इसीलिए भावी द्रष्टा ले जन्म धरा पर
पूर्ण योग की कृच्छ् साधना कर भूतल पर,
वन युग के आध्यात्मिक, नव युग के वैज्ञानिक
जीवन-दर्शन के संयोजन पर बल देकर
ज्ञान तथा विज्ञान दृष्टि में महत् समन्वय
स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे निरन्तर
भू जीवन मंगल आकांक्षा से उन्मेषित!

ज्ञान-दृष्टि अन्तर्मन के वैभव से नर को
मनुष्यत्व के श्री स्वर्णिम मूल्यों को देती,
जिससे भोगी मनुज न भटके जन-भूपथ पर,—
जीवन इच्छा सहज सन्तुलन प्राप्त कर सके!

महत् भूत विज्ञान शक्ति भू पथ रचना में
बाधक नहीं, सहायक बने प्रबुद्ध मनुज की,
विद्युत् अणु के अश्वों पर आरूढ़ हो सके
प्राणों की संकल्प शक्ति, मानव आत्मा की
गरिमा की सन्देशवाह बन भौतिक जग में!
बहिरन्तर की बोध दृष्टियों के मंथन से
सूर्य-सत्य का अनुभव हो सकता समग्रतः,
भौतिक आध्यात्मिक पथ अपने में दोनों ही
एकांगी, निःसार, अपूर्ण, व्यर्थ हैं निश्चय!
विश्व समन्वय ही इसको द्वन्द्वों का
एकमात्र उपचार प्रतीत हुआ श्रेयस्कर!

भावी जीवन की अस्फुट मर्मर ध्वनि सुनकर
सत्यकाम को महत् सान्त्वना मिली चित्त में,

किन्तु साथ ही उसके विद्रोही अन्तर में
विकट हास्य की ध्वनि गूँजी कटु व्यंग्य से भरी! —
सत्यकाम को साथ सुखद आश्चर्य भी हुआ
अन्तर में पा पुनः ऋचा की दृप्त उपस्थिति!

"पुनः लौट आयी हो तुम!"—वह कहने को था—
बोली वह, "मैं भला रूठ सकती हूँ ऐसे
सिद्ध पुरुष से!—पूर्ण समन्वय ही में जिसको
समाधान सूझता समस्याओं का जग की!
इससे सस्ता क्या कोई दर्शन हो सकता!

"तम प्रकाश का, जन्म मरण का, धरा स्वर्ग का
गूढ़ ज्ञान विज्ञान दृष्टिकोणों का कल्पित
तुम्हें समन्वय करना ही क्या सार्थक लगता?

"पर, क्या नहीं असम्भव जीवन के द्वन्द्वों का
पूर्ण समन्वय?—जो कि विरोधी उपयोगी भी
अपने ही में!...तुम प्रकाश को अन्धकार को
करो समन्वित—दोनों ही सन्ध्या की भंगुर
द्वाभा बनकर मिट जायेंगे, अन्धकार ही
शेष रहेगा! या प्रकाश ही, यदि प्रभात में
स्वर्ण समन्वय करना चाहो! नहीं जानते
क्या, द्वन्द्वों से युक्त चरण धर कर ही जीवन
आगे बढ़ता—एक दूसरे के पूरक वे!

"मृत्यु द्वार है नव जीवन का—जन्म जीर्ण निज
वस्त्र फेंककर मृत्यु-अंक में, नये वसन फिर
धारण करता—यही यथार्थ जगत्-जीवन का!
जन्म मृत्यु से परे अनन्त अमर जीवन क्रम!
तुम स्वीकार करो द्वन्द्वों को! यह दर्शन का
क्षेत्र नहीं—संघर्ष-निरत जन-भू जीवन का
चिर विकास प्रिय महत् क्षेत्र है! मनोभुवन से
कहीं अधिक व्यापक, विचित्र, दुस्तर, निगूढ़ भी!

"यह आत्मा का रजताकाश नहीं, प्राणों की
हरित भूमि है, द्वन्द्वों ही की श्री शोभा का
जहाँ राज्य है! राग द्वेष, सुख दुख, विस्मय भय,
आस्था संशय गुँथे यहाँ अविभाज्य रूप से!—
आशा सँग नैराश्य खेलता आँख मिचौनी!
सत्य महत्तर सत्य बने, सुन्दर सुन्दरतर,
शिव शिवतर—द्वन्द्वों के बिना कभी सम्भव क्या?

मेघों की सी आकृतियाँ भावना कल्पना
यहाँ बदलतीं, नये रूप रेखाओं में नित
धूमिल मूल्यों को अंकित कर मनोगगन में,—
विद्युत् इच्छा की तूली से मति को रँगकर!

यहाँ सच्चिदानन्द निवास नहीं करते हैं,
उन्हें सूक्ष्म पीठिका बनाकर, जीव-प्रेम ही
शासन करता सहृदयता से, निज करुणा के
छत्र के तले, क्षमा-यष्टि लेकर निज कर में! —
क्योंकि जीव-जग भ्रान्ति, दोष, त्रुटि, स्खलन पूर्ण है!
आत्मसात् करना सीखो जीवन द्वन्द्वों को,
जीव प्रेम के बाहु पाश में उन्हें बाँधकर! —

दोनों जग में रहें,—रहेंगे सदा असंशय!
दोनों का उपयोग करो तुम, मनुज हृदय को
व्यापक से व्यापकतर बना, गहन से समधिक
बना गहनतर,—जिसमें समा सकें दोनों ही
पाप पुण्य, सद् असत्, प्रेम की दया क्षमामय
अकलुष पावनता में लय हो, प्रेमाऽमृत बन!

जीवन की चेतना अनन्त अखण्ड प्रेम है,
जीवन की आत्मा का सार अजेय प्रेम है!
मन से चाहो आत्मा निर्गुण हो, अरूप हो,
या असंग, निर्द्वन्द्व, मुक्त हो—पर जीवन की
आत्मा संगासंग, साथ ही द्रष्टा भोक्ता! —
उभय प्रवृत्ति निवृत्ति पर्ण-द्वय जीवन खग के!

छोड़ो अपना रिक्त समन्वय का ऋजु दर्शन,
रक्त मांस से रहित अस्थि-पंजर वह केवल!
अंगीकार करो जन-भू जीवन यथार्थ को,
पथ के कटु अवरोधों को अतिक्रम कर धीरे
जीवन का साम्राज्य गढ़ो मानव धरणी पर,—
आस्था रखकर जीवन की अविजित क्षमता पर!
सत्य अनृत की नहीं—अनन्त अखण्ड प्रेम की
पूर्ण विजय निर्धारित जग जीवन विधान में!
सत्य अनृत सापेक्ष मूल्य—संक्रमणशील जग!

"जीवन ईश्वर के प्रति करो समर्पित निज मन,
बाहर भीतर में न विभाजित करो सत्य को,
बहिरन्तर के भुवन अभिन्न अभेद्य निरन्तर!
योग इष्ट-तन्मयता है, उससे भी बढ़कर
योग कर्म-कौशल है—कर्म प्रधान विश्व में!

"सूक्ष्म दृष्टि है वही पकड़ जो सके स्थूल को,
मानव आत्मा की गरिमा को तुम भावी के
भू जीवन की गरिमा ही में देख सकोगे! —
यदि उसका निर्माण कर सकें आस्था पूर्वक
कर्म कुशल जन के कर-पद श्रद्धा निष्ठा से!
"बाहर देखो बाहर, व्यापक विश्व मनस् को
बाहर देखो परम चेतना के विधान को,—

धरा गर्भ से एक नया आलोक फूटकर
नये स्वर्ग के नये सूर्य को जन्म दे रहा,
नया सौर मण्डल निर्मित करने को उत्सुक!
उसकी किरणों के स्पर्शों से उन्मेषित हो
मनःसिन्धु में नयी धरित्री उभर रही जो
भू-संस्कृति का दिक् प्रासाद उठाओ उस पर—
कर-पद के भौतिक-श्रम को चैतन्य ज्योति के
स्वर्गिक स्पर्शों से सँवार सौन्दर्य-स्वप्न में!
ऐक्य-शक्ति ही भगवत्-शक्ति, न इसमें संशय,
सदुद्देश्य से सत्कर्मों के प्रति यदि प्रेरित!

"लौटो हे, लौटो, मन के, अधिमन के यात्री,
उतरो आत्मा के सूर्योज्वल अन्तरिक्ष से
जीवन की शस्य-स्मित स्वर्णिम-श्यामल भू पर!
देखो, सागर का फेनिल नीलांचल पकड़े
नाच रही ग्रह नक्षत्रों के दीप्त कक्ष में
वह अनन्त यौवना, विश्वमोहिनी, सुरों को
सम्मोहित करती निज अकलुष श्री शोभा से,—
चन्द्र कला को खोंस स्रस्त निज नभ वेणी में!
अपलक नील कमल दृग खोले सूर्योदय पर,
भूधर वक्षों से खिसका सुरभित मलयांचल!

"अधिक नहीं रोकूँगी तुमको, जाती हूँ मैं,
तुम गुरुकुल जाने को अत्यातुर लगते हो,
वहीं मिलूँगी तुमसे—मैं अपना परिचय दे!
एक बार जाने से पहिले, ध्यान-दृष्टि से
जन भू के आँगन का पुनः निरीक्षण कर लो,
मन के ईश्वर, आत्मा के ईश्वर के बदले
जीवन के ईश्वर को करना जहाँ प्रतिष्ठित!"

सत्यकाम ने देखा पाँच गृद्ध आपस में
तिग्म प्रखर चोंचों डैनों से जूझ रहे हैं,
क्षत विक्षत हो, छोटे-से पशु शव के पीछे!
और अचानक काम क्रोध मद मोह लोभ ज्यों
गृद्धों से कढ़, मूर्त रूप धर उसके सम्मुख
खड़े हो गये, विकट कलहकारी मुद्रा में!

उसे लगा, ये बाधक जन-भू जीवन पथ के
सावधान रहना है इनके प्रति मनुष्य को!
वैसे कुछ भी व्यर्थ नहीं जग के विधान में,
इनका भी उपयोग अहंता के विकास में—
सदसत् का ऋण अनुभव देते ये भू-मन को!

देखा उसने, क्रुद्ध हिंस्र दो नर पशु लड़ते
रक्त सिक्त कर एक दूसरे को पंजों से,—

वे भीषण हुंकार छोड़ते गुँथे परस्पर,
काँप रही मादा विभीत हो उनके सम्मुख !
सहसा दो युवकों में बदल गये दोनों पशु,
काम-द्वेष से पीड़ित हों जो, स्त्री के पीछे,
आपा खोकर, भूल मनुजता की गरिमा को,
एक दूसरे का बध करने को तत्पर हैं !

सत्यकाम ने सोचा काम अजेय शक्ति है,
वह प्रजनन का स्रोत, सृजन का उन्मेषक भी,
क्षुधित काम को रस संस्कृत करना आवश्यक,
नारी जिससे मुक्त हो सके नर ईर्ष्या से !—
वह भू-श्री-शोभा की प्रतिनिधि सुलभ हो सके
भाव-गन्धमय अनघ प्रेम के लिए सभी को !
कमल नाल से बद्ध—सूर्य प्रति दृष्टि निर्निमिष,
स्त्री गृह से हो बँधी, विश्व जीवन प्रति हो रति !

देखा उसने वन पशुओं में प्रथित श्रेष्ठ पशु
जो वन के राजा, वन की शोभा गरिमा हैं—
मत्त सिंह गज ऋक्ष आदि जुट युद्ध कर रहे,
कर्कश चिंघाड़ें, अति विकट दहाड़ें सुनकर
वन की प्रजा—हिरन, कपि, शश,—सब शीश नवाये !
पलक मारते धर्म ध्वजाएँ फहरा उठतीं,
भिन्न - भिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में
लड़ते कुत्तों-से,—धर्मों के आदि प्रवर्तक
भक्तों के दुष्कृत्य देखकर आत्म ग्लानि से
नत मस्तक हो, डूब रहे सागर-विषाद में !

मनुज एकता के वे उसको शत्रु-से लगे !
धर्मों के दिन अब लद गये—विचारा उसने,
मनुज प्रेम अवलम्बी बनना है भविष्य में
भू मानव को—सत्यकाम को हुई प्रेरणा !

एक ओर भावी की झाँकी झूली सहसा
ध्यानमग्न मन के नयनों में सत्यकाम के—
देखा उसने वृत्रासुर के दानव प्रतिनिधि
अपने विषधर दर्प फणों को नचा भयंकर
टूट रहे अब एक दूसरे पर,—शत फेनिल
फूत्कारों से दंशित कर प्रतिस्पर्धी अहि को !
उनकी फुंकारों के विष-धूमिल मेघों से
फूट रहीं लपलप प्रचण्ड पावक ज्वालाएँ—
मूर्छित विश्व चराचर जिनके दुष्प्रभाव से !

उन अदम्य सर्पों की केंचुल झाड़, मदोद्धत
कुछ भू देशों के अधिनायक निकले बाहर
भीषण आग्नेयों, आणव अस्त्रों से सज्जित,—

निर्मम सैन्यों की चापों से कम्पित कर भू,
वे अदृश्य ही नभ में लड़ते वज्र नाद कर
महानाश ढाने को उद्यत जन धरणी पर !

तड़ित् प्रज्वलित अन्तरिक्ष में महा प्रलय के
मेघ घुमड़कर लगे गरजने दारुण स्वन कर,
नक्षत्रों की ज्योति-शृंखला से भू गोलक
छिन्न भिन्न होकर विनष्ट होने ही को था—

जब सहसा ही युग जीवन की उठी यवनिका
नव वसन्त का दृश्य प्राकृतिक-पट पर झूला—
एक महामानव आ निर्भय विश्व मंच पर
प्रकट हुआ, चित् शुभ्र सौम्य वस्त्रों में भूषित !
उसने अपने कर की शान्त अभय मुद्रा से
महानाश को रोका, तितर बितर कर संशय
भय के अँधियाले मेघों को अन्तर्नभ में !

वह धरती का सुत जो सामूहिक मानव था
शील नम्र वाणी में बोला भू के जन से—
शान्ति शान्ति ! मत महानाश ढाओ भूतल पर !
आत्म निरीक्षण करो ! सत्य का पथ न जुगुप्सा !
हिंसा पशु का अस्त्र ! अहिंसा ही मानव का
दिव्य अमोघ कवच ! जिसको धारण कर ही नर
विजय वैजयन्ती फहरा सकता भूतल पर !
अमरों को आमन्त्रित कर सौहार्द के लिए !

मानव सत्य अहिंसा ही है,—परम प्रेम जो !
यही सत्य पथ ! जिस पर क्रम विकास के पग धर
मनुज प्रगति कर सकता शाश्वत ! धरा धाम को
स्वर्ग लोक में, लोक-स्वर्ग में दिक् परिणत कर !
जीवन-सागर का मन्थन कर अमृत और विष
निकले—प्रेम घृणा प्रतीक जो मनुज हृदय के !
प्रेम अमृत कर पान, बनो निर्भय, अजेय तुम !
देख रहा हूँ मैं, भविष्य में सूर्य ज्योति से,
सिन्धु वारि से तड़ित् शक्ति कर प्राप्त मनुजता
ऊर्जस्वल बन, नव भू जीवन स्वर्ग रचेगी !

सहज सत्य का जादू था उसकी वाणी में !
निर्मम हृदय धरा-जन का छू, मुक्त प्रेम दे,
द्रवित कर गया वह ! विनाश का गरल पान कर,—
स्वयं आत्म बलि दे, जन युग के क्रूर नाट्य को
वियोगान्त से संयोगान्त बना,—जन उर में
शनैः जन्म ले, सरल हास्य से उन्हें क्षमा कर !
आत्म वीर था, परम वीर गति पायी उसने !

सत्यकाम को हुआ प्रतीत, असंशय ही वह
महापुरुष ही सच्चा आध्यात्मिक मानव था!
जीवन भर तप खँटकर जिसने, आत्म त्याग कर,
मानव आत्मा के प्रकाश से भू जीवन के
अन्धकार को हर, जीवन उन्नयन के लिए
अथक लोक-श्रम, धैर्य वीर्य साहस से अविजित
जूझ विकट भौतिकता की संगठित शक्ति से
यत्न अजेय किया पद-दलित धरा-जीवन को
नव गौरव देने! इसका ही त्याग त्याग है!

वही तपस्वी वास्तव में, जिसने आत्मा को
जीवन मन से कभी वियुक्त नहीं कर, उनको
एक अभिन्न अखण्ड सत्य माना निःसंशय!
ज्ञान भक्तिमय कर्मयोग का ऐसा अद्भुत
अन्य निदर्शन नहीं विश्व में! वह प्रणम्य है!

देख रहा मैं, वह सहस्र पादों से चलकर
लोक कर्म कर रहा सहस्र कुशल हस्तों से,—
उसकी ही चेतना प्रेरणा नव जीवन की,
वही सत्य द्रष्टा, स्रष्टा है! वह प्रणम्य है!
जन भविष्य के शिखर पर खड़ा, आत्म नम्र वह
साधारण नर, ध्वजा उठाये विश्व प्रेम की,
लोक साम्य की, आत्म ज्योति की दिव्य तिरंगी!

उसने दर्शन-गूढ़ विचार न दिये जनों को,
सरल सुबोध हृदय की भाषा में वह बोला
मनुष्यत्व का सत्य, यथार्थ धरा जीवन का,
साधारण जन मानस में चिर [illegible]!
धीरे कई वाँझ दशकों तक [illegible]
उसकी वाणी जीवन में [illegible]—
पशु मानव बन रहा,—[illegible]!

सत्यकाम जन-भू [illegible] में
आशान्वित हो [illegible]!
वही सत्य जो [illegible]
कर्म प्रेरणा देता [illegible] विश्वासप्रद!
निश्चय ही [illegible] है!

शान्त, [illegible] में [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] के!

"पुरुष सहस्र शीर्ष, सहस्र चक्षुमय, वत्सो,
वह सहस्रपद—वेष्टित कर ब्रह्माण्ड को निखिल,
दश अंगुल ब्रह्माण्ड से परे व्याप्त व्यवस्थित !
भूत भविष्यत् वर्तमान का विश्व पुरुष ही,
वह अमरों ऋभुओं का स्वामी—अपने में स्थित !
अतिरोहण करता समस्त जड़ चेतन को वह,
पुरुष विश्व से अविच्छिन्न है; वही विश्व है !

"परमात्मा का सक्रिय रूप हिरण्यगर्भ बन,
फिर विराट् से पुरुष प्रकृति में द्विधा भक्त हो,
भौतिक जग में प्रसरित होता,—अतः तत्वतः
परमेश्वर में और जगत् में भेद नहीं है !
वे अभिन्न हैं ! निखिल विश्व महिमा भर प्रभु की,
वह महान् है कहीं विश्व से—एक पाद जो,
दिव में अमृत त्रिपाद अवस्थित—ज्योतिर्मय जो !
दिशा काल से अनवच्छिन्न महत्ता उसकी !
जीवों में उसने प्रवेश कर सृष्टि रची यह
एक सूत्र में बांध सहज देवों चींटी को !

"देवों ने जब मानस यज्ञ किया समष्टि के
श्रेय के लिए—स्वयं पुरुष को हवि स्वरूप में
संकल्पित कर,—तब वसन्त ही आज्य, ग्रीष्म ही
समिध, शरद हवि बना लोक मंगल से प्रेरित !
पशु इच्छाओं की बलि दे मन की वेदी पर
दिव्य शक्ति कर सके प्राप्त नर, ऊर्ध्व प्राण बन,—
यज्ञ विधान रचा देवों ने मनुज के लिए !

"वह विराट् फिर परिणत हुआ मनुज समाज में,
कर्मों के अनुरूप हुआ वह वर्ण विभाजित,—
सभी वर्ण अवयव समान उस दिग् विराट् के !—
विद्या, शौर्य, विभव, सेवा-श्रम के प्रति अर्पित !
उस विराट् के मन से चन्द्र, चक्षु से सूरज,
मुख से इन्द्र अग्नि, प्राणों से वायु विस्तरित,
नाभि केन्द्र से अन्तरिक्ष, सिर से सजित द्यौ,
चरणों से भू, श्रवणों से दिशि लोक बने बहु !
इस प्रकार एक ही पुरुष अग जग में वितरित,
भेद जगत् में ईश्वर में अज्ञान जनित भ्रम !"—

सत्यकाम जब पहुँचा गौतम के आश्रम में
पुरुष सूक्त के छन्द पड़े उसके श्रवणों में,
श्रेष्ठ प्राज्ञ समझाते थे जिनको शिष्यों को !
पार किया कब दीर्घ वन्य पथ मन सा उलझा,
जान नहीं पाया वह, कब कैसे दिन बीता,

पंख उगे हों स्मृति के, वह उड़कर आया हो,—
ऐसी उत्कट अभिलाषा थी गुरु दर्शन की !

विश्व प्रकृति के मस्तक पर सौन्दर्य तिलक-सा
दशमी का शशि शोभित था नभ में स्वर्णोज्वल !
आश्रम-सुमनों की सौरभ पी वन्य समीरण
शान्त, स्वस्थ, स्थिर लगता प्राणायाम सिद्ध सा !

जब परिचित गोपुर में पहुंचा, देखा उसने
ऋषिवर को सामने खड़े निज पर्ण कुटी के,
स्मित नयनों से बाट देखते हुए उसी की !
उसने चरणों पर गिरकर साष्टांग दण्डवत्
किया उन्हें, लोचन उन्मीलित किये जिन्होंने
ज्ञानांजन की दिव्य शलाका से मानस के !

उसने सर्व प्रथम सहस्र गो सौंपी गुरु को
जो उसके सँग भेजीं गुरु ने गूढ़ ध्येय से,—
कर्म व्यस्त रह सके साधना के सँग ही वह,
सेवा से चरितार्थ हो सके तत्व-साधना !

ध्यान-दृष्टि से जान लिया था ऋषि गौतम ने,
सिद्धि प्राप्त कर अब उनका प्रिय शिष्य लौटकर
गुरुकुल को आ रहा ! उन्होंने सत्यकाम को
उठा, गले से लगा, अभय मुद्रा में उसको
भूरि-भूरि आशीर्वाद दे, निकट बिठाया !

देख ध्यान से उसे पुनः बोले प्रसन्न मन,
"वत्स, ब्रह्मविद्-से लगते तुम ! तुमको किसने
दीक्षा दी ?" बोला विनम्र स्वर में वह ऋषि से,
"मनुजेतर प्राज्ञों से दीक्षा पाकर, गुरुवर,
आया हूँ मैं पुनः आपके श्री चरणों में,—
पूर्णाहुति देने वरिष्ठ साधना यज्ञ में !"

"एवमस्तु !" बोले ऋषि,"वत्स उचित ही है यह !
गुरु चरणों पर अर्पित कर साधना सिद्धि फल,
आत्म मुक्त बन, तुम फिर गुरु से ग्रहण कर सको
उसको, जिससे संयोजित हो सको पूर्णतः !
सत्य दृष्टि तुममें स्वयमपि अन्तःप्रकाश बन
स्वतः स्फुरित हो—वहिर्यत्न से प्राप्त न रहकर !

"पुत्र, धन्य तुम ! तुमसे सत्य-पिपासु, साथ ही
सेवा व्रत में रत साधक विरले ही होते !
गो सेवा से धैर्य सीखकर भू-जन सेवा
तुम्हें नहीं दुष्कर प्रतीत होगी भविष्य में !
विश्व कर्म ही में सार्थकता परम ज्ञान की,—
लोक प्रेम ही निश्चय मंगल कर्म प्रणेता !
स्वस्ति ! वत्स, बरसाओ भू पर ज्ञान मेघ को !"

"पुरुष सहस्र शीर्ष, सहस्र चक्षुमय, वत्सो,
वह सहस्रपद—वेष्टित कर ब्रह्माण्ड को निखिल,
दश अंगुल ब्रह्माण्ड से परे व्याप्त व्यवस्थित !
भूत भविष्यत् वर्तमान का विश्व पुरुष ही,
वह अमरों ऋभुओं का स्वामी—अपने में स्थित !
अतिरोहण करता समस्त जड़ चेतन को वह,
पुरुष विश्व से अविच्छिन्न है; वही विश्व है !

"परमात्मा का सक्रिय रूप हिरण्यगर्भ बन,
फिर विराट् से पुरुष प्रकृति में द्विधा भक्त हो,
भौतिक जग में प्रसरित होता,—अतः तत्वतः
परमेश्वर में और जगत् में भेद नहीं है !
वे अभिन्न हैं ! निखिल विश्व महिमा भर प्रभु की,
वह महान् है कहीं विश्व से—एक पाद जो,
दिव में अमृत त्रिपाद अवस्थित—ज्योतिर्मय जो !
दिशा काल से अनवच्छिन्न महत्ता उसकी !
जीवों में उसने प्रवेश कर सृष्टि रची यह
एक सूत्र में बाँध सहज देवों चींटी को !

"देवों ने जब मानस यज्ञ किया समष्टि के
श्रेय के लिए—स्वयं पुरुष को हवि स्वरूप में
संकल्पित कर,—तब वसन्त ही आज्य, ग्रीष्म ही
समिध, शरद हवि बना लोक मंगल से प्रेरित !
पशु इच्छाओं की बलि दे मन की वेदी पर
दिव्य शक्ति कर सकें प्राप्त नर, ऊर्ध्व प्राण बन,—
यज्ञ विधान रचा देवों ने मनुज के लिए !

"वह विराट् फिर परिणत हुआ मनुज समाज में,
कर्मों के अनुरूप हुआ वह वर्ण विभाजित,—
सभी वर्ण अवयव समान उस दिग् विराट् के !—
विद्या, शौर्य, विभव, सेवा-श्रम के प्रति अर्पित !
उस विराट् के मन से चन्द्र, चक्षु से सूरज,
मुख से इन्द्र-अग्नि, प्राणों से वायु विस्तरित,
नाभि केन्द्र से अन्तरिक्ष, सिर से सर्जित द्यौ,
चरणों से भू, श्रवणों से दिशि लोक बने बहु !
इस प्रकार एक ही पुरुष अग जग में वितरित,
भेद जगत् में ईश्वर में अज्ञान जनित भ्रम !"—

सत्यकाम जब पहुँचा गौतम के आश्रम में
पुरुष सूक्त के छन्द पड़े उसके श्रवणों में,
श्रेष्ठ प्राज्ञ समझाते थे जिनको शिष्यों को !
पार किया कब दीर्घ वन्य पथ मन सा उलझा,
जान नहीं पाया वह, कब कैसे दिन बीता,

अमित दया का सूक्ष्म स्पर्शमणि स्पर्श प्राप्त कर
दिव्य चेतना-पूर्ण शान्ति के, ज्योति प्रीति के
चिद् वैभव भुवनों पर विचरण कर, शाश्वत का
अमृत हर्ष कर पान, भक्ति-तन्मय रहते थे !

कुछ साधक विज्ञान भूमियों को अधिकृत कर
त्रिकालज्ञता, ऋद्धि सिद्धि अर्जित कर बहु विध
सिद्ध पुरुष लगते थे,—विपुल विशिष्ट शक्तियाँ
वितरित करने में सक्षम, आनन्द समाधित !
अणिमा, महिमा, गरिमा, गुटिका, प्राप्ति प्राप्त कर
कुछ प्राकाम्य, वशित्व और ईश्वत्व सिद्ध थे ! —

एक मनोजग में प्रवेश कर अन्य मनों के
भाव जान लेता था,—लघिमा सिद्ध दूसरा
डूबे बिना सरित में, जल पर चल सकता था !
अन्तर्धान एक हो जाता सिद्धि प्राप्त कर,
अन्य देह से ज्योति किरण बरसाता निशि में ! —
गौतम का आश्रम क्या था विज्ञान लोक था !

विविध विभागों में आश्रम के मुक्त भ्रमण कर
वह सराहता था गुरुवर की कर्म कुशलता !
आश्रम क्या, वह एक विश्व ही था अपने में
स्वावलम्ब का पूर्ण निदर्शन उस वन युग में !
सौम्य शान्त थे छात्र, स्वच्छता सर्वोपरि गुण,
मनन अध्ययन के सँग ही व्यायाम में निपुण,
देह प्राण की जिसे प्रार्थना कहते गुरुवर ! —
देह आदि साधन थी उनको धर्म ज्ञान की !

छात्रालय के साथ अध्ययन कुञ्ज बने थे,
जहाँ शान्ति से ध्यानमग्न रह सकते साधक !
कन्द मूल फल के अतिरिक्त अनेक भाँति के
पक्वोदन मिलते थे भोज-कक्ष में विस्तृत !
गन्ध द्रव्य बनते थे बहुविध धूप दीप के,
यज्ञ कर्म के लिए हव्य सामग्री पावन !
ऋतु तरुओं में विपुल फूल फल फलते रहते !

एक शिष्य संन्यास ले रहा था आश्रम के
वृद्ध तपस्वी से—शम दम सम्पत्तिवान् जो
शान्त भाव के साधक थे ! वे भक्ति मार्ग को
दीन, दुर्बलों, असमर्थों का मार्ग समझते !
उनका शिष्य जितेन्द्रिय था, संन्यास योग्य था,
प्रकृति विकृति से शून्य, भावनातीत भाव में
आत्मा का आत्मा से रमण चाहता करना !
शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द का अनुभव करने

सत्यकाम अब पूर्ण मुक्त अनुभव करता था,
शान्त, सहज संयोजित उसको लगता था मन !
प्रथम गुह्य इच्छा जो उर में जगी अलक्षित
वह थी मधुर ऋचा की स्मृति !—उससे आश्वासन
पाकर, उसकी मौन दृष्टि उसको आश्रम में
खोज रही थी !···गुरुवर उसके मनोभाव को
समझ रहे थे !···वे उसके मन में प्रवेश कर
उसकी ममता की प्रतिमा को देख सके थे !
मन्द स्मित मुख, सत्यकाम से सहज उन्होंने
पूछा,"किसको खोज रहे हो वत्स, ऋचा को ?"

सत्यकाम झिझका, लज्जा से रक्त वर्ण हो !
उसने समझा सुधी ऋचा पहिले से आकर
गुरु से अपने आने का उद्देश्य कह चुकी—
खोल चुकी हो स्यात् भेद भी गूढ़ मिलन का !

"कौन ऋचा ? कैसी ? वह कहाँ मिली थी तुमको !"—
ऋषि ने प्रश्न किया परिहास भरे स्वर में फिर !
सत्यकाम दृग उठा न देख सका गुरु का मुख !
और सोचने लगा कि कितने गूढ़ रूप से,
बाँध लिया उसने मेरे उर को अनजाने !

"वत्स, योग माया थी वह, आश्चर्य मत करो !"
बोले हँसकर ऋषिवर, "परा प्रकृति की माया !
योग साधना में पथ निर्देशन करने को
समय समय पर वही गुह्य पथ से गोचर हो
सूक्ष्म रूप धर प्रकट हुई थी मन के भीतर
कभी मूर्त बन फिर अमूर्त—जैसी भी स्थिति थी !
क्योंकि साधना मार्ग कठिन दुष्कर होता है,
साधक खो जाता है सत्याभासों ही में !—
यही ऋचा का परिचय, अब वह तन्मय तुममें !"

सत्यकाम के मन में एक प्रसन्न शान्ति-सी
हुई अवतरित, परिचय पाकर रहस ऋचा का !
सुख दुख के मिश्रित आँसू उसके अन्तर से
झर झर फूट पड़े अविदित नयनों के पथ से !
मुक्त हो गया वह अपने से अपने में स्थित !

गुरुकुल अब उसको शिक्षा संस्थान सदृश ही
लगता था, तन मन प्राणों में जहाँ सन्तुलन
स्थापित कर साधक, विकसित चैतन्य दृष्टि से
जग का, जग जीवन का मूल्यांकन करते थे !
कुछ वरिष्ठ साधक अधिमन के उन्नत स्वर्णिम
ऋत सोपानों पर अधिरोहण कर अपने को
पूर्ण समर्पित कर प्रभु के प्रति, उनकी अक्षय

अमित दया का सूक्ष्म स्पर्शमणि स्पर्श प्राप्त कर
दिव्य चेतना-पूर्ण शान्ति के, ज्योति प्रीति के
चिद् वैभव भुवनों पर विचरण कर, शाश्वत का
अमृत हर्ष कर पान, भक्ति-तन्मय रहते थे !

कुछ साधक विज्ञान भूमियों को अधिकृत कर
त्रिकालज्ञता, ऋद्धि सिद्धि अर्जित कर बहु विध
सिद्ध पुरुष लगते थे,—विपुल विशिष्ट शक्तियाँ
वितरित करने में सक्षम, आनन्द समाधित !
अणिमा, महिमा, गरिमा, गुटिका, प्राप्ति प्राप्त कर
कुछ प्राकाम्य, वशित्व और ईशत्व सिद्ध थे !—

एक मनोजग में प्रवेश कर अन्य मनों के
भाव जान लेता था,—लघिमा सिद्ध दूसरा
डूबे बिना सरित में, जल पर चल सकता था !
अन्तर्धान एक हो जाता सिद्धि प्राप्त कर,
अन्य देह से ज्योति किरण बरसाता निशि में !—
गौतम का आश्रम क्या था विज्ञान लोक था !

विविध विभागों में आश्रम के मुक्त भ्रमण कर
वह सराहता था गुरुवर की कर्म कुशलता !
आश्रम क्या, वह एक विश्व ही था अपने में
स्वावलम्ब का पूर्ण निदर्शन उस वन युग में !
सौम्य शान्त थे छात्र, स्वच्छता सर्वोपरि गुण,
मनन अध्ययन के सँग ही व्यायाम में निपुण,
देह प्राण की जिसे प्रार्थना कहते गुरुवर !—
देह आदि साधन थी उनको धर्म ज्ञान की !

छात्रालय के साथ अध्ययन कुञ्ज बने थे,
जहाँ शान्ति से ध्यानमग्न रह सकते साधक !
कन्द मूल फल के अतिरिक्त अनेक भाँति के
पक्वोदन मिलते थे भोज-कक्ष में विस्तृत !
गन्ध द्रव्य बनते थे बहुविध धूप दीप के,
यज्ञ कर्म के लिए हव्य सामग्री पावन !
ऋतु तरुओं में विपुल फूल फल फलते रहते !

एक शिष्य संन्यास ले रहा था आश्रम के
वृद्ध तपस्वी से—शम दम सम्पत्तिवान् जो
शान्त भाव के साधक थे ! वे भक्ति मार्ग को
दीन, दुर्बलों, असमर्थों का मार्ग समझते !
उनका शिष्य जितेन्द्रिय था, संन्यास योग्य था,
प्रकृति विकृति से शून्य, भावनातीत भाव में
आत्मा का आत्मा से रमण चाहता करना !
शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द का अनुभव करने

निर्विकल्प निर्गुण समाधि में लय होने की
प्रबल अभीप्सा से उसका उर आकुल रहता !
ब्रह्म ज्ञान, वेदान्त शास्त्र सम्मत, अर्जित कर,
एकमात्र सद् वस्तु बोध में अवगाहन कर,
नित्य मुक्त बनने की उसको तीव्र साध थी !
शिखा सूत्र औ' अष्ट पाश का त्याग कराकर,
पूर्व कृत्य कर पूर्ण यथाविधि, शुभ मुहूर्त में
गुरु ने की होमाग्नि प्रज्वलित, सर्व त्याग का
व्रत लेने से पूर्व, विहित मन्त्रों की ध्वनि से
गूँज उठा पावन परिवेश निखिल आश्रम का !

गुरु के सँग ही, मन्त्रोच्चार सहित, साधक भी
आहुति देता यज्ञ-अग्नि की क्षुधित शिखा को !—
"ब्रह्म ज्ञान में समुपस्थित शाश्वत परमात्मन् !
परब्रह्ममय तत्व प्राप्त हो मुझे, साथ ही
परमानन्द अखण्ड, एक रस ब्रह्म वस्तु से
आलोकित हो मेरा उर ! मैं दिव्य दया का
पात्र बन सकूँ ! जगत् रूप दुःस्वप्न हरो यह !

"हे परमेश्वर, द्वैत जनित मेरे दुःखों को
नाश करो ! मैं प्राण वृत्तियों की आहुति दे,
निखिल इन्द्रियों का निरोध कर, अर्पित होऊँ
एक चित्त से प्रभु के प्रति, प्रेरणा स्रोत जो,
ज्ञान प्राप्ति पथ के सब बाधा बन्धन, तम भ्रम
छिन्न-भिन्न कर, तत्त्व ज्ञान के योग्य बनाओ !
सूर्य चन्द्र, सरिताओं का जल, वायु वनस्पति,
सकल पदार्थ बनें अनुकूल, सहायक पथ के !

"हे ब्रह्मन्, तुम ही इस जग में बहु रूपों में
अभिव्यक्त ! मेरे तन मन औ' प्राण शुद्ध हों,
एतदर्थ, हे अग्नि रूप, मैं आहुति देता,
तुम प्रसन्न हो ! मेरे भीतर पंचभूत के
अंश शुद्ध हों, पंच प्राण औ' पंच कोष भी !
मेरे भीतर शब्द स्पर्श, रस रूप गन्ध के
विषयों के संस्कार, कर्म मन वचन शुद्ध हों !
हे शरीर में सोये लोहित-चक्षु पुरुष तुम
ज्ञान मार्ग की बाधा हरकर, जाग्रत् हो अब !

"मैं दारा सुत सम्पद् कीर्ति आदि की इच्छा
अर्पित करता हूँ चिदग्नि में आहुति देकर !
मैंने लोक प्राप्ति की इच्छा सभी त्याग दी !
अभय दान देता समस्त मैं प्राणि मात्र को !"

तदुपरान्त गुरु ने उपदेश उसे दे बहुविध,
ब्रह्म ध्यान में लय होने की बता पूर्ण विधि,

निर्विकल्प निश्चल समाधि स्थिति में जाने का
साधक को उपदेश दिया, आशीर्वाद दे !

सत्यकाम सोचता रहा संन्यास वृत्ति पर,
मधुर भाव साधना उसे प्रिय थी जीवन में,—
भावमुखी बन, भावमुखी, मन, लोक श्रेय हित,
वह निज ब्रह्म विलासी मन से कहता रहता !
भावाविष्ट सहज हो जाता था उसका मन !

किन्तु, उपेक्षा नहीं कर सका सर्व त्याग की,
चरम भावना की वह,—यद्यपि विश्व कर्म को
उसका मन देता महत्व था, आत्म त्याग की
लोक कर्म के लिए महत्ता भी थी अपनी,—
कूप वृत्ति नर सागर बन जाता समाज में !
ऋण निषेध उसको लगता था शुष्क, अनुर्वर,
महानन्द में समाधिस्थ मन भू-सेवा-च्युत !

सत्यकाम के आने से कुछ आश्रमवासी
उद्वेलित हो उठे नये उसके विचार सुन !
कोई उसको तपोन्माद से पीड़ित कहता,
कोई विकृत तथा तपभ्रष्ट उसे बतलाता,
परम्परागत ऋषिदर्शन का तिरस्कार कर
मनुओं, ऋभुओं की श्रेणी में रख अपने को
महापुरुष लोगों से कहलाना प्रिय उसको !

सत्यकाम निज सौम्य प्रकृति से उन्हें पराजित
करता रहता—बिना विरोध किये ही उनका !
गुरु गौतम पर उसे अटल आस्था श्रद्धा थी,
और समझते थे गुरु उसके मनोभाव को !

सभी विवर्तन नहीं विचारों ही से घटते,
स्वरलय में साधना बाँधती भर अन्तर को,—
अभिव्यक्ति दे सके सूक्ष्म वह आत्म सत्य को !
कर्म सिद्धि ही मात्र कसौटी क्रम विकास की,
साध्य चयन सम्यक् प्रमाण सत्तम साधन का—
सत्यकाम अब सोचा करता अपने मन में !

वे भी छात्र मिले उसको—उपहास जिन्होंने
किया गोत्र के कारण पहिले सत्यकाम का,
दो दशकों के बाद तरुण हो चुके सभी वे !
अब वे विद्या-नम्र प्रणत मस्तक हो उसके
सम्मुख आ, उसके वरेण्य चरणों को छूकर
श्रद्धा से उसको प्रणाम अर्पित करते थे !
उसे पिता की नहीं, मात्र अब परम पिता की
अन्तरतम में थी, [illegible] में प्रीति !

व्यक्ति प्रकृति की दुर्बलताएँ, दोष, विकृतियाँ—
उसको लगता इनके मूल धरा-मन में हैं!
जब तक भू-मन का उद्धार न हो सामूहिक
जन मन में ये बिम्बित होती सदा रहेंगी!
भू स्थितियों का परिष्कार कर ही सबके हित
भू-मन का संस्कार सहज सम्भव हो सकता!
अतः व्यक्ति के सर्व त्याग से उसे असंशय
जन-भू का निर्माण अधिक आवश्यक लगता!

समता स्थापित कर जीवन के वैषम्यों में
वह जन की पथ बाधाएँ हरने को उत्सुक
महत् कर्म के सदभियान के लिए निरन्तर
यत्नशील रहता जन-भू दैन्यों से प्रेरित!
क्षमा तुरत कर देता दुष्टों को उसका मन
क्योंकि दुष्ट-मन पर अपने जय पाना दुष्कर,
इसे जानता वह, मन दुष्ट किसी का होता!

योग दृष्टि द्वारा गुरुवर ने समय समय पर
उसको जो उपदेश दिये थे, उनसे शासित
सत्यकाम ऊपर के चित् अरूप वैभव को
धरती पर अवतीर्ण करा कर, भू जीवन को
तदनुरूप शोभा गरिमा में ढाल निरन्तर
रूप जगत् की सेवा को आतुर रहता था!
वह अमूर्त से मूर्त जगत् ही का प्रेमी था!
किन्तु धरा जीवन के पुनरुद्धार के लिए
महत् शक्ति चाहिए,—इसे वह अनुभव करता!

बचपन में थी कभी जनश्रुति पड़ी कान में—
महत् कार्य के लिए अवतरित होता ईश्वर
विविध युगों में भू दैन्यों के नाश के लिए,—
वही मुक्त कर सकता जन को जीव नियति से!

पर, क्या ईश्वर नहीं सर्व भूतों में वितरित?—
बुद्धि तर्क करती उसकी, यह भले सत्य हो,
अंशभूत पर जग, ईश्वर विशिष्ट अपने में,
सर्व शक्तिमय! महत्, निखिल ब्रह्माण्ड से परे!

इसी ध्येय से मुझे साधना करनी होगी—
ईश्वर से पा शक्ति, जगत् का कार्य कर सकूँ!
पिता नहीं यदि, परम पिता की कृपा प्राप्त कर
धन्य हो सकूँ!—सोचा करता अब वह प्रायः! ...

आश्रम के दूरस्थ भाग में जा वह चुपके
कठिन तपस्या में रत रहने लगा रात-दिन!—
गुरु ने हस्तक्षेप न करना चाहा इसमें,
सत्य प्राप्ति के लिए आत्म अनुभूति चाहिए!

सीख सके वह स्वयं, प्राप्त प्रत्यक्ष बोध कर,
गुरु गौतम की यही प्रणाली थी शिक्षा की !

उसने त्राटक साध, दृष्टि निर्वात शिखा-सी
केन्द्रित की नासाग्र भाग में !—बहिर्विश्व कर
विस्मृत, आज्ञा चक्र पार कर, सहस्रार में
पहुँची उसकी घ्यान चेतना निश्चल होकर !
अनशन से कृश देह स्थाणुवत् लगती उसकी,
पतझर के उस रीते तरु-सी, जो वसन्त के
नये पल्लवों की हो मौन प्रतीक्षा करता !

सहस्रार के पार उसे दिव से भी ऊपर
परम चेतना धाम दिखा अमृतत्व ज्योतिमय,—
परब्रह्म का जो हिरण्यपुर है अपराजित !
उसने देखा ज्योति सिन्धु में डूब रहा वह,
ज्योति तरंगें उठकर, उसको घेर चतुर्दिक्,
टकरातीं तन मन से ! ईश्वर ही निःसंशय,
व्याप्त विश्व जीवन में लोट रहा कण कण में !
जगत् कर्म करने में भी ईश्वर का अनुभव
हो सकता साधक को—जिससे ओत-प्रोत जग !

तीन पाख थे बीत चुके आनन्द समाधित,
पीले पत्ते-सा तन अब झरने ही को था,—
लय होने को था जब बिन्दु असीम सिन्धु में,
अन्तर्नभ में अमृत ध्वनि तब हुई तड़िल्लिपि—

"ईश्वरत्व के आकांक्षी, अनभिज्ञ तपस्वी,
मुझे प्राप्त करने की असफल इच्छा छोड़ो,—
गुह्य अगोचर ही मैं सदा रहूँगा जग में !
विश्व चेतना ही में खोजो मुझे सतत तुम,
विश्व प्रकृति ही में तुमको मैं मूर्त मिलूँगा !

"वही तुम्हारी जन्मभूमि, जननी भी निश्चय,
शक्ति उसी से संचित कर तुम जगत्-कर्म का
अनुष्ठान अब करो,—तुम्हें मा बुला रही है !
सब भूतों में मैं ही हूँ, भूतों की सेवा
मेरी ही सेवा है ! उनकी सुप्त शक्ति भी
मेरी शक्ति ! उसी का नित उपयोग करो तुम !

"ओ निर्मम आराधक, परम पिता के साधक,
व्यर्थ तुम्हारी कृच्छ्र तपस्या, निर्जल अनशन,
मातृ प्रकृति में देखो मुझको, मातृ अंक में,
जो मेरी चेतना सृष्टि जीवन में प्रसरित !
अविज्ञेय मैं, अविज्ञेय ही सदा रहूँगा !
मेरे अन्वेषी द्रष्टा साक्षात्कार का
अंश सत्य ही पाते, रुचि स्वभाव से रंजित !—

पूर्ण रूप विकसित होता मेरा क्रमशः ही
मातृ प्रकृति ग्रंचल में, जग जीवन विधान में !
काल श्रेणियाँ करता पार जगत् विकास क्रम !
जाग्रो मा के पास, पिता भी वही तुम्हारी !"

सत्यकाम को ग्लानि हुई—उसने ग्रनजाने
शक्ति याचना की ईश्वर से—निखिल विश्व में
जबकि उसी की शक्ति निरन्तर कार्य कर रही !
ब्रह्म समाधित रह सकता मन नहीं सदा को,
मातृ प्रकृति ही में खोजूँगा ब्रह्म-सत्य मैं !
विश्व प्रकृति ही के ग्राँगन में विकसित होगा
ब्रह्म-सत्य निज पूर्ण रूप में—मा कहती थीं !
"जाग्रो मा के पास, पिता भी वही तुम्हारी !"—
गुह्य ग्रर्थ गर्भित यह सूक्ति, न संशय मुझको !

ईश्वरीय ही है मानव की शक्ति ग्रसंशय,
ग्रन्य शक्ति चाहिए नहीं कोई मनुष्य को,—
ग्रन्य शक्ति है भी न कहीं इस विस्तृत जग में !
सत्यकाम के मन का संशय दूर हो गया,
कार्य मनुज ही को करना होगा भूतल पर
जीवन के संस्कार, जगत् निर्माण के लिए !
ईश्वर इस जन धरणी पर हो कभी उपस्थित
हस्तक्षेप करेगा नहीं मनुज-कार्यों में !
देह प्राण मन के वैभव का सदुपयोग कर
धरा-स्वर्ग निर्माण मनुज को करना होगा—
ग्रात्म श्रेय के साथ निखिल भू-श्रेय के लिए !

गौतम ने निर्भ्रान्त शिष्य को मुक्त हृदय से
ग्राशीर्वाद दिया,—वह जग में पूर्ण काम हो !
सफल मनोरथ हो, इस दैन्य तमिस्र से भरी
धरती के जीवन का वह उन्नयन कर सके,
निज प्रबुद्ध ग्रात्मा से, कर्मों के कौशल से !

मानव ही के कर-पद द्वारा यदि ईश्वर को
विश्व कार्य करना जीवन उन्नयन के लिए—
सोचा उसने—मानव के मन को जाग्रत् कर
महत् कर्म को जन्म धरा पर देना होगा
जन भू जीवन के समग्र संस्कार के लिए !
लोक कर्म ही महत् कर्म वह ! व्यक्ति कर्म को
विश्व कर्म में, व्यक्ति स्वार्थ को मनुज प्रेम में
परिणत होना होगा भू-मांगल्य के लिए !

युग स्थितियों ही के ग्रनुरूप मनुज समाज को
महत् कर्म को खोज, श्रेय का नव मूल्यांकन
करना होगा, लोक प्रयोजन पर ग्राधारित !

विश्व-कर्म व्यापक विकास क्रम के स्तर पर ही
सार्थक होगा—ईश्वर पर आस्था अखण्ड रख !
श्रद्धा निष्ठा से अपने को पूर्ण समर्पित
करना होगा, भू मंगल के लिए जगत् में
ईश्वर ही का रूप देख सर्वत्र अखण्डित !

ब्रह्म ज्ञान अद्वैत दृष्टि देता—गुरुवर ने
ठीक ही कहा ! महत् ब्रह्म से भी परमेश्वर !
ब्रह्म जहाँ चिर असम्पृक्त माया से—ईश्वर
माया का स्वामी बन सृष्टि जगत् की करता
स्वयं सृष्टि में प्रसरित बृहद् विराट् रूप में !

बिना कर्म के ज्ञान शुष्क नीरस मरुस्थलवत्
भू जीवन की उर्वर हरीतिमा से विरहित !
बिना कर्म के भक्ति मात्र मृगतृष्णा भर है,
जो न जगत् जीवन को कर सकती अभिसिंचित !
व्यक्ति उन्नयन के दोनों हों श्रेयस्कर पथ,
कर्म हीन हो मनुज-समाज न उन्नति करता,
वह अभाव में रहता, प्रभु महिमा से वंचित !

सहसा उसे स्मरण हो आया उसकी प्रिय मा
उससे यही कहा करती, जब वह किशोर था !—
जिसको अब वह निज अनुभव से प्राप्त कर सका !
उसके मन में अब मा से मिलने की उत्कट
इच्छा जगी अचानक—स्वयं जबाला ही ज्यों
उसे पुकार रही हो,—उसके स्मृति-मन्दिर में
दो दशकों के बाद आज फिर भाव-मूर्त हो !

सम्भव, मा अब वृद्ध हो गयी होंगी निश्चय,
देह संवरण करने से पहिले वे मुझसे
मिलने को उत्सुक हों, अपने अन्तिम दिन में
एक बार देख लें मुझे ! मा ने तब भी तो
मुझे लौट आने ही का आदेश दिया था !
भाव तथा कर्त्तव्य प्रेरणा के वश में हो
उसने घर जाने का निश्चय किया अन्त में !

वह गुरु की आज्ञा लेने को गया व्यग्र हो,
गुरु ने अपनी प्रसन्नता कर प्रकट, शिष्य को
आशीर्वाद दिया ! उसको आदेश दे कहा—
"वत्स, तुम्हें अब सत्य दृष्टि मिल गयी, ज्ञान का
यही ध्येय, तुम सर्व दृष्टि से पूर्ण बोध कर
प्राप्त ब्रह्म का, यन्त्र बन सको जगदीश्वर का !
भू जीवन का मानवीय संस्कार कर सतत
तुम विकास क्रम के वाहक बन सको विश्व में !

ईश्वर पूर्ण करे जीवन कामना तुम्हारी !
जाओ, मा के दर्शन कर तुम नव जीवन में
करो प्रवेश, स्वर्ग-तोरण जो भू यथार्थ का !
वहाँ सत्य की सृष्टि कर्म में देख सकोगे !
पूर्ण बन सकोगे नित नव अनुभव-समृद्ध हो !
मैं भी वहाँ मिलूँगा तुम्हें,—न विस्मित हो तुम ?

मातृ शक्ति

वर्षों बाद निभृत हिमाद्रि की अधित्यका पर
सत्यकाम पहुँचा जब अपनी जन्मभूमि में,
शैशव स्मृतियों ने सम्मोहन बुनकर उसको
उठा लिया भावों के मोहित स्वप्न-लोक में !
दृपद्वती के उच्छल फेनिल मुखर सलिल ने
कल कल ध्वनि से खींच उसे चिर परिचित तट पर!

पाषाणों से टकराकर, उसके बिछोह का
व्यक्त किया आक्रोश—कहाँ तुम रहे आज तक ?
स्वच्छ शीत जल में फिर ज्यों कैशोर स्नान कर
बैठ गया भावोद्वेलित वह शिला-खण्ड पर !

दो दशकों की तप की स्मृतियाँ कहाँ न जाने
विला गयीं वाष्पों-सी सहसा ! प्रिय बचपन का
क्रीड़ा कौतूहलमय भावों का तुतला जग
लौट चतुर्दिक् आया, हर्ष विभोर कर उसे !

चित्रों पर सौ चित्र उतरते उसके मन में
बाह्य प्रकृति सुषमा, किशोर कल्पना के सुखद !
शैशव की आँखों से देखा सद्यः स्मित जग
नया हो गया फिर स्मृतियों के स्वप्न लोक-सा !

गुरुकुल से चलकर प्रसन्न अपराह्न के समय
पहुँचा जब वह घर, रवि था ढल चुका क्षितिज पर,
शारद सन्ध्या धुले नील नभ के आँगन में
सुलग रही थी रक्त ज्वाल किंशुक के वन-सी !
बैठ शिला पर, विचरण करने लगा सहज मन
खद्योतों से दीप्त घाटियों में गिरियों की !
रंग रंग के वन्य-कुसुम-कोमल तल्पों पर
लोटा करता वह, उड़ते विहगों को तकता !

फूलों को ही रंग-चपल लग गये पंख हों
नीली पीली चटुल तितलियों के पीछे वह
दौड़ा करता, उन्हें पकड़ नन्ही मुट्ठी में !

रक्त-छत्र-से फूल तोड़ गिरि की ढालों से
वह उनके प्यालों का मधुरस पीता मादक!
सर्पों-सी लेटी टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डी
जिन पर मेष शाव मिमियाकर दौड़ा करते,
उसे लुभातीं पर्वत शृंगों पर चढ़ने को!

दिक् प्रसन्न हँसता मृदु आतप उपत्यका में
हरीतिमा पर सतरंगी वाष्पों-सा छाया!
देवदारु के वृक्ष हरित भूधर शिखरों-से
रोमांचित लगते सूची-कृश दल से छादित!
विजन वनों की श्यामल सघन मौन छायाएँ
भय उपजातीं अविकच सरल किशोर हृदय में!
गहरे रंगों के गिरि विहग चकित रखते दृग
सूर्यातप में रत्न जड़े पाँखें फैलाये!
मृग शावों को गोद खिलाता मित्र बना वह
नव अंकुर-से उनके सींगों को सहलाकर।
उस निर्जन पर्वत प्रदेश में उसके अपने
तितली, फूल, विहग, मृग ही तो बाल सखा थे!

हाँ, किशोर कल्पना भुलाये रहती मन को
राजकुमार बना उसको स्वप्नों के जग का।
निभृत नील में तन्मय हो खो जाता अन्तर
हरित धरा की टहनी से जाने कब उड़कर!
हिमगिरि के सित तीन शिखर—शिव के त्रिशूल-से—
क्या थे नहीं भला वे भाव प्रवण वय के हित?
शुभ्र बाहुओं में बाँधे उस वन प्रदेश को
उसे उठा लेते सदेह वे स्वर्ग लोक में!
जहाँ न जाने वह किन अमरों के भोगों को
भोगा करता, स्वप्नों की वस्तुएँ बनाकर!

शैल प्रकृति ने सद्यः श्री शोभा दंशन से
हृदय शिराओं को विह्वल कर गूढ़ हर्ष से
रोम-रोम में थे पुलकों के तीर भर दिये!
विस्मय से अभिभूत प्रकृति सौन्दर्य स्पर्श पा
भू पर उसके पैर नहीं टिकते थे क्षण-भर!

नव मुकुलों की मुट्ठी बाँधे गिरि वसन्त ज्यों
रंगों की फुहार बरसाकर उसे लुभाता!
प्रावृट् के घन उतर धूम की गिरि द्रोणी में
तड़ित् चकित रखते दृग, सुरधनु के रंगों में
रंजित कर वन प्रान्तर किरणों की तूली से!

ग्रीष्मातप कुम्हलाये कुसुमों का शरीर ले
छाया-वन में कहीं छिपा रहता अनजाने!
शरद, शुभ्र हिम के प्रदेश को बना शुभ्रतर,

नभ को नील, जलों को निर्मल, भू को श्यामल,
वन्य वायु को सौम्य बनाती—गन्ध गौर तन!
हिम फुहार में उसे घूमना भाता गिरि पर
हिम के देवी देव बनाता स्फटिक शुभ्र वह!
शिशिर स्पर्श से सिकुड़, सिहर उठते गिरि कानन
मुख नासा से धुर्म्र फेंक भागता हिरन वह!
वृक्षों से लटके बल्लरियों के हिंडोल में
झूल, पेंग भरता वह गिरि पिक कूजित वन में!

शैलों की श्रेणियाँ स्वर्ग के सोपानों-सी
बचपन में भातीं—उसका मन चढ़कर उन पर
घण्टों तक खोया रहता निर्वाक् नील में!
हिम शृंगों को देखा करता वह अपलक दृग्
हलके रोमिल वाष्पों के चल पंख खोलकर
विद्युत् दीपित घन जिन पर मँडराया करते!
रत्नच्छायाओं से कल्पित दुहरे तिहरे
सुरधनुओं के सेतु जोड़ते स्वर्ग धरा को,
जिन पर मोहित पग धर उसकी बाल्य कल्पना
विचरण करती अम्बर पथ पर स्वप्न-यान में!

ऊर्णनाभ मन स्मृति के कृश कोमल सूत्रों का
जाल भावना-शाखाओं पर तान मनोरम
सत्यकाम को रहा फँसाये दीर्घ काल तक,
दृषद्वती के तट पर तन्मय कर अतीत में!
स्मृति समाधि से जगकर, मातृ प्रकृति अंचल से
अपने को कर मुक्त, बढ़ा वह क्षिप्र चरण धर
मा की पर्ण कुटी को, ध्रुव-सी स्मृति नभ में स्थित!
देख द्वार पर से, लेटी निज कक्ष-तल्प पर
शरद कला शशि-सी कृश मा को वयस शुभ्र वपु,
उसने माथा टेक दिया शुभ श्री चरणों पर!—
सहसा भावाविष्ट हो उठा समुच्छ्वसित मन,
सूक्ष्म ध्यान-पथ से तन्मय हो चिदाकाश में!
देखा उसने, विश्व प्रकृति ही उसकी मा बन
लेटी मनोजगत् में दिग् विराट् शय्या पर,—
जीवन-सिंह अजेय शक्तिमय निज वश में कर!
वह उस पर आरूढ़ चेतना रश्मि थामकर
विचरण करती लोक-लोक में अभय चरण धर,—
गर्जन भरता सिंह जूझता भव-द्वन्द्वों से!
देखा उसने, शस्य श्यामला भू मा ही है—
पर्वत, नदी, समुद्र—विश्व दृश्यों में वितरित,
विविध रूप भष खग मृग नर, जीवों से संकुल!
वही सूक्ष्म अन्तर्भुवनों में,—मन, अधिमन में

चिन्मय ऐश्वर्यों से भूषित! साक्षी बन स्थित
आत्मा में, स्रष्टा ईश्वर में,—हृत्प्रदेश में
जन के निवसित, दिग् व्यापी शोभा गरिमा में!
निखिल जगत् उसकी शाश्वत महिमा से मण्डित!
सूर्य चन्द्र उसकी परिक्रमा करते निशि दिन,
अपलक दृग ताराएँ उसकी बाट जोहतीं,
षड् ऋतुएँ उसके रूपों को अभिव्यक्ति दे
अप्सरियों-सी भूतल पर शोभा बखेरतीं!
लोक पिण्ड: ब्रह्माण्ड उसी का क्रीड़ा-कन्दुक;
सुख-दुख, विजय-पराजय क्रीड़ा-अंग अपृथक्!
देखा उसने, वह अनन्त ऐश्वर्यमयी मा
प्रेरित करती जन को निज सौन्दर्य-स्पर्श से—
फूलों का धर मुकुट शीश पर, लतिकाओं के
कंगन कर में, मुकुलों की मेखला मध्य में,
कलियों के नूपुर पैरों में मधुकर झंकृत!
चन्द्रकला को खोंसे कोमल नील कचों में,
सूर्य झूलता चिन्मय हीर-तरल-सा उर में!
मरकत मणि-सा हरित धरा का गोलक उसकी
पाद पीठ बन शोभित फेनिल सिन्धु वक्ष पर!
वल्कल कंचुक, हरित तृणों की साड़ी पहने,
सरल वेश उसका—दिगन्त व्यापक दीपित मन,
परा प्रकृति वह ज्योतिर्मय, स्वामिनी विश्व की!
स्मरण उसे आयी वह अन्तर्नभ की वाणी—
"विश्व प्रकृति में खोजो मुझको व्यक्त रूप में—
अविज्ञेय मैं, अविज्ञेय ही सदा रहूँगा!
मातृ शक्ति मेरी ही शक्ति, वही मैं निश्चय,
विश्व कर्म मेरा हृत्स्पन्दन, महाप्राण नर
उसका अधिकारी हो सकता लोक-धरा पर!"—
विश्व प्रेम में तन्मय उसने जगदम्बा की
मौन प्रार्थना की, श्रद्धा आस्था से पुलकित!
"जय जगदम्बे, जगज्जननि, जय शक्ति स्वरूपिणि,
तुम अचिन्त्य हो, सर्व व्याप्त हो, सर्व शक्तिमयि!
माया की स्वामिनि, धरणी का क्रीड़ा-प्रांगण
क्षेत्र तुम्हारी अभिव्यक्ति का, वह तुमसे ही
सृजन शक्ति पा सार्थक होता, क्रम विकास के
दिव्य चरण धर, अंश सत्य से पूर्ण सत्य बन,
शिव से शिवतर, सुन्दर से सुन्दरतर बन नित—
पूर्ण पूर्णतर बनता रहता महत्कर्म में
प्रेरित होकर! निखिल भेद जग के मज्जित कर
मनुज प्रेम में, विश्व ऐक्य में बाँध जनों को!—
'मनुष्यत्व' का सत्य जगत् में संस्थापित कर!

"तुम्हीं देह मन, तुम्हीं भोग, यातना प्रसंशय,
तुम्हीं ज्ञान-अज्ञान, तुम्हीं मा, जन्म-मृत्यु भी,
मन के भीतर, मन से परे तुम्हीं हो चिन्मयि,
अघटित घटना पटीयसी तुम कर्तुमकर्तुम्
तथा अन्यथा कर्तुम् में भी तुम समर्थ हो!
ब्रह्म ब्रह्म की शक्ति एक, अद्वय, अभिन्न नित,
बिना तुम्हारी इच्छा के कोई तृण को भी
हिला नहीं सकता,—वह अग्नि, पवन, जल ही हो!

"परम पुरुष हो तुम्हीं, तुम्हीं पुरुषोत्तम हो मा,
तुम्हीं सच्चिदानन्द-रूपिणी परा प्रकृति भी!
जन्म ग्रहण करना ही भव-सागर तरना है,
देश-काल की यह अनन्त दिव-यात्रा शाश्वत!
गरल अमृत बनता जाता है, शनैः दुःख-सुख,
घृणा प्रेम—भव द्वन्द्व तुम्हीं में होते अवसित!

"श्री स्वरूपिणी, कंचनवर्णी, तुम सुधांशु-सी
तापघ्नी हो, दिव्य मृगी-सी चपल चरण धर
विचरण करती देश काल का अतिक्रमण कर!
आनन्दित करता मन को प्रेरक गज गर्जन,
अज्ञेया, स्मितमुखी, सहज करुणार्द्र हृदय तुम,
स्वर्ण रजत वर्णों के सरसिज-स्रक् से भूषित!
शरद चन्द्र-सी सौम्य कान्ति, सुरगण से वन्दित,
दुख दारिद्र्य तमस हरती जन के तन-मन का—
रविवर्णा तुम, निखिल वनस्पति ओषधि भू पर
देवि, तुम्हारे अमृत तेज से खिल, हरतीं रुज!

"गन्धवती, आत्मा, तन, मन, प्राणों का वैभव
बरसाती तुम सौरभ के घन-सी पृथ्वी पर!
आर्द्रा, पिंगलवर्णी, सुर नर मंगल करणी,
हिरण्मयी श्री, जगत् पोषिणी तुम सविता-सी!
हम पवित्र बन, निर्मल बन, कर-पद के श्रम से
अर्जित करें तुम्हारी सम्पद सर्व श्रेयकर!
क्या कर सकते नहीं जगत् में अगणित कर-पद
अर्पित हों संयुक्त तुम्हारे प्रति यदि वे नित!

"जाम्बूनद-सी, जातवेद के पंखों पर उड़
तुम अवतरित हृदय में होती, पुष्टि-तुष्टि बन!
क्षुधा तृषा दुख की प्रतिमा दारिद्र्य रूपिणी
जेष्ठा भगिनी के पदचिह्न मिटें भू-पथ से,—
ऐसा वर दो परम उदार जगत् जननी हे!

"तुम हो, सर्व तुम्हीं हो—देव, मनुज, पशु, दानव,
सदसत् का मन्थन कर तुम्हीं जगत् विकास क्रम
निर्धारित करती हो, काल वक्ष पर पग धर!

"जय हो जननि तुम्हारी, निखिल सृष्टिकर्त्री तुम,
ज्ञान तुम्हारे बिना अन्ध अज्ञान मात्र है,
कृपा स्पर्श पा पाप पुण्य बन जाता पावन !
जय हो देवि तुम्हारी, जय-जय आदि शक्ति हे !"—
निखिल विश्व हो गया दृष्टि से ओझल सहसा,
नील शान्ति में डूब गया उसका तन्मय मन !

भावावेश हुआ प्रशान्त, प्रकृतिस्थ हो पुनः
सत्यकाम ने उठकर अपलक देखा मा को !
महाकाल बन गया एक क्षण था अति गति से,
पलक मारते उसे महत् अनुभूति हो गयी !

"तुम आ गये ? जानती थी मैं तुम आओगे !"
बोली द्रवित जबाला, आशीर्वाद दे उसे,—
हाथ फेरकर बार-बार प्रिय सुत के सिर पर !
मा के करतल में समुद्र हो अमित प्रेम का,
जो सुत के ऊपर उडेलकर उसने सहसा
सत्यकाम को डुबा दिया आकण्ठ प्रेम में !
भूल गया वह योग-साधना का सब अनुभव,
खिसक पाँव के नीचे जो मिल गया धरा में !

शुद्ध प्रेम का पात्र बन गया उसका अन्तर,
ज्ञान दृष्टि को डुबा प्रेम के अतल सिन्धु में !
ज्ञान प्रेम अन्ततः एक ही निकले निश्चय !
मा ने सस्मित स्नेह-दृष्टि से देखा सुत को—
विस्मय हत था मूक साधना से वह मा की !

सरल ऋता को अपने पास बुलाकर मा ने
सत्यकाम के कर में उसका मृदु कर देकर
आशीर्वाद दिया दोनों को,—गद्‌गद स्वर में
बोली, "मेरी अन्तिम साध पूर्ण होती अब !

"पुत्र, ऋता तुम दोनों मिलकर जीवन रथ के
युगल चक्र-से साथ रहो नित ! करुणामय प्रभु
सफल बनायेंगे संयुक्त तुम्हारा जीवन !
श्रद्धा, निष्ठा, तप की ऋता मूर्त प्रतिमा है,
तुमने जो उपलब्ध किया इसमें पाओगे !
निष्कण्टक हो मार्ग तुम्हारा ! विश्व यज्ञ प्रति
अर्पित हो संयुक्त तुम्हारा जीवन प्रतिक्षण !
सुखी रहो तुम !"

"अरे, कौन, ऋषिवर आये क्या !
धन्य भाग्य हैं ! जो तुमने मेरी कुटिया को
चरणों की रज से पवित्र कर दिया यहाँ आ !
ओ जाबाल, प्रणाम करो निज पूज्य पिता को !

गुरु ही तो वास्तव में जीवन दाता होता!"
ध्यान मग्न हो गयी जबाला फिर कुछ क्षण को!

सत्यकाम गुरुवर को देख गिरा चरणों पर
विस्मय से होकर विमूढ़! ऋषिवर ने उसके
साथ ऋता को आशीर्वाद दिया—"जीवन हो
सफल तुम्हारा! सृष्टि चक्र में पड़कर अब तुम
पूर्ण रूप से ब्रह्म सत्य चरितार्थ कर सको!"
हँसकर बोले, "लो, तुमको मिल गयी ऋचा फिर!"

हर्ष और विस्मय से विह्वल सत्यकाम को
हो आया रोमांच, ऋचा को देख ऋता में,
विस्मय ही विस्मय थे उसके लिए अकल्पित!
कैसे ऐसा रूप-साम्य सम्भव हो सकता
युगल व्यक्तियों की आकृतियों में, स्वभाव में?
सोच रहा था सत्यकाम सम्भ्रम में डूबा!
यह कैसा आश्चर्य…योग-माया थी वह तो!
वैसी ही है सरल वेश-भूषा इसकी भी!
वैसी ही स्मिति, अधर लालिमा—हाव-भाव भी!
वैसी ही वन-फूलों की वेणी जूड़े में!
वही रूप हो प्रतिबिम्बित शोभा-दर्पण में!

विस्मय की-सी मूर्ति देखकर सत्यकाम को
स्निग्ध हास्य से स्वागत किया ऋता ने प्रिय का!
"तुम मुझको चिर-परिचित-सी लगतीं," बोला वह,
"इससे सुन्दर भला और क्या हो सकता है?—
मा ने अपने अमित स्नेह से सतत तुम्हारी
चर्चा कर, तुमको मेरे उर की साँसों में
बसा दिया सौरभ-सा," कहा ऋता ने सस्मित,
"मेरे हृत्स्पन्दन में कब से मूर्ति तुम्हारी
झूल रही है मधुर भावनाओं में अंकित!
तुम भी मुझको चिर-परिचित ही-से लगते हो!"

"तुम क्या मुझको इससे पहिले कभी मिली थीं?"
"मौन भावना पंखों में उड़, ध्यान-भूमि में
कई बार हूँ मिली," ऋता बोली स्मित स्वर में,
"वह रहस्य यदि, उसे रहस्य बना रहने दो!
मातृ चेतना ही से मैंने दिव्य प्रेम की
स्वर्ण किरण पाकर निज अन्तर किया प्रकाशित,
तुम्हें केन्द्र में बिठा अतुल आलोक राशि के!
लोक धरा को मनुज प्रीति के स्वर्ग पाश में
बाँध मुक्त कर सकूँ असत् से, मृत्यु, तमस से,—
मा ने तुमको मेरा साथी चुना जगत् में,
धन्य हुआ अब मेरा जीवन तुमको पाकर!

"विश्व प्रेम के हवन कुण्ड में महत् कर्म की
आहुति हम दे सकें आत्म उत्सर्ग कर सतत,
मा के चरणों पर अर्पित कर तन-मन-जीवन,—
अग्नि शिखा-सी यही साध मेरे अन्तर में
सुलगा करती अविरत, उद्वेलित कर उर को!

"तुमसे जीवन द्रष्टा के संग जन मंगल का
व्रत लेकर, चैतन्य ज्योति को भू-अंचल में
गूँथ, मनुज जीवन में सार्थक कर पाऊँगी!
सखे, तुम्हारे आत्म साधना सोपानों का
विस्तृत परिचय मा मुझको देती आयी हैं!
दिव्य प्रेम की मूर्त चेतना हैं मा भू पर,
ध्यान दृष्टि से बँधी रहीं वे तुमसे सन्तत!"

"मा की इच्छा पूर्ण हमारे जीवन में हो,"
सत्यकाम ने कहा, "स्वर्ग टहनी को भू पर
रोप तुम्हारे मूर्तरूप में, मा ने मुझको धन्य कर दिया!"

सत्यकाम के घर आने पर छात्राओं ने
नृत्य गीत का पर्व मनाया—युगल मिलन का
हार्दिक अभिवादन करने को कुटी अजिर में!
शरद पूर्णिमा से दीपित था घर का आँगन,
हिम शिखरों के मुकुरों से जिसकी उज्ज्वलता
प्रतिबिम्बित होती दुहरी-तिहरी भूतल पर!
शुभ्र शरद के ऋतु सुमनों के गहने पहने
छात्राएँ करतीं प्रवेश, कम्पित लतिका-सी
नृत्य चरण धर, स्वागत गातीं मुक्त कण्ठ से!

समवेत गान

आओ, मंगल पर्व मनाएँ!
एक कण्ठ हो हम समस्त स्वर
युग द्रष्टा का स्वागत गाएँ!
ताराओं का छत्र शीश पर,
शरद चेतना स्वप्न चरण धर
नवोन्मेष से भरती अन्तर,
तिमिर पात्र में दीप जलाएँ!
मनुज प्रेम में तन्मय हों जन
महत् कर्म का कर आवाहन,
लोक यज्ञ प्रति करें समर्पण,
भू जीवन को स्वर्ग बनाएँ!
दो हृदयों का मुक्त मिलन क्षण
उर-उर में बहता रस स्पन्दन,
धरा स्वर्ग करते अभिवादन,
निखिल चराचर को अपनाएँ!

प्रीति-सूत्र में बँध नारी नर
लोक कर्म प्रति उर अर्पित कर
राग-द्वेष, कटु भेद-भाव हर
जन-जीवन में समता लाएँ!

अन्य किशोर किशोरी भी लीला प्रांगण में
आते; नृत्य कुशल चरणों के नूपुर झनका,
देह लता को नचा कलात्मक भाव-भंगि में!—
भावलास्य कर विविध इंगितों मुद्राओं से
निःस्वर वाणी में वे मूक रहस्य बताते,—
कैसे ईश्वर अपनी अनघ सृष्टि में सजित!
वादित्रों के साथ ताल स्वर लय में नर्तित
चटुल चरण मोहित करते ऋषिवर का अन्तर,
तन्मय करती मन पात्रों की भाव-भंगिमा!

ग्रह नक्षत्रों के सँग वृत्ताकार नृत्य कर
धरती आती दीर्घ हरित गुण्ठन में लिपटी,
शस्य लिये हाथों में, पुष्प स्रकों से भूषित,
गाती वह गिरि पिक के कोमल मादक स्वर में—
भाव प्रदर्शन करते तारे मूक नाट्य कर!

गीत

मैं जन धरणी, मैं अर्पित प्रभु चरणों पर,
मुझमें ही जागा जीवन-स्पन्दन निःस्वर!
करुणामय ईश्वर मेरी जड़ रज को छू
चेतन करते मन प्राणों का वैभव भर!

मैं शस्य श्यामला,—वाणी, कमला, दुर्गा,
मैं जीवों की मा, मेरे पुत्र चराचर!
मेरे आँगन में पशु बन मानव सुन्दर
भावों से दीपित रखता मेरा अन्तर!
मैं विहगों, पशुओं की इच्छा से परिचित,
वे उपचेतन के प्रतिनिधि, वन उनका घर!

जीवन पलने में जागा जब पहिले मन
तब खुला सृष्टि का मर्म, हुआ तम भास्वर!
मन का प्रबुद्ध प्रतिनिधि मानव कहलाया,
थामे विकास की रश्मि कुशल उसके कर!
एकाग्र खोज की अन्तर्जग की उसने
जड़ बहिर्जगत् पर भी विजयी होगा नर!

मैं एक, भले ही बहु देशों में विस्तृत,
जन-धरा बनेगी विश्व-एकता का घर!
अब देव स्वर्ग हो मनुज स्वर्ग में परिणत,
रे विश्व प्रेम ही मनुज धरा का ईश्वर!

परिक्रमा कर नाच रहे ग्रह उपग्रह उडुगण,
कर-मुख के संकेतों से किरणें विकीर्ण कर!
धरती के ग्रोझल होते ही कला-ग्रजिर पर
शरद पूर्णिमा का शशि ग्राता सुधा कलश घर!
मृग शावक को ग्रंक लगाये, मन्द स्मित मुख,
मन का प्रतिनिधि वह, तम संकुल भूत निशा में
ज्योति रश्मि बरसाकर दिग् दीपित करता पथ!
भू मग पर भटके मानव को दिशा-बोध दे!
सूक्ष्म भावनाग्रों के सुरधनुग्रों से वेष्टित
साम्य सन्तुलन भरता जीवन की गति-विधि में,—
श्लक्ष्ण स्वरों में गा, मोहित करता जीवों को!

गीत

खोलो मन के लोचन!
प्राणों के सागर में डूबे
ग्रो धरती के जीवन!
रजत स्वर्ण सित सोपानों पर
दीप्त भावनाग्रों के पग धर
पार करो ग्रात्मा का ग्रम्बर
ज्योतित हो भू ग्रांगन!
मत ढोग्रो पशु जीवन का शव,
स्वर्गिक उन्मेषों से नव-नव
परम चेतना का ला वैभव
रचो मनुज-जग नूतन!
मैं सूरज के मुख का दर्पण,
ग्रपने इन्द्रिय बोधों के क्षण
चित् प्रकाश को करता ग्रर्पण
हरता भूत तमस घन!
मनसोजात चन्द्रमा चेतन,—
नव्य कलाग्रों का उद्घाटन
भू-पथ पर लाता परिवर्तन,
क्रम विकास ही जीवन!

तेज पुंज ग्रात्मा का प्रतिनिधि सूर्य धरा पर
नहीं उतरता, दिव्य सौर मण्डल का स्वामी,
शुभ्र ज्योति बरसा ग्रग-जग को करता पोषित!
उसके ऋत वैभव ही की प्रतिनिधि षड्ऋतुएँ
विविध वेश-भूषा में ग्राकर भू-प्रांगण को
ग्रपनी श्री-शोभा गरिमा से करतीं मण्डित!
भू-जीवन के क्रम विकास की सी प्रतीक ये
वृत्त नृत्य में गाकर देतीं ग्रपना परिचय!—

हम हेमन्त शिशिर पृथ्वी पर
जुड़वाँ भाई, गौर कलेवर !
हम झंझा रथ पर चढ़ आते
अग-जग के मन प्राण कँपाते
शीत स्पर्श से पीले पड़कर
वृक्षों के दल पड़ते झर-झर !

परिवर्तन देता जग को सुख
बदल धरा का जाता प्रिय मुख
हम दिगन्त को बना दिगम्बर
नव कलि कुसुमों से देते भर !

मैं वसन्त, ऋतुराज कहाता,
फूलवाण कर में धर आता,
मेरा मार्ग बनाता पतझर
स्वागत करते शुक पिक मधुकर !

सौरभ से भू पथ कर सुरभित
रंगों से दिशि-मुख कर रंजित,
बीज शिशिर जो बोता रज में
मुझमें फलते मूर्त रूप धर !

ग्रीष्म नाम से मैं नित परिचित,
तपस्वियों की भू यह निश्चित,
मैं मेघों को खींच सिन्धु से
आच्छादित करता भू-अम्बर !
तपना जीवन में आवश्यक
कुछ भी होता नहीं अचानक
बाट जोहता जग जब अलपक
दया-द्रवित होता नभ-अन्तर !

मैं वर्षा, घोषित करते घन,
अभिसिंचित करती भू-प्रांगण,
स्वाति बूंद बन प्यास बुझाती
जब पुकारता चातक कातर !
मुक्ता लड़ वेणी में बाँधे,
सुरधनु में शोभा-शर साधे
मैं अनन्त में विचरण करती
विद्युत् रथ पर चढ़ दिग्-भास्वर !

चन्द्रमुखी मैं शरद मनोरम,
हरती भूत निशा का तम भ्रम,
व्योम वासिनी, उतर धरा पर
जन-जन के मन में करती घर !

दुग्ध स्नात लगता दिङ् मण्डल,
स्वप्नों से भरती भू-अंचल,
मैं अदृश्य अस्पृश्य ज्योति हूँ
दिव्य प्रेरणा पाते स्त्री-नर !

सब ऋतुएँ मिल, एक दूसरे का कर पकड़े,
लहरों-सी हिल्लोलित, करतीं नृत्य घूम कर,
एक वृत्त में भाव-मूर्त कर एक वर्ष को—
गातीं हिलमिल एक राग में भर अनेक स्वर ! —

सहगान

परिक्रमा करतीं हम भू की
श्रद्धा से नत, जीव प्रसू की,
अग-जग में भरतीं नव जीवन
वैभव-श्री से पूर्ण निरन्तर !
आम्र मंजरित, ताप नग्न नित,
तड़ित् चकित, हम चन्द्रमुखी स्मित,
हिम कम्पित, झंझा रज मन्थित
नृत्य निरत रहतीं वत्सर भर !

वैविध्यों में ऐक्य गुँथा जन-भू जीवन में,
इसकी मूर्त निदर्शन ऋतुएँ ! —दृश्य बदलता !
विश्व प्रकृति लीला प्रांगण में मूर्त रूप धर
भू-मंगल के लिए प्रार्थना करती प्रभु से—
उनमें ही अन्तर्हित सृष्टि विकास निरन्तर !

गीत

जय जीवन, जय जीवन ईश्वर !
उतरो अन्तर्मन से भू पर
बाट देखते निखिल चराचर !
आत्मा के नभ में खोये जन
जो एकाकी चिन्मय दर्पण,
महानन्द के प्रति आकर्षण,
आत्म-मोह में डूबे भू-नर !
व्यक्ति मुक्ति के वे अभिलाषी,
जग जीवन के लिए प्रवासी,
जन-भू दनुज-शक्ति की दासी,
धरा प्रीति से भर दो अन्तर !
उनको दो प्रभु, नयी चेतना,
विश्व कर्म की पुण्य प्रेरणा,
लोक-मुक्ति ही व्यक्ति-मुक्ति बन
रचना करे जगत् की सुन्दर !

तुम हो जन-जन के घटवासी,
मातृ शक्ति मैं देती आशी—
मनुष्यत्व की धरती प्यासी
मंगलमय हो जन-भू का घर !
निर्भय, संस्कृत हो जग जीवन,
शोभा के प्रति जन-मन चेतन,
सृजन स्वप्न से अपलक लोचन
प्रीति मुक्त स्त्री नर हों सहचर !
जय जीवन, जय जीवन ईश्वर !

गीत नृत्य होने ही को था सहज समापन,
पर्वत प्रान्तर शरद चन्द्रिका में दिग् प्लावित
स्वप्न-लोक-सा लगता था नीरव, सम्मोहित !
सहसा छा जाती निस्तब्ध गभीर शान्ति-सी
निभृत अजिर में ! गहरी नीरवता में स्वयमपि
ध्यानावस्थित हो जाते समवेत स्त्री-पुरुष !

मनोभूमि में मौन उतरते भावी मानव
भाव-देह धर, नृत्य गीत में रत भविष्य के !
मन के ही दृग उन्हें देख पाते, मन के ही
सूक्ष्म श्रवण उनके उन्मेषित स्वर सुन पाते !

भू जीवन का भीषणतम संघर्ष झेलकर
विष की पी कटु घूंट, नरक-यातना भोगकर
नव मानवता आती दीपित भाव मंच पर !
मधुर अनाम सुरभि से प्लावित हो उठतीं दिशि,
सूक्ष्म वाद्य स्वर लय में मज्जित निखिल विसंगति,
नयी चेतना विचरण करती स्वप्न चरण धर
मनोभूमि पर भू जन के, भर नयी प्रेरणा !

रश्मि दीप्त नव भावों के वस्त्रों में भूषित
उनका स्वर्गिक रूप देख अपलक रहते दृग !
वे विदेह लगते, प्रबुद्ध, प्रज्ञा से मण्डित,
सीधा-सादा रहन-सहन,—श्री शोभा पावन
बाहर का जग—लता प्रता सज्जित गृह आँगन,
मुक्त प्रकृति में पोषित उनके देह प्राण मन !
लोक प्रेम के सागर की लहरों-से भू-जन
नव उन्मेषों से हिल्लोलित होते रहते !

विश्व पीठ की रचना कर मानव समाज को
उच्च चेतना के वैभव से अभिभूषित कर
स्वर्ग लोक को आमन्त्रित करते वे भू पर !
कला दृष्टि के सम्मुख, सृजन स्वप्न से प्रेरित
नित्य नये सौन्दर्य बोध का अन्तरिक्ष खुल
जीवन ईश्वर की महिमा से विस्मित करता !

उनकी हृदय शिराओं में संगीत बह रहा,—
ध्यान मग्न आनन्द समाधित सुनते द्रष्टा !

गीत

कितना लघु-लघु जग का आँगन !
स्वर्ग धरा में भी देखो अब
नहीं समाता मानव का मन !

देख लिया बाहर आँखें भर,
अन्तर्मुख अब जन का अन्तर,
विचरण करता नयी भूमि पर
नर बहिरन्तर भर संयोजन !

व्यर्थ हुआ गत मन का संचय
ईश्वर के प्रति रहा न संशय,
आत्मा से प्रेरित हो सीधे
जीवन से संचालित जीवन !

जड़ अब नहीं रहे रज तन कण,
हृदय स्पर्श पा वे नव चेतन,
डूब प्रेम सागर में ईश्वर
अब धरती का साधारण जन !

बहिरन्तर का तम आलोकित
पाप पुण्य-वारिधि में मज्जित,
सुन्दर सुन्दरतर, शिव शिवतर,
उपकृत ब्रह्म मनुज का धर तन !

ओझल होता भाव दृश्य वह मनोभूमि से—
बोले गुरु गौतम समाधि से जग, प्रसन्न मन,—
"दुर्लभ ऐसे दिव्य दृश्य ! ये कभी हृदय में
स्वतः स्फुरित हो उठते, सूक्ष्म चेतना प्रेरित !"

छात्रों को प्रोत्साहित करने कहा उन्होंने—
"कला-प्राण है मनुज, सृष्टि यह ब्रह्म की कला,
ज्ञान और विज्ञान दृष्टि के साथ मनुज को
कला शिल्प में अन्तर्दृष्टि चाहिए व्यापक !
कलात्मिका है विश्व प्रकृति, जिसने अग-जग की
रचना की, सौन्दर्य अनिन्द्य लुटा कण-कण में !"

"सच कहते हैं ऋषिवर," बोली सौम्य जबाला !
सत्यकाम को सम्बोधित कर कहा स्नेह से—
"धन्य हुए तुम सुत, ऋषिवर से दीक्षा पाकर,
लोक कर्म में मूर्त करो अब ब्रह्म-सत्य को !
भू जीवन की अभिभाविका सभी छात्राएँ
योग तुम्हें देंगी, चैतन्य दृष्टि से प्रेरित,
ज्ञान-भ्रान्तियों से विमुक्त कर मानव मन को,—

नव जीवन की लोक-पीठ स्थापित करने में,
वन युग के अन्तःसीमित सात्विक प्रांगण में !

"सरल व्यक्ति जीवन हो ! ऐश्वर्यों से मण्डित
जन समाज हो, सृजन कर्म में निष्ठा से रत !
जन-जन में समता स्थापित हो, निश्छल हो उर
राग द्वेष से विरहित, जन-भू प्रीति में बँधा
दिव्य बोध के स्वर्ण-सूत्र से ! कर्म वचन मन
जीवन-ईश्वर को हों अर्पित श्रद्धा से नत !
विश्व प्रकृति के सद् विधान में दृष्टि प्राप्त कर
तुम विकास-चरणों का कर नित गहन अध्ययन
नयी प्रेरणा देते रहो धरा जीवन को !

"मातृ प्रकृति की ममता से पोषित होते जन,
कोई ग्रन्थि नहीं पड़ती माता के मन में—
कोई संकट नहीं मनुज के पथ में यदि वह
मनुज प्रेम के अमर-सूत्र में बँधा रहे नित !
तुमने पुत्र स्वयं जो निज अनुभव से भोगा
धरा-सत्य में उसे प्रतिष्ठित करो प्राण पण !
धैर्य धरा का गुण है, जिसकी कमी मनुज में,
लोक कर्म का दर्शन साधारण होकर भी
गूढ़ गहन है ! नम्र हृदय ही उसका दर्पण !
ईश्वर पर अटूट आस्था ही महत् कर्म बल !
तुम गुरु नहीं, प्रकृति मा ही गुरु ! तुम छात्राएँ
सेवा-रत सन्तति भर,—स्नेह समत्व में बँधे !
जय हो मानव की ! जय हो जन भू जीवन की !

"मेरा कार्य समाप्त हुआ अब ! मुझे विदा दो !
इससे शुभ क्या हो सकता ऋषिवर के सम्मुख
आँख मूँदकर, खोल सकूँ मैं अपर लोक में !
तुम्हीं रूप-जग में अब मेरे भाव-जगत् को
मूर्त कर सकोगे प्रिय सुत, प्रतिनिधि बन मा के !
निखिल जगत् में व्याप्त ब्रह्म को देख रही मैं !...
नव जीवन का द्वार मरण... हाँ, नव जीवन का..."
आँख मूँद ली उसने... चिर निद्रा में जगकर...
उसके उर की दिव्य शान्ति छा गयी चतुर्दिक्,...
अनघ स्वर्ग स्मिति अंकित थी निश्छल अधरों पर !

स्नेहमयी मा का जीवित शव देख सामने
सत्यकाम की आँखों से आँसू का निर्झर
फूट पड़ा, अज्ञात रूप से ! गूढ़ हर्ष से
व्यथामथित खिलखिला हँस उठा उसका अन्तर !...
अंजलि दे न सका सुत मा को ! उसके कर-पुट

विलग हो गये,···उर स्वीकार नहीं कर पाया
मृत्यु सत्य को ! आत्मा का अमरत्व पान कर
उसका अन्तर जीवन ही का सत्य मृत्यु में
अनुभव करता !

"इच्छा मृत्यु इसे कहते हैं !"
बोले आर्द्र नयन ऋषिवर !—उठकर श्रद्धा से
प्रभु रज-मन्दिर को प्रणाम कर, पुष्प चढ़ाकर !—
ब्रह्म सत्य की पवित्रता थी दिव्य मृत्यु में !
सोच रहा था सत्यकाम, मा मरी, जी उठी ?

नव जीवन की लोक-पीठ स्थापित करने में,
नव युग के अन्तःसीमित सात्विक प्रांगण में!

"सरल व्यक्ति जीवन हो! ऐश्वर्यों से मण्डित
जन समाज हो, सृजन कर्म में निष्ठा से रत!
जन-जन में समता स्थापित हो, निश्छल हो उर
राग द्वेष से विरहित, जन-भू प्रीति में बँधा
दिव्य बोध के स्वर्ण-सूत्र से! कर्म वचन मन
जीवन-ईश्वर को हों अर्पित श्रद्धा से नत!
विश्व प्रकृति के सद् विधान में दृष्टि प्राप्त कर
तुम विकास-चरणों का करं नित गहन अध्ययन
नयी प्रेरणा देते रहो धरा जीवन को!

"मातृ प्रकृति की ममता से पोषित होते जन,
कोई ग्रन्थि नहीं पड़ती माता के मन में—
कोई संकट नहीं मनुज के पथ में यदि वह
मनुज प्रेम के अमर-सूत्र में बँधा रहे नित!
तुमने पुत्र स्वयं जो निज अनुभव से भोगा
धरा-सत्य में उसे प्रतिष्ठित करो प्राण पण!
धैर्य धरा का गुण है, जिसकी कमी मनुज में,
लोक कर्म का दर्शन साधारण होकर भी
गूढ़ गहन है! नम्र हृदय ही, उसका दर्पण!
ईश्वर पर अटूट आस्था ही महत् कर्म बल!
तुम गुरु नहीं, प्रकृति मा ही गुरु! तुम छात्राएँ
सेवा-रत सन्तति भर,—स्नेह समत्व में बँधे!
जय हो मानव की! जय हो जन भू जीवन की!

"मेरा कार्य समाप्त हुआ अब! मुझे विदा दो!
इससे शुभ क्या हो सकता ऋषिवर के सम्मुख
आँख मूँदकर, खोल सकूँ मैं अपर लोक में!
तुम्हीं रूप-जग में अब मेरे भाव-जगत् को
मूर्त कर सकोगे प्रिय सुत, प्रतिनिधि बन मा के!
निखिल जगत् में व्याप्त ब्रह्म को देख रही मैं!...
नव जीवन का द्वार मरण...हाँ, नव जीवन का..."
आँख मूँद ली उसने...चिर निद्रा में जगकर...
उसके उर की दिव्य शान्ति छा गयी चतुर्दिक्,...
अनघ स्वर्ग स्मिति अंकित थी निश्छल अधरों पर!

स्नेहमयी मा का जीवित शव देख सामने
सत्यकाम की आँखों से आँसू का निर्झर
फूट पड़ा... अज्ञात रूप से! गूढ़ हर्ष से
व्यथामथित खिलखिला हँस उठा उसका अन्तर!...
अंजलि दे न सका सुत मा को! उसके कर-पुट

विलग हो गये,'''उर स्वीकार नहीं कर पाया
मृत्यु सत्य को ! ग्रात्मा का ग्रमरत्व पान कर
उसका ग्रन्तर जीवन ही का सत्य मृत्यु में
ग्रनुभव करता !

"इच्छा मृत्यु इसे कहते हैं !"
बोले ग्रार्द्र नयन ऋषिवर ! —उठकर श्रद्धा से
प्रभु रज-मन्दिर को प्रणाम कर, पुष्प चढ़ाकर ! —
ब्रह्म सत्य की पवित्रता थी दिव्य मृत्यु में !
सोच रहा था सत्यकाम, मा मरी, जी उठी ?

गीत अगीत

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १६७७]

दो शब्द

प्रस्तुत संग्रह की रचनाएँ आज के संक्रान्ति युग की परिस्थितियों से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। इनके भावबोध में एक प्रकार से युगवैषम्य को अभिव्यक्ति मिली है। मेरी अस्वस्थता में तटस्थ मन बाह्य जीवन की परिक्रमा करने में संलग्न रहा है। मेरे लिए इन रचनाओं का महत्त्व इसलिए भी है कि मैं इन्हें लिखने में अपने रुग्णावस्था के अवसाद को भुला सका हूँ। आज अपने छिहत्तरवें वर्ष की पूर्ति पर इन्हें अपने प्रेमी पाठकों को भेंट करने में मुझे प्रसन्नता है।

सुमित्रानंदन पंत

दो शब्द

प्रस्तुत संग्रह की रचनाएँ आज के संक्रान्ति युग की परिस्थितियों से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। इनके भावबोध में एक प्रकार से युगवैषम्य को अभिव्यक्ति मिली है। मेरी अस्वस्थता में तटस्थ मन बाह्य जीवन की परिक्रमा करने में संलग्न रहा है। मेरे लिए इन रचनाओं का महत्त्व इसलिए भी है कि मैं इन्हें लिखने में अपने रुग्णावस्था के अवसाद को भुला सका हूँ। आज अपने छिहत्तरवें वर्ष की पूर्ति पर इन्हें अपने प्रेमी पाठकों को भेंट करने में मुझे प्रसन्नता है।

सुमित्रानंदन पंत
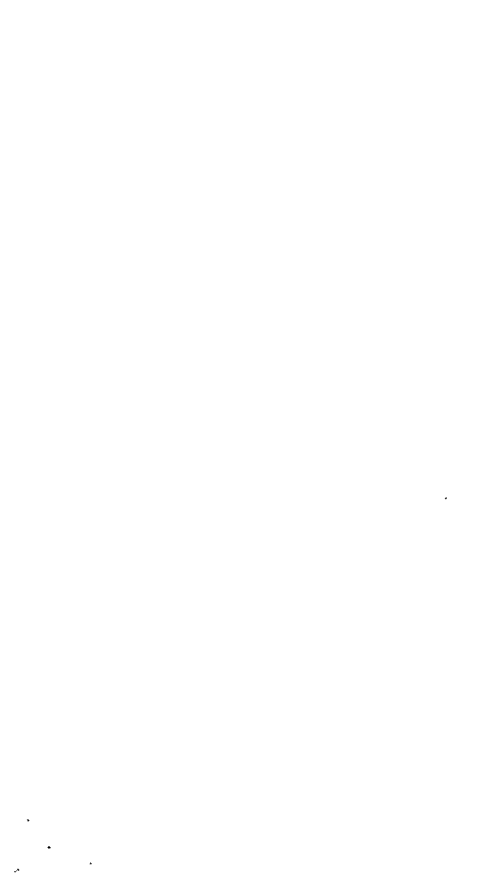
गीत

आज चेतना चलती भू पर
पुष्पों के श्री शुभ्र चरण धर !

वह विदेह, वह दृष्टि अगोचर,
वह साकार सत्य शिव सुन्दर,
जन जीवन के पथ पर अक्षत
छोड़ रही पद-चिह्न निरन्तर !

मुझे कहाँ जाना ? न कहीं भी,
अब अनन्त ही मेरा प्रिय घर,
कब जाना ? क्यों पूछ रहे हो ?
शाश्वत प्रति पग रहा अब विचर !

स्वयं चेतना चलती भू पर
पुष्पों के सित गन्ध चरण धर !
देह न पंक, निसर्ग सृष्टि वर,
रज पवित्रता देव धरोहर !
पावन बने देह का जीवन,
वह ईश्वर मन्दिर चिद् भास्वर !

नयी चेतना चलती भू पर
मुक्त देह के दिव्य चरण धर !

शूलों में फूलों-से तुम
आनन्द विलासी!

पूर्ण सृष्टि रथ,
भू जीवन पथ,
अभिव्यक्ति पाता मानव का
दिव्य मनोरथ—
मर्त्यलोक में मूर्तित
अमृत तत्त्व अविनाशी!
ओ वनवासी!

तीन

लोट रहा भू चरणों पर
करुणा का सागर,
कँप-कँप उठता अन्तर
आँखें आतीं भर-भर!

बहिर्भार से दब
मानव उर निर्मम प्रस्तर
फूटेगा उससे ही
अन्तः करुणा का स्वर!
रोक न पायेगा
अन्तर्निर्झर का पथ नर,—
द्रवीभूत होगा पर्वत
दारुण गर्जन भर!

अणु अस्त्रों का प्रलय
न बदलेगा भू का मन—
विकसित चेतस में लय होगा
भौतिक युग रण!
बहिर्भ्रान्ति जन - मन को
कवि देता आश्वासन,
अन्तः शान्त मनुजता का
करता अभिवादन!

चार

पर्वत पर कटु निर्ममता के
उठते पर्वत—
हाय विधाता,
मानवता का
मस्तक-पद नत!

एक

आओ, गाएँ !
पिछले मूल्यों में पथराये
मानव के मन को समझाएँ !

यह धरती के मन का पतझर
निश्चरित्र अब नग्न दिगन्तर,
संशय त्रास अनास्था का तम
नये ज्योति-घट भर नहलाएँ !

नव जीवन मूल्यों की कोंपल
खोल रहीं स्मित मुख श्री कोमल,
नव चेतन शोभा संचय कर
भू पर जन मंगल बरसाएँ !

नव सौरभ, नव मधु मरन्द भर,
नव भावों की सूक्ष्म गन्ध भर,
जन धरणी के गृह आँगन को
नव मानव के योग्य बनाएँ !
आओ, गाएँ !

दो

यह मन का पतझर है,
ओ भू के वनवासी !
छोड़ो निष्क्रिय आलस,
छोड़ो ग्लानि, उदासी !

नयी कोंपलें आने को
वन के शालों में,
नयी कोंपलें, कुण्ठित
जन-मन की डालों में—
तुम विकासकामी
परिवर्तन के अभ्यासी !

ये शाश्वत मधुऋतु के
अन्तर्मुख शिशु-पल्लव,
नव भावों की दीप्ति भरेंगे,
नव ऋतु वैभव,—
नव श्री शोभा पान करेंगी
आँखें प्यासी !

काट - छाँट दुर्गम
भू का वन,
तुमने गढ़ा
मनुज का आँगन,

शूलों में फूलों-से तुम
आनन्द विलासी !

पूर्ण सृष्टि रथ,
भू जीवन पथ,
अभिव्यक्ति पाता मानव का
दिव्य मनोरथ—
मर्त्यलोक में मूर्तित
अमृत तत्त्व अविनाशी !
ओ वनवासी !

तीन

लोट रहा भू चरणों पर
करुणा का सागर,
कँप-कँप उठता अन्तर
आँखें आतीं भर-भर !

बहिर्भार से दब
मानव उर निर्मम प्रस्तर
फूटेगा उससे ही
अन्तः करुणा का स्वर !
रोक न पायेगा
अन्तर्निर्झर का पथ नर,—
द्रवीभूत होगा पर्वत
दारुण गर्जन भर !

अणु अस्त्रों का प्रलय
न बदलेगा भू का मन—
विकसित चेतस में लय होगा
भौतिक युग रण !

बहिर्भ्रान्त जन - मन को
कवि देता आश्वासन,
अन्तः शान्त मनुजता का
करता अभिवादन !

चार

पर्वत पर कटु निर्ममता के
उठते पर्वत—
हाय विधाता,
मानवता का
मस्तक-पद नत !

एक

आओ, गाएँ !
पिछले मूल्यों में पथराये
मानव के मन को समझाएँ !

यह धरती के मन का पतझर
निश्चरित्र अब नग्न दिगन्तर,
संशय त्रास अनास्था का तम
नये ज्योति-घट भर नहलाएँ !

नव जीवन मूल्यों की कोंपल
खोल रहीं स्मित मुखश्री कोमल,
नव चेतन शोभा संचय कर
भू पर जन मंगल बरसाएँ !

नव सौरभ, नव मधु मरन्द भर,
नव भावों की सूक्ष्म गन्ध भर,
जन धरणी के गृह आँगन को
नव मानव के योग्य बनाएँ !
आओ, गाएँ !

दो

यह मन का पतझर है,
ओ भू के वनवासी !
छोड़ो निष्क्रिय आलस,
छोड़ो ग्लानि, उदासी !

नयी कोंपलें आने को
वन के शालों में,
नयी कोंपलें, कुण्ठित
जन-मन की डालों में—
तुम विकासकामी
परिवर्तन के अभ्यासी !

ये शाश्वत मधुऋतु के
अन्तर्मुख शिशु-पल्लव,
नव भावों की दीप्ति भरेंगे,
नव ऋतु वैभव,—
नव श्री शोभा पान करेंगी
आँखें प्यासी !

काट - छाँट दुर्गम
भू का वन,
तुमने गढ़ा
मनुज का आँगन,

शूलों में फूलों-से तुम
आनन्द विलासी!

पूर्ण सृष्टि रथ,
भू जीवन पथ,
अभिव्यक्ति पाता मानव का
दिव्य मनोरथ—
मर्त्यलोक में मूर्तित
अमृत तत्त्व अविनाशी!
ओ वनवासी!

तीन

लोट रहा भू चरणों पर
करुणा का सागर,
कँप-कँप उठता अन्तर
आँखें आतीं भर-भर!

बहिर्भार से दब
मानव उर निर्मम प्रस्तर
फूटेगा उससे ही
अन्तः करुणा का स्वर!
रोक न पायेगा
अन्तर्निर्झर का पथ नर,—
द्रवीभूत होगा पर्वत
दारुण गर्जन भर!

अणु अस्त्रों का प्रलय
न बदलेगा भू का मन—
विकसित चेतस में लय होगा
भौतिक युग रण!
बहिर्भ्रान्ति जन - मन को
कवि देता आश्वासन,
अन्तः शान्त मनुजता का
करता अभिवादन!

चार

पर्वत पर कटु निर्ममता के
उठते पर्वत—
हाय विधाता,
मानवता का
मस्तक-पद नत!

बाँझ बुद्धि की रेती की
जगमग भर बाहर,
हृदय चेतना धारा
सूख गयी—जग कातर !
अलख जगायेगा अब कौन
लोक दुख आहत,
आत्ममग्न, भिक्षा माँगेगा
तन-मन विक्षत ?
दृष्टि मोड़नी मानव की
बाहर से भीतर,
वस्तु विभव से भाव विभव में
उर केन्द्रित कर !
सूक्ष्म स्पर्श की एक किरण
पर्वताकार तम
दिग् दीपित कर देगी
हर युग जीवन का भ्रम—
जन-मन को कर उन्नत !

पाँच

सत्य नहीं मानव का
चारित्रिक पतझर क्षण,
विगत युगों के सीमित मूल्यों का
यह विघटन !
आज दिशाएँ अन्तर्मन की
भाव पल्लवित,
नव जीवन सौन्दर्य
धरा प्राणों में कुसुमित !—
हृदय पद्म में बन्दी
मधुकर भरता गुंजन !
विश्व क्रान्ति का यह
ज्वलन्त चित् पावक केतन,
इसकी छाया में संगठित
धरा के हों जन !
अग्नि प्रलय क्षण झेल
कर्मरत रहें प्राण मन !
निर्मित करना नर को
नव भू जीवन प्रांगण,
तन्द्रा त्याग, मनुज मन की
जड़ता को चेतन !—
शोभा - कलश उड़ेल
करो भू-मुख प्रक्षालन !

छः

अग्नि लपटों की ध्वजा लेकर
हुए समवेत अब हम,
(जो प्रगति क्रम !)
मरणशील
अजर अमर हम जीव !
त्रास संशय ने, अनास्था ने
हमें था
कर दिया जड़ क्लीव !

देह में रह
देह से हम रहे ऊपर !
क्षुब्ध लहरों पर बसाये
सतत हमने तैरते घर !
जूझ ज्वारों से भयंकर
सिन्धु मन्थन कर निरन्तर,
सूर्य शशि हमने उगाये
अमृत विष की घूंट पीकर !
सिन्धु उर की आग यह नव
लोक युग का याग यह नव,
धरा जीवन प्रति
अजेय मनुज हृदय का
सूक्ष्म रे अनुराग यह नव !

सात

यही धर्मपथ निश्चित !
भू जीवन के दुःख दैन्य को
करो हृदय मन अर्पित !
कुसुमों से हर्षित भू का मग,
काँटों से कुण्ठित मानव जग,
व्यक्ति समाजोन्मुखी बने,
हो क्षुद्र अहंता विस्तृत !

नाम रहे रटते हम शुक बन-
सीढ़ी पर ही अटके प्रतिक्षण,
रूप हमें ईश्वर का गढ़ना
भू जीवन में विकसित !
विश्व रूप में देखें सुन्दर
ईश्वर को साकार निरन्तर—
धरा-स्वर्ग की रचना में हो
लोक - कर्म संयोजित !

व्यक्ति मुक्ति केवल थोथा भ्रम,
नया जन्म लेता जीवन क्रम,
अन्तरिक्ष अन्वेषक,
खोजो अन्तर्जगत् अपरिचित!
—यही सत्यपथ निश्चित!

आठ

सार्थक हो भू-जीवन!
भला, कर सकेगा क्या ईश्वर
साथ नहीं दे जो प्रमत्त नर?
ईश्वर नर से पृथक् नहीं रे,
नर ही ईश्वर का वर साधन!

दैन्य दुःख हर जन का पीड़ित
जन-भू का मुख करना संस्कृत,
व्यक्ति रहेगा कवलित तब तक
जब तक हो न समग्र उन्नयन!

आधि-व्याधि के मूल न भीतर
उनका संक्रामक विष बाहर,
मानवीय बन सका नहीं रे,
अभी अभावग्रसित भू-प्रांगण!

मन अतीत मूल्यों का सागर
डूबी भू-जीवन की गागर,
कोटि जनों का यत्न चाहिए
उसे उबार सके जो प्रतिक्षण!

मनुज करों को किया समर्पित
ईश्वर ने अपने को निश्चित,
वह निर्माण करे जीवन-पथ
सित प्रज्ञा का ले अवलम्बन!

करुणा ममता का मृदु अन्तर
क्षमता का सागर जगदीश्वर,
क्षमा सतत करता शिशु नर की
सीमाएँ, भू रज के दूषण!

अजर अमर वह शाश्वत अक्षय,—
काल अनन्त, मनुज की हो जय,
वह विकास कर सके निरन्तर
यह भगवत् उद्देश्य चिरन्तन!
प्रभु के प्रति हो पूर्ण समर्पण!

नौ

डूब-डूब जाता फिर-फिर मन
भू-कर्दम से कवलित,
भर जाता अवसाद हृदय में
जाने जैसा अकथित !

सुन्दरता करती न विमोहित,
करुणा अन्तर करती मन्थित,
बाहर भीतर कहीं न जाने
दुख के मूल अपरिचित !

दुख न अन्त मानव-जीवन का,
मन अन्तिम सोपान न मन का,
जड़ विषाद तम केवल क्षण का
भव विकास क्रम निश्चित !

गत संगठन मनुज के मन का
दर्पण अब न रहा जीवन का,
नव जीवन के लिए नया मन
नर को करना निर्मित !

ममता सहृदयता से छूकर
मृत अतीत का क्रूर दैन्य हर
गत इतिहास धरा का करना
नव संस्कृति में मज्जित !

दस

ऊँचा उठ मन गरुड़
धरा का करता मौन निरीक्षण—
हाय, आज उत्ताल उदधि-सा
उद्वेलित भू-जीवन !
क्षुद्र व्यक्ति अपने में सीमित
राग द्वेष तृष्णा से मन्थित,
मनुज स्वयं ही शत्रु मनुज का,—
भरता नहीं हृदय-व्रण !
वह मृत आदर्शों से पीड़ित
या यथार्थ दंशों से मूर्छित,
स्वीय आत्म-सन्तुलन खो चुका
बुद्धि भ्रान्त वह उन्मन !
बदल गया बाहर का जीवन,
बदल नहीं पाया नर का मन,
जड़ अतीत की क्रूर वृत्तियाँ
करतीं उसका शासन !

भू अब बहु देशों में खण्डित
विक्रय स्पर्धा रण से गर्जित,
गढ़ता युग मानव दानव बन
निज विनाश आयोजन !

बहिर्विभव का कर बहु संचय
भोग रहा वह आत्म-पराजय,
ह्रास त्रास, विघटन संशय का
मानव मूढ़ निदर्शन !

सावधान नर, निकट प्रलय क्षण,
बहिर्भ्रान्त हों अन्तश्चेतन,
खोल चेतना अन्तरिक्ष
मन करे मुक्त आरोहण !

ग्यारह

रेती में भटका मृग घायल,
चकाचौंध मन के दृग चंचल !

चुभते पावक के सिकता कण
जर्जर अन्तर में सौ-सौ व्रण,
बाहर व्याकुल मृग जल तृष्णा
कहाँ मिले प्यासे उर को जल !

दूर कभी जो हो जन दिग् भ्रम
स्वयं बदल जाये जीवनक्रम,
भीतर ही रे स्रोत सत्य का
बाहर सत्याभास मात्र, छल !

हृदयकमल ही में ईश्वर स्थित,
हृदयचेतना हो जो विकसित
नव प्रवाह जीवनधारा को
मिले,—रहे जग नहीं मरुस्थल !

जीवनविमुख धराजीवी मृत,
जीवन का मुख करना संस्कृत,
जन भू मन्दिर में ईश्वर का
रूप प्रतिष्ठित करना प्रतिपल !

बारह

बच्चों को मत जन्म दान दो !
नरकभूमि यह, इसमें पावन
मातृकर्म को तुम न स्थान दो !

हृदय-स्वर्ग के शिशु मृदु अंकुर
इनकी रक्षा ही में रत सुर,—
भू के जीवन को संवारकर
सृजनशक्ति का तुम प्रमाण

कोमल नव कलियों-से तन-मन
कुम्हला उठते दुख से तत्क्षण,
इनकी मधुमय इच्छाओं को
पूर्ण करो द्रुत, उन्हें कान दो !

ये स्वप्नों के पलनों में नित
अप्सरियों से होते पोषित,
सरल अबोध, दृगों के तारे,
लोरी गा-गा, मुग्ध गान दो !

ईश्वर ही इनमें दृग मूर्तित
प्रकृति बनाती इन्हें अकलुषित,
लालन-पालन में रह तत्पर
इनके लिए सदैव प्राण दो !

क्रीड़ाप्रिय ये, लीला करते,
भू-मन का विषाद नित हरते,
सुनो मुक्त किलकारी, उर के
अन्धकार को नव विहान दो !

योग्य बन सके शिशुओं के हित
भू को स्वर्ग बनाओ संस्कृत,
जीवन को दो तभी, जनक, तुम
जीवनदान—सुकृत महान दो !

तेरह

कीड़ों - से रेंगते धरा जन,
तन से निर्धन, मन से निर्धन !
धिक् अति प्रजनन, धिक् अति चिन्तन,
धिक् अति धन, जो करता शोषण,
अति अतिशय वर्जित, मानव को
जीवन में चाहिए सन्तुलन !

कहाँ आज सौन्दर्यबोध क्षण,
कला-शिल्प-रुचि से प्रेरित मन,
भूखे भजन नहीं रे सम्भव,
उर कबीर-सा करता क्रन्दन !

सदियों के अभाव से पीड़ित
रूढ़िरीतियों से जन कवलित,
क्या सम्भव उद्धार निकट ही ?
वर्ष बीतते बन रीते दाग !

घोर पाप दारिद्र्य न संशय,
मर्दित करता तन - मन को भय,
स्वाभिमान से शून्य, न उठता
शीश, मृत्युवत् जीवनयापन !

साधनहीन धरा जन का पथ,
मनुष्यता का धँसा कर्ण रथ,
आकांक्षाएँ दंशित करतीं
उर को,—उठा भयंकर अहि-फन !

सामूहिक श्रम से ही सम्भव
कर्दम कृमि बन सकता मानव,
लोक प्रीति, करुणा, सहृदयता
करें धरा जन पथ संचालन !
कीड़ों-से रेंगते धरा जन !

चौदह

कहाँ भाव-सौन्दर्य आज
सुख-दुख के रस-संवेदन ?
अपलक स्वप्नों से न पग-ध्वनित
अब कविता का आँगन !

भारवाह कुत्सित यथार्थ के,
नत शब्दों के मस्तक,
अब उड़ान भरती न कल्पना
धरती से अम्बर तक !

जटिल परिस्थितियों से युग की
नर का कटु संघर्षण,
स्थूल सूक्ष्म सम्बन्ध खो चुके
उभय कार्य सँग कारण !

बहिर्भूत भौतिक स्थितियों से
मानव-मूल्यों का रण,
मनुष्यत्व की चरम विजय का
अभी नहीं आया क्षण !

बाह्य परिस्थितियों से प्रतिपल
मानव आज पराजित,
उसे जूझना उनसे अ-विरत
नये मूल्य कर स्थापित !

स्थितियों पर विजयी होना ही
नर चरित्र का द्योतक,
आत्महीनता मनुष्यत्व की
मृत्यु, नाश की पोषक !

भाव सम्पदा का, आओ, फिर
करें मुक्त आवाहन,
स्वप्नों के सहृदय स्पर्शों से
भर यथार्थ के कटु व्रण !

पन्द्रह

आज क्षुद्र देह की इकाई
मानव श्री-हत,
आत्मा, मन औ' प्राण
देह-सेवा ही में रत !
अन्तरिक्ष नर के आदर्शों का
अब बाहर,
चकाचौंध मृग,
तृष्णा की रेती से कातर !
विविध वस्तुओं के
पर्वत बोझों से दबकर
भटक भ्रान्तियों के भँवरों में
रहा निरन्तर !
तृष्णा जल का ज्वार
डुबाता बनकर सागर,
अन्तर्जल से रिक्त
अतृप्त हृदय की गागर !
असन्तोष उर का पाता
अभिव्यक्ति प्रतिक्षण,
क्षुब्ध, क्रुद्ध निज पर से
रुद्ध मनुष्य अकारण !
वह केवल अपने मन के
भावों से परिचित
भू मानवता क्षुद्र
अहंताओं में खण्डित !
अन्तरिक्ष की खोज व्यर्थ,
बाहर हो ऊपर,
भीतर आत्मा का रवि,
परिक्रमा-रत सुर नर !

सोलह

कौन भावना आज
बाँध सकती मानव का अन्तर
ह्रास नाश विघटन के युग में
छाया घोर बवण्डर !

बुद्धि श्येन-सी उड़
जीवन का करती तीक्ष्ण निरीक्षण,
उच्च शिखर पर
आत्मस्वार्थ के मँडराता अब युग-मन !

बहिर्विश्व के अन्तरिक्ष में
भर उड़ान युग - मानव
रणकौशल का लक्ष्य खोजता
युद्ध कलाविद् दानव !

उसे आज बहिरन्तर मूल्यों का
करना संयोजन
जड़ यथार्थ के चक्रों से
मर्दित अब उसका जीवन !

स्वेद सिक्त वह आत्म तिक्त
जड़ सम्पद् करता संचित,
हृदय सम्पदा से विहीन नर
मनुष्यत्व से वंचित !

कौन प्रेरणा उसे उठा सकती
कुत्सित कर्दम से ?
कौन चेतना उसे मुक्त
कर सकती तम, दिग् भ्रम से ?

सामूहिक व्यक्तित्व मनुज का
जो हो व्यापक विकसित
जीवन ईश्वर पर हो आस्था
जन अन्तर हो संस्कृत !

सत्रह

शोभा लहरी-सी जो स्त्री
चलती थी भू पर
आज सर्प-सी छोड़ रही
फूत्कार भयंकर !

असन्तोष, कुण्ठाओं से हत
जर्जर अन्तर,
अति रति तृष्णा से शोषित
श्री-हीन कलेवर !

प्रसाधनों से रचा रूप
करता न विमोहित
काग़ज़फूलों - सी नीरस
सुन्दरता मूर्छित !

व्यंग्य वचन युवती के
उर-कटुता के द्योतक,
सभी तरुण प्रणयी जन
उसके निकले वंचक !

घर-आँगन की शोभा
गरिमा थी जो नारी
अब काया की छाया-भर
वह विधि की मारी !

स्त्री-स्वतन्त्रता की आँधी में
भटक गये पग,
सूझ न पाता भावोद्वेलित
अन्तर को मग !

स्वतन्त्रता का स्वस्थ भोग
वह करे निरन्तर,
उसे शील की रक्षा करनी
धीर चरण धर !

अठारह

अन्तर्राष्ट्रिय महिला दशक,
तुम्हारा स्वागत,
स्त्री-स्वतन्त्रता जन धरणी की
नव अभ्यागत !

युग-युग के पाशों में
बद्ध बिचारी नारी
उसके सम्मुख रहीं
समस्याएँ नित भारी !

हाथ बँटाये
सामाजिक जीवन में अपना,
युग यथार्थ-पट में गूँथे
स्त्री-उर का सपना !

स्त्री-स्वतन्त्रता का वह
कहीं करे न अपव्यय,
वह संस्कृति की शिरा,
जन्म से ही चिर सहृदय !

धरती उसके सहज
शील-गुण से ही जीवित,
जन जीवन मंगल प्रति हो
वह मौन समर्पित !

लाँघ देहरी घर की
मुक्त करे वह विचरण,
चरण भटक यदि जायें
क्षमा करता कवि का मन!

युग-युग की बंदिनी
जगत गति से हो परिचित
स्त्री नर के भावों के
विनिमय से उर शिक्षित!

उसके बिना अधूरा ही था
जग का जीवन,
मानव गरिमा स्त्री-युग के सँग
करे पदार्पण!

उन्नीस

आओ, गढ़ें नया मानवमन,—
सामूहिक जीवन की महिमा
गरिमा के प्रति हो जो चेतन!

भूजीवन को जो विकास के
सोपानों पर करे संचालित,
रूढ़िमुक्त कर, जन भू मन को
मनुष्यत्व से करे अलंकृत!
उर्वर हो जीवन का प्रतिक्षण!

सामाजिक रे जग के सुख-दुख,
नहीं व्यक्ति तक ही वे सीमित,—
वैषम्यों को मिटा, धरा पर
करें मनुज-समता जन स्थापित!
राग-द्वेष का मिटे तिक्त रण!

अन्तर्मन के रुद्ध झरोखे
विश्वचेतना से हों दीपित,
हृदय-हृदय में मनुजप्रेम की
मधुर वेदना हो अब जागृत!
एक बने खण्डित भू-प्रांगण!

करुणा ममता शून्य हृदय यदि
जन-भू दुख के प्रति निर्दय यदि,
तो वह हृदय न, निर्मम प्रस्तर
वह जीवन न, बोझ अभिशापित!
वांछित उससे कहीं रे मरण!

ज्ञान-ध्यान, जप-तप जन-युग का
योग-सिद्धि, चित्रण या दर्शन
मानव दुख हरना, जीवन का
करना बहिरन्तर समुन्नयन,—
यही सत्य प्रति आत्मसमर्पण !

इसी धरा पर सृजन प्रेरणा
आस्था स्वर्ग करे नव निर्मित,
मुक्त कर्म मन वचन प्राण हों
विश्वकर्म के प्रति संयोजित !
बाहर-भीतर का हो दर्पण !

बीस

क्यों विषण्ण निष्क्रिय हो जीवन ?
क्यों अतीत असफलताओं में
डूबा रहे व्यथा-कुण्ठित मन !
जग की गतिविधि जड़, हम चेतन,
नयी भूमि पर करें पदार्पण,
नयी चेतना का जन-भू पर
आओ, मुक्त करें अभिवादन !

अगणित कर-पद का श्रम प्रतिक्षण
रचना करे धरा की नूतन,
मचले रुद्ध विकास-तटों पर
नव भावों का सागर-यौवन !
कब संघर्षों से हताश हम
निश्चेतन निशि के प्रकाश हम,
जन-मानव, जिनके कन्धों पर
भू पथ का दायित्व चिरन्तन !

विगत युगों का मनः संगठन—
इसे बनाना नव युग दर्पण !
जाति वर्ण के गर्तों को भर
बहे प्रेरणा का नव प्लावन !
धरा कर्म में जो अन्तः सुख
स्वर्ग तुच्छ है उसके सम्मुख,
लज्जित करें न मनुष्यत्व को
हम दुर्बलता का कर पोषण !

इन्द्रियचारी जन का जीवन
नहीं बन सका संस्कृत, पावन,
जड़ता हर भू-जीवी नर की
उसे बनाना अन्तश्चेतन !

जिसे देख उन्मत्त समीरण,
लहरें जल में करतीं नर्तन,
श्री सुन्दरता उसकी, जन के
लिए बने शाश्वत आकर्षण !

सब शब्दों का एक अर्थ भर,
तुम्हीं असंशय विश्व चराचर,
जन-मन की प्रार्थना बन सके
मेरा अर्पित आत्मनिवेदन !

इक्कीस

सरल प्रबुद्ध बने जन भू नर
आत्मा से संयुक्त निरन्तर !

जन समूह-जग जीवन सागर
व्यक्ति विश्व की एक बूंद भर,
वह महान रे विश्व-सिन्धु से —
उसमें निहित समाज अगोचर !

व्यक्ति समाज परस्पर आश्रित,
एक सत्य से वे संचालित,
अभिव्यक्ति पाता समाज में
भेदविमुक्त व्यक्ति का ईश्वर !

व्यक्ति सत्य का सार असंशय,
जन समाज-संसार-सत्वमय,
भू-मंगल के हित श्रेयस्कर
सच्चरित्र, कर्तव्यनिष्ठ नर !

मनुज सभ्य के संग हो संस्कृत
मन समाज का अन्त: शिक्षित,
व्यक्ति-सत्य प्रति जागरूक ही
जन समाज नित उन्नति पथ पर !

व्यक्ति समाज परस्पर तन्मय
हो वैचित्र्य एकता में लय,
लोकक्रान्ति हो पूर्ण तभी
जब जन हों संयोजित बहिरन्तर!
सरल सुबोध बने भू पर नर !

बाईस

वृद्ध हो रहा हूँ मैं प्रतिक्षण !
मुझे खेद अति, रोग-शोक से
ग्रस्त आज मेरा मानव-तन !

अर्धशती तक कर संघर्षण
रहा जूझता अनथक जीवन,
मातृहीन वपु, मिला न मन को
मातृ स्नेह का तन्मय पोषण !

निज सीमाओं से करता रण
भावप्रवण, सुकुमार रहा मन,
कब आया, कब गया, न मुझको
स्मरण, उपेक्षित बीता यौवन !

अभी विश्वजीवन परिवेश न
हुआ परिष्कृत, आयुस वर्धन,
संसर्गज बहु आधि-व्याधियाँ
भू-जीवन का करतीं शोषण !

दूषित अन्न, समीरण, जलकण
कैसे हो जीवन संवर्धन,
वातावरण विषाक्त जगत का
शाप-ताप-कवलित भू के जन !

मनोग्रन्थियों से पीड़ित मन
खण्डित चूर्ण हृदय का दर्पण,
मानवीय बन सका न अब तक
कटु कण्टक वन जन भू-प्रांगण !

सूक्ष्म दृष्टि से छवि कर अंकित
शोभा प्रति जो करता दीक्षित,
कटु संघर्षण बिना सुलभ कब
कलाकार को जीवन यापन !

ऋणानुबद्ध निखिल जग-जीवन
करते सुख-दुख रोग संक्रमण,
सामूहिक उन्नयन व्यक्ति के
कुशल-क्षेम का भी हो कारण !

स्वच्छ स्वास्थ्यप्रद हो भू का घर
जन सुख-शान्ति इसी पर निर्भर,
मृत्यु-अंक में स्वप्न शयन कर
नया जन्म नर पाये पावन !

दबे भार से नहीं धरातल
हँसें फूल-से जीवन के पल,
शिशु शतायु हो, उसका जीवन
जन-भू मंगल का हो साधन !

कब ऐसा आयेगा शुभ क्षण
जब स्वयमपि नीरोग मनुज तन
पके हुए फल-सा झर, रज को
सहज करेगा आत्मसमर्पण !

कब विकास-क्रम में हो विकसित
नये गुणों से जीव विभूषित
भू जन से होने अभिनन्दित
ग्रहण करेगा नये युग वसन ?

तेईस

आओ, आओ,
दिव्य अतिथियो, स्वागत !
आओ !
नव किरणों के पंख खोल
मन में छा जाओ !

नव भावों की सूक्ष्म देह धर
नव श्री-शोभा से उर को भर,
शैशव विस्मय, कौतूहल से
भू पर नव वैभव बरसाओ !

फूलों को दे विहगों के पर,
विहगों को गन्धर्वों के स्वर,
स्वप्नों की आदर्श सृष्टि कर
जड़ पदार्थ का दैन्य मिटाओ !

खोलो हे, अन्तर के लोचन,
सृजन-प्रेरणा के उतरें क्षण,
हृदय स्पर्श दो बौद्धिक युग को
प्रस्तर उर में फूल खिलाओ !

वस्तु, वस्तुओं के पीछे नर
पागल,—मूषक का बिल अन्तर,
उनको फिर से भावलोक का
तदाकार ऐश्वर्य दिखाओ !
आओ, सूक्ष्म अतिथियो, आओ !

चौबीस

गाओ, हे स्वरशिल्पी, गाओ !
वीणा के यदि तार
टूट हों गये—
न दुःख मनाओ ! गाओ !

उर की आकुलता से प्रेरित
जन मंगल हित कर स्वर झंकृत,
नये तार कस लो तन्त्री में
मौन न यों रह जाओ !

देखो, खग भरता कलरव स्वर
उससे आतुर कण्ठ मिलाकर
गाओ, भू-जीवन के गायक
मन की व्यथा भुलाओ !

कांटों से बिंधकर भी मधुकर-
गूंजा करता मधु रस कातर,
संचित करो जगत हित मधुकण
नव मधुछत्र बनाओ !

तन्मय हो गाओ, स्वरसाधक,
जीवन ईश्वर के आराधक,
नव जीवन सौन्दर्य ज्वार में
मन का दैन्य डुबाओ !

पच्चीस

पागल, हाँ,
पागल कर जाऊँगा मैं अग-जग !
कांटों की कोमलताओं से
कुसुमित कर दूंगा जन-भू-मग !
उड़ा पर्वतों को दूंगा द्रुत
लगा तितलियों के पुलकित पर,
भय संशय का अन्धकार हर
मुक्त, कालजर्जर पंजर से,
कर जाऊँगा मैं मन का खग !

जड़ अतीत से कढ़कर बाहर
पैठा मैं भावी के भीतर,
बदल सृष्टि का गति-क्रम दूंगा
नयी चेतना के धर सित पग !

शान्ति शिखर से
प्रीति के मुखर
दायें बायें झरते निर्झर,
बहते रस आनन्द समाधित
श्री-शोभा के स्रोत निरन्तर !
मैं नव आस्था के स्पर्शों से
सहला जाऊँगा दुखती रग !

बचपन से जो मुझे लुभाती
भाव-मूर्त अब होती जाती,
देख रहा, विचरण करती वह
अब भव वैषम्यों की भू पर !
नर ईश्वर, लो, चलते संग-संग !

छब्बीस

मेरा मन-घन, श्यामल तरुवर !
प्राणों के स्पर्शों से जिसके
गीत-पत्र भरते मृदु मर्मर !

भावों के सुमनों से सुरभित
अन्तरतम मधु रस से सिंचित,
जिन्हें घेर प्रिय गुंजन भरते
नित्य प्रेरणाओं के मधुकर !

उन्मेषों के विहग श्लक्ष्ण स्वर
नीड़ों-से गर्भित कर अन्तर !
हर्ष मुखर रखते आशाएँ
पुलकों के फैला रोमिल पर !

फूलों की शोभा के भीतर
फल प्रज्ञारस भरे मनोहर,
मूल धरा में गहरे इसके
ऊर्ध्व शिखर उठ छूता अम्बर !

शाखाएँ क्षितिजों से गुम्फित
जन-भू के प्रति सहज प्रणत नित,—
यह प्रच्छाय घरे भूतल को
जन के उर का शोक ताप हर !
मेरा मन श्यामल घन तरुवर !

सत्ताईस

कभी मुझे लगता,
मैं केवल मुक्त विहग हूँ !
प्राणों की डाली पर बैठा
गायक खग हूँ !

पुष्पों की पंखड़ियाँ
मेरे पंख मनोहर,
चटुल तितलियों में
निःस्वर चित्रित मेरे स्वर !

मेरी रंग उड़ानें
सुरधनु में रंग भरतीं,
पंख खोल जब सतरंग सुषमा
नभ में तरती !

सायं-प्रातः मैं भू-नभ में
भरता गायन,
विश्व वन्दना के होते वे
मेरे प्रिय क्षण !

मुझको लगता, यदि खग होते
नहीं गीत-पर,
कृमि पशु तक ही
सीमित होते
सभी चराचर !

रेंगा करता भू पर
सरीसृपों का जीवन,
पंख खोल उड़ती न चेतना
नभ में भर स्वन !

गीत विहग के बिना
सृष्टि क्या होती सार्थक ?
सब-कुछ होता,
पर क्या होता जीवन-गायक ?

कौन मधुर श्री-शोभा को
तब देता वाणी ?
मर्म प्रीति की रचता
रसमय गूढ़ कहानी ?

अट्ठाईस

स्वप्नों के रथ पर आओ !
कर्म क्लान्त जन-भू आँगन में
भाव, विभव बरसाओ !

वहिर्जगत में रहे न सीमित
जन-उर जड़ पदार्थ पर मोहित,
अन्तर्जीवन सुख के प्रति
जन को जाग्रत कर जाओ !

स्पर्धाओं से पीड़ित अन्तर
असफलताओं से हत कातर,
उसे निराशा कुण्ठा के
दंशों से मुक्त कराओ !

जन-भू-जीवन के प्रति अर्पित
आत्म-लिप्त मन रहे न किंचित्,
नव विकास के सोपानों पर
उसको सतत उठाओ !

काम बन्दिनी रहे न नारी
भय संशय लांछन की मारी,
श्री-सुषमा प्रतिमा के मुख से
गुण्ठन जीर्ण हटाओ !

युग संघर्षों का साक्षी भर
कर्म-निरत नर रहे निरन्तर,
नव जीवन की अभिव्यक्ति का
साधन उसे बनाओ !
स्वप्नों के रथ पर आओ !

उनतीस

आओ, हम सूरज की किरणें
बोएँ भू पर,
वही बनातीं भू रज को
शस्य - स्मित, उर्वर !
ऊपर से प्रेरणा
ग्रहण करता जब अन्तर
वह प्रकाश के अक्षय
वैभव से जाता भर !
भाग्यवान् हम भू - जन
जो समतल अधिवासी,
हम भू पर नीचे की
सम्पद् के अभ्यासी !
मूल हमारे नीचे रहते
अवचेतन में,
शिखर वहन करते गौरव
उठ नील गगन में !
प्राण - वायु के स्पर्शों से
तन रहते पुलकित,
भावोच्छ्वासों से दिङ्मण्डल
रखते सुरभित !
सभी फूलते - फलते नहीं
जगत में आकर
पत्रों को कँप हरीतिमा
मृदु भरती मर्मर !
जीवन अपने ही में रे
वरदान असंशय,
अपने पर जय पाना
जीवन पर पाना जय !
अनुभव की सम्पदा
सभी कर सकते संचय,
सुख - दुख का होता रहता
जीवन में परिणय !

ऊपर से हन ज्योति
ग्रहण करते चिर भास्वर,
नीचे से आकांक्षाएँ उठ
गुह्य निरन्तर—
शुष्क ज्योति के स्पर्शों को
करतीं रस सिंचित,
अधः ऊर्ध्व को करती
रहती सृष्टि समन्वित !

बीज अमर सत्,
विश्व उसी की अभिव्यक्ति भर,
तन पलने में उसे
पालते नित प्रकाश कर !
तम प्रकाश के परे,
अनन्त अखण्ड अगोचर
हम शाश्वत के बीज,
हमें जग में किसका डर !

तीस

जी करता कुछ नूतन गाऊँ !
प्राणों के वीणा-तारों में
सोया आकुल राग जगाऊँ !
अन्तर में संशय भय कम्पन,
युग आवेशों से मन्थित मन,
बीती स्मृतियों के सुख-दुख को
विश्वव्यथा में आज डुबाऊँ !

छा जाती क्यों गूढ़ उदासी
जन-भू जीवन लगता बासी,
नव स्वप्नों की श्री-शोभा से
कैसे जन की प्यास बुझाऊँ ?

भले अभी खग करते गायन
मधुप्रिय मधुकर भरते गुंजन,
जन-मानव भावों में अभिनव
मैं संगीत कहाँ से पाऊँ ?

जड़ यथार्थ से भू-मन दंशित,
मानव मानव के प्रति शंकित,
कैसे नव स्वर तार छेड़कर
मानव-उर का क्षोभ मिटाऊँ ?

संशय त्रास अनास्था मन्थित
इह-पर के पाटों से मर्दित
कौन नयी आस्था दे नर को
मैं अन्तर-पथ उसे दिखाऊँ ?

इकतीस

भोले शिशुओं में होता
कितना आकर्षण,
कलाकार हो तुम महान्
निश्चय ही भगवन्!

कैसी अद्भुत सृष्टि रची
शिशुओं की पावन,
उनके प्रिय पदतल छूकर
पुलकित भू-प्रांगण!

और निकट आओ,
तब समझोगे सम्मोहन,
सूर्य चन्द्र तारे केवल
उनके पद - रज - कण!

शिशु रहस्य हैं,
सरल सुबोध भले उनका मन,
उनका आनन क्या न
स्वर्ग ही का प्रिय दर्पण?

उनकी निश्छल स्मिति
नव कलि कुसुमों में चित्रित,
अटपट गति चंचल
जल लहरों में मृदु नर्तित!

सृष्टि व्यर्थ होती
शिशुओं के बिना न संशय,
देख मधुर मुख
मातृ प्रकृति हो उठती तन्मय!

कोयल किसके लिए
स्वर्ग के लाती गायन?
मधु संचय ही क्यों करते
मधुकर भर गुंजन?

आओ, शिशुओं में पायें
ईश्वर के दर्शन,
और नहीं वह भू पर कहीं,
सत्य यह गोपन!

बत्तीस

क्रीड़ाप्रिय होता नव शैशव!
उसके मृदु अन्तर में होता
संरक्षक देवों का वैभव!

अपने स्वप्नों से वह सुन्दर
गढ़ता अभिनव जगत् निरन्तर,
तन्मय रहता वह उनमें ही
भावों की वस्तुएँ बना नव !

वह होता स्वर्गिक जादूगर,
जादू के डण्डे से छूकर
रचता नव संसार अलौकिक
बना असम्भव को भी सम्भव !

आँखों के सम्मुख वह निःस्वर
देखा करता दृश्य अगोचर,
मुक्त कल्पना का स्रष्टा वह
उसके लिए स्वप्न ही वास्तव !

शिशु ईश्वर के प्रतिनिधि पावन,
उनके सम्मुख नत मेरा मन,
वे अज्ञात भविष्य पथिक रे,
शिशु से रहित व्यर्थ सूना भव !

तैंतीस

मेरी प्यारी बेटी सुमिता—
पाँच साल की
अभी नहीं वह—
कमरे में आ चुपके, मुझको
देख एकटक, बोली,
"दद्दू, मुझे छोड़कर
भला, चले जाओगे क्या तुम ?"
मैंने पूछा,
"क्यों कहती हो ?
कहाँ चला जाऊँगा मैं ?"—वह
चुप रह क्षण-भर, बोली,
"तुम जो मर जाओगे ! !"
विस्मय हुआ मुझे !
वह नहीं समझती अब तक
क्या है मृत्यु ?...
सूँघ उसका सिर, बोला हँसकर,
"किसने तुमसे कहा ?
नहीं तो, तुझे छोड़कर
दद्दू भला कहाँ जायेगा ?—
बतलाओ भी
तुमसे किसने कहा ?"
ध्यान से देख मुझे वह

बोली, "दद्दू, हमें किसी ने
नहीं बताया!"
भारी स्वर में कहा,
"ज्ञात है मुझे स्वयं ही!
मुझे छोड़कर मत जाना तुम,
कभी न जाना!"

आँखें भर आयीं!...
मैं भावावेग रोककर
बोला, "सोना, बड़ा बनाकर
पहिले तुझको
पीछे जाऊँगा मैं!"
"कभी नहीं!" उत्तेजित
स्वर में बोली,
"हम होंगे ही नही बड़े, जब
खायेंगे ही नहीं—
बड़े तब कैसे होंगे?"

सुनकर उसका तर्क,
गोद में लेकर उसको
प्यार किया मैंने,
उसका सिर सूँघ, चूमकर!
उसको समझाया,
लिपटाकर सहज गले से,
"बेटा, सभी नहीं मरते—
मैं भी उनमें हूँ
जो न कभी मरते!
मैं नहीं मरूँगा, तुझसे
सच कहता हूँ!"

समझ गयी वह भाव हृदय का
उसे छोड़कर
मैं न कभी मरना चाहूँगा!—
मरने पर भी
मैं उसका ही बना रहूँगा!
दीर्घ साँस निकली
उसके उर से अनजाने,
सुख सन्तोष झलक आया
द्रुत आतुर मुख पर,—
लिपट गयी वह मेरे उर से
मुग्ध भाव-सी!

चौंतीस

पीपल तरु को कहते चलदल,
मेरा मन उससे भी चंचल !
इसे कहोगे तुम क्या जाने ?
व्यर्थ न लगो इसे समझाने,
यह बातें माने कि न माने !

इसे मुक्त विचरण करने दो,
नव-नव संवेदन भरने दो !
छोड़ी इसने निम्न अधोगति,
ऊपर-ही-ऊपर इसकी रति,—
अपनाई इसके स्वभाव ने
स्वयं ऊर्ध्व गति, स्वयं सूक्ष्म मति !

पीपल तरु को कहते चलदल,
मेरा चित्त वायु - सा चंचल,
इसे साधना, इसे बाँधना
चिड़िया के रे पंख काटना !

व्यर्थ नाक में मत नकेल दो,
इसमें निज सौरभ उड़ेल दो !
जैसा है इसको अपना लो,
निज स्वरूप में धीरे ढालो !

कवि की चित्तवृत्ति चिर चंचल
अये परम सुन्दर,
वह शोभा प्रति आकर्षित
रहती प्रतिपल !

पैंतीस

देश-काल भय कहाँ रह गया ?
मूर्त अमूर्त जगत्,
जड़ चेतन,
प्रीति ज्वार में डूब, बह गया !

देख रहा मैं नूतन जीवन
तुम जन-मन गढ़ रहे प्रतिक्षण,
रूढ़ि रीतियों का विधान गत
दिव्य स्पर्श पा स्वयं ढह गया !

पवन बुहार गया क्या भूपथ ?
रोके रुकता नहीं प्रगति-रथ,
सुना गूढ़ सन्देश,
कान में
कौन अलौकिक मन्त्र कह गया ?

बहिर्भ्रान्ति भर था भू - जीवन
ज्ञात न था अन्तर - पथ गोपन,
सूक्ष्म चेतना तृण
जड़ता का
दुर्धर पर्वत भार सह गया!
जाति - वर्ण का मन में कर्दम
रोके था जीवन - विकास - क्रम,
व्यक्ति मुक्ति का मध्ययुगी भ्रम
लोकयज्ञ में धधक दह गया?

छत्तीस

ओ सम्पद् - लालसा - वृद्ध,
संघर्ष - निरत जन,
तुमको देता
भाव-सम्पदा का मैं जीवन!

तरुणि, छोड़ दो
कृत्रिम सज्जा, बाह्य प्रसाधन,
तुमको देता हूँ
अन्तः शोभा का यौवन!

ओ अणु - अस्त्र बनानेवाले
देशो भीषण,
मनुज प्रेम का शस्त्र करो
धारण तुम नूतन!

दैन्यों दुःखों से निराश
ओ कुण्ठा - हत मन,
सामाजिक भू - श्रम का
ग्रहण करो तुम साधन!

दोष भाग्य को मत दो
कर्म करो युग चेतन,
निर्मित करो विषमताशून्य
धरा का प्रांगण!

ऊहापोह करो मत,
छूछा रीता चिन्तन,
जीवन ईश्वर पर आस्था रख
करो समर्पण!

सैंतीस

हाय, दशा दयनीय
दैन्य-हत भू-जीवन की,
शोचनीय दुर्बलता रे
यह मानव मन की!
क्या बन सकता था वह
क्या हो गया आज है,
अपने दुष्कृत्यों पर
उसे न तनिक लाज है!

नरक बना डाला उसने
सुन्दर निसर्ग को,
मिला दिया मिट्टी में
सुखमय धरा-स्वर्ग को!

रूढ़ि - रीतियों, पूर्व जन्म
कर्मों से चालित
नव्य प्रेरणाशून्य मनुज
जर्जर, जीवन - मृत!
राग - द्वेष, स्पर्धा - हिंसा से
अन्तर कुण्ठित,
स्वाभिमान, पौरुष,
मानव-गौरव भू लण्ठित!
स्थितियों से कवलित मानव
बन गया दुष्ट है,
ऐसा नहीं कि ईश्वर
उसके लिए रुष्ट है!

दण्ड दुष्ट को दो, पर
उसके प्रति हो सहृदय,
उसे मनुष्य बनाना है
फिर हमको निश्चय!
आदर दो उसको,
उसके भीतर भी ईश्वर
भटक गये थे उसके पग
बाहर ही बाहर!

शिक्षालय हों काराएँ,
विधि नहीं क्रूर हों,
मनुष्यत्व के ध्येयों से
वे नहीं दूर हों!
हम अपने ही भाग्यविधाता
मुझे न संशय,

विचर सके धरती पर नर
सबके सँग निर्भय !

कर्मप्रणाली के प्रतीक, भर
उच्च नीच पद क्रम,
भू - मानव सब हों समान
सब मुक्त निरापद !
ईश्वर ही का प्रतिनिधि रे,
जन - धरणी पर नर,
ईश्वर से संयोजित हो
उसका बहिरन्तर !

सोपानों पर नये चढ़े
जीवन - विकास - क्रम,
मन्त्र मनुज को देता मैं—
वह सामाजिक श्रम !
सन्तति निग्रह करो,
न बोझ बढ़े जन-भू पर,
पशुओं - से मत बनो,
न भू-जीवन-पथ दुष्कर !

भाग-दौड़ मत करो
उच्च पद प्रति लालायित,
स्वाभिमान मत खोओ,
भीतर से हो विकसित !
दानवता के रे निवास
ये सौध उच्चतर,
मानवता रहती विनम्र
कुटियों के भीतर !

धिक् तुमको, तुम
विभव भोग को कहते जीवन,
अपने में स्थित रहो,
दु:ख-सुख पर कर शासन !
संयम ही पर्याय
मनुजता का नि:संशय,
मित्र बनाओ जग को,
तुमको किसका क्या भय ?

प्रेम सृष्टि का ईश्वर
जिससे विश्व समन्वित,
सार प्रेम का संयम,—
मत हो मन में शंकित !

कर्म वचन मन संयम
हो जो जीवन साधन
धरती स्वर्ग बने,
आह्लादित देह-प्राण-मन !

भाव विभव से करो
धरा-जीवन को पोषित,
उच्च प्रेरणाओं से
जन-मानस हो संस्कृत !
खण्ड-खण्ड धरती को
एक बनाये युग नर,
वह अतीत के सागरतल से
उबरे बाहर !

दुःख दूत सुख का बन
उर को दे आश्वासन,
भू - विकास का हो प्रतीक
जीवन - संघर्षण !
स्वर्गखण्ड यह, जिसको हम
कहते जन-धरणी,
आस्था भवसागर के पार
लगाये तरणी !

अड़तीस

लाँघ आज मैं अपने मन को
विस्तृत भू पर करता विचरण,
कितना अद्भुत यह निसर्ग जग,
कितना सुन्दर, कितना पावन !

उड़ते खग बन मेरे सहचर
उर में भरते भाव मधुर स्वर,
हँसते फूलों संग मनाता
मैं आनन्दों के उत्सव-क्षण !

मौन नील मुझको कर तन्मय
अपलक उर में भरता विस्मय,
पंख खोल मैं खो-सा जाता
ऐसा कुछ असीम सम्मोहन !

पवनस्पर्श तन करता पुलकित
साँसों को कर सुख से सुरभित,
जल अपने में नहीं समाता
लहराता रहता, भर कल स्वन !

वृक्ष सहज उठ भू से ऊपर
प्रेरित करते मेरा अन्तर,
हरे शैल शृंगों-से कँप वे
छाया से भरते भू-प्रांगण!

चिर आदान-प्रदान-भरा भव,
इसीलिए रहता नित अभिनव
अपने ही में सीमित रहना
सबसे बड़ा दुःख का कारण!

आज लाँघ मैं अपनेपन को
विस्तृत भू पर करता विचरण!

उनतालीस

क्या मानव का मुख
मानव के उर का दर्पण?
दीख रहा जन-आनन में
मन का संघर्षण!

धरा-उदर में आज
मच रहा क्या उद्वेलन?
छायाएँ चल रहीं
मुखों पर सबके भीषण!

करवट बदल रहा सम्भव
धरती का जीवन,
घुमड़ आँधियाँ रौंद रहीं
जन-मन का प्रांगण!

आज लड़खड़ा उठे
पुरानी प्रगति के चरण,
नया वेग भरता उनमें
युग क्रान्ति समीरण!

ढीठ युवक ने किया
प्रिया का प्रेम प्रताड़ित,
भग्न हृदय का दुख
अब मुख पर मौन प्रतिफलित!

स्त्री-स्वतन्त्रता अभी
नहीं बन सकी वास्तविक,
जो प्रवंचना करता नारी से
उसको धिक्!

छीन लिया विधि ने
जन वंचक का काला धन,
न्यायभीत मुख कातर,
अन्तर करता क्रन्दन !

राग-द्वेष बढ़ गया
मनुज का मनुजों के प्रति,
स्पर्धा को प्रोत्साहन देती
यन्त्रों की गति !

व्यर्थ क्रुद्ध नर, प्रतिक्रिया
करती उर मन्थित,
आनन पर आक्रोश,
चित्त में शान्ति न किंचित् !

अह, किससे प्रतिशोध ले रहा
युग मानव मन !
क्या न समझता वह ?—
जग-जीवन ही परिवर्तन !

चालीस

पराधीन यह देश रहा
सदियों से निश्चय,
जन अभाव से ग्रस्त
त्रस्त-मन में संशय भय !

हमें प्रशासन का भी अनुभव
रहा न किंचित्
यन्त्र मात्र हम रहे
दूसरों से परिचालित !

शासन - सम्बन्धी भूलें
हम से हैं सम्भव
काल-अपेक्षित होता
नर-जीवन का अनुभव !

शासक शासित हाथ बँटाएँ
आज परस्पर,
भू-जीवन - रचना में
निष्ठा से हों तत्पर !

यदि न जनों की दशा देख
आँखें आतीं भर
तो निश्चय ही हृदय हमारे
निर्दय पत्थर !

कहते, स्वर्णिम था अतीत-
आध्यात्मिक जीवन,
शिखरों पर ही करती रही
दृष्टि नित विचरण !

रहा प्रेम से भू - जीवन के
जन मन वंचित,
मिथ्या माया जगत्—
किया सन्तों ने घोषित !

पशु-पक्षी भी सहज रूप से
रहते जीवित,
भारत जन युग-युग से
जीवन - सुविधा - विरहित !

भोग रहे हम अन्ध
उपेक्षा का - अब तक फल,
विश्व रूप से विरत,
न कर पाये जन-मंगल !

व्यक्ति-मुक्ति में लीन,
आत्म-घाती, जीवन-मृत,
भू - जीवन में देख न पाये
प्रभु को मूर्तित !

इकतालीस

अन्तर्जीवन का सरोज-मुख
जितना ही देता सुख,
बहिर्जगत् की वस्तु-पंक स्थिति
उतना ही देती दुख !

घोर विरोधी तत्त्व चित्त को
करते रहते मन्थित,
बहिरन्तर के सत्य सिमटकर
कब से हुए विभाजित !

बुद्धि भ्रान्त मानव की लगती
चिन्तन शक्ति पराजित,
बहिरन्तर जीवन को होना
भूतल पर संयोजित !

बाहर भाग रहा मानव - मन,
चकाचौंध मोहित मति,
उर अतृप्त, मरु-मृगतृष्णा से
श्रान्त क्लान्त कुण्ठित गति !

भौतिक युग का विभव
कोषों में भर वस्तु-जगत उन्नत,
निज सांस्कृतिक अन्तर—
जीवन वैभव से रहा विरल !

बाह्य परिस्थितियों की रचना
करते बुध वैज्ञानिक,
पर मनोविज्ञ के संशय से
सोता मन-अन्तर विज्ञ !

बहिर्जगत का बंध तम
विद्युत दीपों से भास्वर,
पर अन्तर को ज्योतित कर नर
क्या मिलता उजागर ?—

कोटि सूर्य चैतन्य ज्योति
उर - अन्धकार को ले हर,
श्री-सौन्दर्य प्रकाश - प्रसार
जो हृदय - सिन्धु में दे भर !

अभी विरोधाभासों ही से
मंडित विश्व-प्रगति - क्रम,
आत्मवान् बन सका न मानव,
उसे सुहाता विभ्रम !

निखर न पाया मनुष्यत्व
भू के पावन जीवन से,
शाश्वत पथ का पता न पाती
नर, रतिभंगुर-क्षण से !

काँटों से भी जीवन के
सौन्दर्यस्पर्श मिलता नित,
दुःखों में सुख, जीवन-
संघर्षों में शान्ति अपरिमित !

आओ हे जन, भू - जीवन का
करें मुक्त आवाहन,
श्रम से स्वर्ग रचें नव,
भू के प्रति कर पूर्ण समर्पण !

बयालीस

खींच-खींच लेता फिर-फिर मन
जन-भू का आकर्षण,
साधारण भर नहीं आज रे,
नव युग का संघर्षण !

बाहर भीतर के देवों का
यह नव मूल्यों का रण,
असुरों सँग हो चुका शेष
बहिरन्तर मूल्य-विभाजन !

उतर रहा ईश्वर,
भू जीवन ही उसका सिंहासन,
जन - समता की मुक्त पीठ पर
करता युग आरोहण !

भू-जीवन को छोड़, कौन
हो सकता ईश्वर का घर ?
अन्तर वैभव से भूपित हो
भू - जीवन मुख भास्वर !

धरा प्रकृति की श्रीशोभा पर
मेरा हृदय निछावर,
मोहक फूलों का मुख,
पिक का गायन, मधुकर का स्वर !

मधु सुमनों की गन्ध,—
स्वर्ग हो सकता उससे निर्मित,
सूर्योदय, चन्द्रोदय,
ऊषा का प्रिय मुख लज्जा स्मित !

चंचल लहरों सँग उठता
गिरता उर का मृदु स्पन्दन,
सौरभ - स्पर्शों से पुलकित
करता छू मत्त समीरण !

धरती के रोम्रों-सी कँप-कँप
हरीतिमा हरती मन,
बाँहें खोल लताएँ मुझको
देतीं नित आलिंगन !

ताराएँ ले दीप, निशा में
करतीं हँस नीराजन,
कौन भूल सकता निशीथ के
स्वप्नों का सम्मोहन !

मौन नील को देख न जिसका
अन्तर होता तन्मय,
वह मनुष्य क्या ? वह जीवन प्रति
हो सकता क्या सहृदय ?

तैंतालीस

संकट मत लाओ जन-भू पर !
ओ सम्पन्न धरा के देशो,
शपथ करो जन-भू-रज छूकर !

तुम युग के भस्मासुर बनकर
ध्वंस करो मत जग को सुन्दर,—
तुम भी रह न सकोगे शेष,
रहेगा बस आक्रोश भयंकर !

तुम प्रमत्त बनते किस कारण ?
अति अमूल्य होते जीवन-क्षण,
शूली पर फिर नहीं चढ़ाओ
प्रभु को, जो जग-जीवन ईश्वर !

क्रय-विक्रय-स्पर्धा से पीड़ित
निज-निज आदर्शों में सीमित,
मत सेओ विध्वंस बवण्डर
सर्वनाश का तुम्हें न क्या डर ?

माना, बन न सके तुम मानव,
पशु से किन्तु बनो मत दानव,—
सावधान, दुष्कृत्य तुम्हीं पर
टूटेंगे बनकर प्रलयंकर !

व्यथित विश्वजीवन के दुख से
कौन आज रह सकता सुख से,
सहृदय, सदय, उदार बनो नर,
निर्भर तुम पर निखिल चराचर !

कली फूल बनने को कोमल,
सौरभ-पुलकित मारुत चंचल,
अन्तःसुख से लहराता जल,
तुम भी अपने को खोजो नर !

मनुज प्रेम ही भावी ईश्वर,
कर्म करो भू-हित श्रेयस्कर,
मनुजों की धर देह, धरा पर
देव विचरने को अविनश्वर !

चौवालीस

कैसे करूँ भजन या पूजन !
हृदय-सुमन कैसे मनुजों के
तुम्हें करूँ श्रद्धा-नत अर्पण ?

अन्न-वस्त्र गृह से जन वंचित,
रोग-शोक-तापों से कवलित,
दैन्य अभाव भुलाकर तुम पर
केन्द्रित कैसे करूँ मनुज-मन !

तुम्हें मूर्त कर कैसे जग में
देख सकूँ चलते जन-मग में,
फूल देखते अपलक तुमको
मधुप मुग्ध भरते मधु गुंजन !

आत्मकल्पना में नर केन्द्रित,
विश्व-रूप से अभी अपरिचित,
कैसे जन का कर-पद का श्रम
विश्व-मूर्ति गढ़ करूँ समर्पण !

तारे करते नैश जागरण
दिनकर दिन-भर में परिक्रमण,
दिव्य रूप से सम्मोहित हो
साँझ-प्रात खग करते गायन !

स्वार्थ-अन्ध युग-मानव निश्चय
पर के प्रति मन में संशय भय,
विश्व-एकता में बंधकर वह
कैसे करे तुम्हारे दर्शन !

पैंतालीस

कोई नहीं तुम्हारा यदि
तो मत हो कातर,
रक्षा स्वयं करेगा ही
संकट में ईश्वर !

वह घट-घट वासी,
जानता सभी के सुख-दुख,
तुम संशय मत करो
उसी के प्रति हो उन्मुख !

सूक्ष्म सूक्ष्मतम से वह परे,
ज्ञात यह निश्चय,
छिन्न-भिन्न कर पाश
बचा लेता करुणामय !

भूविकास-पथ पर कर
तुमको सतत अग्रसर
ताप-दग्ध कर, स्वर्ण शुभ्र
कर देता अन्तर !

आस्था तुमको देता हूँ
मैं शाश्वत अक्षत,
तुम्हें नहीं कुछ भी करना
जप तप साधन व्रत !

जो कुछ भी तुम करो
करो हो तन्मय तद्गत,
ईश्वर ही रे जगत्
कर्म मन वचन प्राण-गत !

इह-पर को, ईश्वर-जग को
मत करो विभाजित,
जग में ईश्वर ही को
भोगो स्वयं प्रकाशित !

छियालीस

भावसमाधि कभी लग जाती
मेरे मन में
और भूल जाता अपने को
मैं कुछ क्षण को,—
वे क्षण हों या दीर्घ काल हो
नहीं जानता,
परम शान्ति-सी छा जाती
तन मन प्राणों में !

गाने लगता रक्त
मौन स्वर लय में स्पन्दित,
श्रान्ति-भार छूटता
कर्म-आहत अंगों से !
मधुर विराम देह के रजकण
अनुभव करते !
प्राणों की चिर आकुल
व्याकुलता सो जाती !

अन्तर का उद्वेलन
कहीं डूब-सा जाता,
शनैः सुप्त कल्पना
मृदुल हिलकोरों में जग
शान्त हृदय सरसी के छोर
कँपा-सी देती,
एक नये जीवन का स्वप्न
मुँदी पलकों में
स्वतः खेलने लगता—
आधी विस्मृत स्थिति में—

सृजन-कर्म-प्रिय हृदय-चेतना
सक्रिय होकर
बुनती दिव्य नया विधान
रेशमी सूत्र से
मानव भावी का—अन्तर्मुख
श्री-शोभा के
वैभव से सम्पन्न—
आज के जड़ कर्मों के

कटु कोलाहल से विमुक्त,
अपने ही में जो
स्वयं पूर्ण है,—
जहाँ नवोन्मेषों से प्रेरित
भू-जीवन-सौन्दर्य-
प्रेम-आनन्द से ग्रथित !

सैंतालीस

मुझे ज्ञात है,
मुझे पैंठना नहीं चाहिए
अपने भीतर—और वहाँ
बैठे रहना ही
नहीं चाहिए ! किन्तु
उन्हें भी व्यर्थ ऐंठना
नहीं चाहिए—जड़ यथार्थ का
झण्डा फहरा !

जड़ औ' चेतन
अंश सत्य दोनों ही—अथवा
अर्ध-सत्य भी
आप उन्हें कह सकते,—दोनों
भिन्नाभिन्न परस्पर—
अन्वित शब्द-अर्थ से !
परम सत्य दोनों ही से
ऊपर निःसंशय !

यह नव भारत !
तीनों श्री अरविन्द, मार्क्स,
गाँधी के दर्शन से
यह परिचित : संयोजित कर

उन्हें मनुज जीवन के
पट पर, वह भविष्य की
भू-संस्कृति निर्माण करेगा—
बहिरन्तर के

स्थूल सघन, छाया प्रकाश से
उसे सँजो कर !

उसके अन्तर-श्रवणों को
जड़ भौतिकता के
चक्रों की कटु घर्घर
उतनी नहीं सुहाती,
सूक्ष्म चेतना के पंखों की
शब्दहीन गति
जितनी उसे शान्ति पहुँचाती !

भौतिक रथ पर
बिठा मुक्त चैतन्य पुरुष को
वह समग्रत:
नित आगे बढ़ता जाएगा
परम सत्य के
महिमा गरिमामय
विकासक्रम-पथ पर शाश्वत !

अड़तालीस

मुझे शान्त रहने दो
मुझको मत छेड़ो यों !
मुझे गीत गाने हैं !
बनते-बनते मन में
गीत कहीं खो जाते हैं,
यों छेड़ - छाड़ से !
मुझे शान्ति चाहिए !
आत्मसंयोजित हो उर
स्वत: गीत गाने लगता,
स्वर-संगति में बँध !

मन के अन्तरतम भुवनों में
जाने कितना
मर्म मधुर संगीत,
स्वर्ग सौन्दर्य भरा है !—
जो नव स्वरलय की
धारा में झर-झर पड़ता !—

कर्मक्लिष्ट जग की अशान्ति को
डुबा अतल में
हमें देह का स्वर्ग,
मर्म का स्वर्ग चाहिए,
देह स्वच्छ हो, स्वस्थ
मनोभावों से दीपित !

कर्म-सृजन-प्रेरित हो—
वातावरण विश्व का
भावोद्रेक भरा, प्रशान्त हो,
रूप सन्तुलित !
जीवन का परिवेश
नव्य उन्मेषपूर्ण हो,—
जग के कर्म-मुखर
स्वरैक्य को मज्जित करने !

भू - मानव को
अन्तर का ऐश्वर्य अपरिमित,
जीवन का सौन्दर्य,
भाव-औदात्य चाहिए !

उनचास

कभी ग्लानि मे भर जाता मन !
जन-धरणी पर
जन्म ग्रहण कर
कुछ भी तो कर सका नहीं मैं,
शोपित पीड़ित जनगण का
दुख - दैन्य मिटाने !
ऐसी क्षमता मुझे नहीं दी
निर्मम विधि ने !—
मैं जग का उपकार कर सकूँ,
या भू-जन का
भार हर सकूँ,
अपने यत्नों से, कर्मों से !

जैसा चित्र हृदय में जगता
भावी जग का
धरा स्वर्ग की शोभा से
दृग को अपलक रख,
उसे मूर्त करने के बदले
भू - आँगन पर.
मन विषण्ण हो उठता
देख जगत की दुःस्थिति !
कोरे शब्दों के तारों को
मैं झींगुर - सा
झनकारा करता केवल—
अपने ही उर की
भाव-व्यथा को अभिव्यक्ति
देने को आतुर !

जाने शप्त मनुज का जीवन
किस जड़ता से
ग्रस्त हो गया !
आज क्रूर हिंसा - प्रतिहिंसा
नग्न नृत्य करतीं धरती पर !
भय संशय से
ग्रस्त, अनास्था कुण्ठित
मानव भूल गया है—

नर-चरित्र की गरिमा को,
कृमि तुल्य रेंगता
वह विलास कर्दम में,
विभव भोग स्पर्धा रत !
दुश्चरित्र तस्कर वह
काला धन संचय कर
शंख गौर नर कीर्ति
कलंकित करता प्रतिक्षण !

नारकीय शक्तियाँ
प्रशासित करतीं भू-उर,
विश्व ध्वंस के लिए
आज कटिबद्ध मनुज-मन !
ऐसे दारुण युग में
कवि की तन्त्री के स्वर,
नहीं जानता,
क्या परिवर्तन ला सकते हैं ?

देख चन्द्र को
सिन्धु-हृदय में
ज्वार उमड़ता,
सम्भव, कवि-अन्तर की,
शीतल शशि-किरणों - सी
भावराशि, जन-भू लांछन को
दिङ्मज्जित कर
नयी प्रेरणा दे जन को
भू - जीवन के प्रति !

पचास

नित्य रात को सोते हैं हम
आँख मूँदकर
और खोलते प्रातः
स्वप्न भरे निज लोचन !

कभी समाप्त न होता
सोने-जगने का क्रम
निज नूतन बन आता
सम्मुख जग का जीवन !

विश्व समस्याएँ महान् हों,
संघर्षण कटु,
पर, विराट् के विविध
कल्प-युग केवल लघु क्षण !
हम अनन्तजीवी हैं,
जो रहता अखण्ड नित
प्रतिक्षण हम शाश्वत ही के
करते नव दर्शन !

ओ आत्मा के पथ पर
चलनेवाले भारत,
चिर कुबेर सम्पत्ति
तुम्हारे भीतर अक्षय !—
भीतर से सम्पन्न
सभी भू-देशों से तुम,
बाहर का दारिद्र्य
मिटाना तुमको केवल !

विश्वरूप को अपनाओ !
सामाजिक श्रम कर
दुर्ग तरें सब, देखें भद्र,
रहें आनन्दित !
प्राप्त करें सद्बुद्धि,
कुटुम्ब बने यह वसुधा,
जन, विकास-क्रम-सोपानों पर,
चढ़ें सम्मिलित !

अन्तरिक्ष में रुके देवगण,
मानव उनको
आत्मसात कर,
मनुष्यत्व को करे प्रतिष्ठित
जन - भू के आँगन पर,
धरा स्वर्ग निर्मित कर !
ईश्वर सँग विचरे नर
आस्थावान, समर्पित !

इक्यावन

सूरज के उदयन प्रकाश से
यदि गढ़ सकता
मैं जन-भू का अन्तर,—
कितना अच्छा होता,

अन्धकार के लिए
कहीं भी स्थान न होता,
भू-मन का मालिन्य
चिदाभा में घुल जाता !

नव वसन्त विचरण करता
नित भू-आँगन पर
कुम्हलाता उसका सौन्दर्य
नहीं क्षण-भर को !
चन्द्र न घटता-बढ़ता,
रहती सदा चाँदनी,
सागर-सुख का ज्वार चूम
छूता अम्बर को !

भू-पथ पर पड़ते न चिह्न
तब दैन्य-दुःख के,
रोग-शोक से जर्जर होता
नहीं मनुज-तन,
वैषम्यों के संग मिट जाते
राग-द्वेष व्रण,
मनुष्यत्व तब जग का होता
अतिथि चिरन्तन !

यदि मनुसुत गढ़ लेता स्वर्ग
धरा - आँगन पर
भावों की सत् सम्पद् से
सम्पन्न निरामय,
तो भू-जीवन का विकास-क्रम
रुक जाता क्या ?
ईश्वर निज ऐश्वर्य से
महत्, अव्यय, अक्षय !—
शाश्वत करुणा-डोर से बँधा
जन-जीवन से !

वह करुणासागर, मुझको
न तनिक भी संशय !
सुन्दर से सुन्दरतर
शिव से शिवतर बनकर
मनुष्यत्व से दीपित होंगे
भावी रवि-शशि !

जागो हे भू-जन
छोड़ो निज वैमनस्य को,
रचना-श्रम में रहो निरत,
त्यागो आलस, भय !

बावन

जब तू के० जी० में
पढ़-लिखकर घर आती है
नित्य प्रतीक्षा करता हूँ
मैं खड़ा द्वार पर!
तुझको भी अच्छा लगता है
दद्दू तेरी
राह देखता है फाटक के
पास खड़ा हो!

तुझे मानता मैं
ईश्वर की मधुर धरोहर,
तू भविष्य की बाल बीज है
प्यारी सुमिते!
छिपा हुआ जाने क्या-क्या
तेरे मृदु उर में
जो बहु उन्नत शाखाओं में
अभिव्यक्त हो—

कलि कुसुमों से श्री-शोभित कर
अन्तरिक्ष को
उर की सौरभ से
भर देगा भू-अम्बर को!

उच्च अभीप्सा से छू नभ को
ऊर्ध्व वृक्ष-सी
ऊष्णातप को शीतल
छाया में परिणत कर
शान्त करेगी तू
जीवन के श्रान्त पान्थ को,
कम्पित हरीतिमा की
मृदु बाँहों में भरकर!

यह भविष्यवाणी है
मेरी, प्यारी बेटी,
लोक-कार्य में निरत
सतत निःस्वार्थ भाव से—

नव जीवन-निर्माण करेगी
तू जन के हित
दैन्य-दुःख में संवेदना
उन्हें दे सन्तत!—
इससे महत् न
और भागवत कर्म जगत् में!

तिरपन

वृद्ध देह के साथ
वृद्ध हो सका नहीं मन,
अभी मचल उठता उर में
भावों का यौवन !

शोभा का मुख देख
अभी अपलक रहते दृग,
सुन वीणा-से मृदु स्वर
स्तम्भित रहता मन-मृग !
नया रूप गढ़ने को जग का
उत्सुक हैं कर,
खोल कल्पना पंख
सहज उड़ जाता अन्तर !

वृद्ध देह के साथ
न बूढ़ी हुई चेतना,
भू-जीवन की व्यथा
जगाती मर्मवेदना !
शिशुओं के संग
शिशु बन जाता है मन कुछ क्षण,
उनके क्रीड़ा कलरव में
शाश्वत सम्मोहन !
श्रान्त पगों को अभी
लुभाता भू का आँगन,
रज की जड़ता पर
जय पाता रहता चेतन !
बाल, युवा औ' वृद्ध
यही दैहिक विकास-क्रम,
अनुभव देता ज्ञान,
मृत्यु नव जन्म उपक्रम !

चौवन

सम्भव, अब थोड़े ही दिन
रहना हो जग में—
मन में जग से पृथक्,
परे जग-जीवन से स्थित,
देख रहा हूँ—व्यर्थ
भटक नर गया जगत् के
कटु कर्दम में—
हाथी डूब गया दलदल में !

कितना हितकर कार्य
साधता वह जीवन में
जीवन से ऊपर उठकर,—
सम्पन्न बनाने
जग-जीवन को,
दिशा मनुज-कर्मों को देकर !
रिक्त मोह-ममता के
विषधर पाश खोलकर—

राग-द्वेष की ज्वाला में
जल छिड़क दया का,
गाँठ खोलकर सहृदय कर से
रुद्ध हृदय की !—

मानव केवल यात्री रे,
जन-भू के पथ पर,
उसको सदा नहीं रहना
अनगढ़ पृथ्वी पर !
उसका गृह अन्यत्र,—
मुक्त आत्मा की भू पर !
स्वर्गदूत वह,—स्वर्ग छिपा
जो भू के उर में,
इसे उसे देनी अभिव्यक्ति
विकास चरण धर !
कैसे वह अधबनी
धरित्री के यथार्थ को

सत्य मानकर,
उलझ दुःख-सुख के द्वन्द्वों में,
समाधान कर, जटिल
समस्याओं का उसकी
पथ प्रशस्त कर- पायेगा
जीवन विकास का ?—
या रक्षा कर पायेगा
उसकी संकट से
उस पर्वत-संकट के नीचे
स्वयमपि दबकर !

अतः मुझे लगता
भू-जीवन-सिद्धि के लिए
एक चरण भू से
ऊपर रखना श्रेयस्कर—
जिससे स्वाभाविक,
चलने में सुविधा होगी !

मनुज, चेतना में स्थित रहकर,
जूझे मृ से,
मृत्यु स्वर्ण कुंजी
नव जीवन-द्वार के लिए !

पचपन

स्वप्नावस्था थी या जाग्रत्,—
नहीं स्मरण अब,
मेरी आँखों के सम्मुख
साकार हो उठी
स्वयं कल्पना सहसा,—
मैं अपलक हो उसकी
सुन्दरता देखता रहा
निष्कलुष, अलौकिक !

स्वर्गिक वीणा हो बज उठी
हृदय के भीतर—
बोली वह, सम्भ्रम-पुलकित
मुझको विलोककर—
'मेरे प्रिय कवि, तुमको
क्या चाहिए बताओ !
राज्य स्वर्ग का अर्पित
करती हूँ मैं तुमको !

विभव भोग चाहिए
जगत में, अतुल कीर्ति या,
श्री - शोभा - स्मित चपल
तरुणियाँ या सेवा को ?
तुमको क्या अभिप्रेत ?
कहो भी, निर्निमेष हो
मुझको क्या देखते ?
मूक, विस्मय स्तम्भित-से !
योगसिद्धि क्या तुम्हें चाहिए—
अणिमा, महिमा,
त्रिकालज्ञता या, मानव
भावी के दर्शन,
कलाप्राण शिल्पी तुम,
क्या पाण्डित्य चाहिए ?
दर्प पराजित करो
प्रतिद्वन्द्वी का जिससे—
और जान तुम सको
रहस्य सृष्टि का गोपन !

बोलो, मुँह खोलो,
तुम मेरे सबसे प्रिय कवि,
तुमको मैं सर्वस्व
दान करने आयी हूँ !'

विस्मय से अभिभूत
चित्त को बना सन्तुलित,—

बोला मैं, घट-घट निवासिनी
तुम सर्वज्ञा,
मैं अब अनुभव-वृद्ध हुआ,
शब्दों का घूँघट
उठा, देखता हूँ
जन-भू की करुण दशा को···
मुझे देवि, तुम मात्र
लोकसेवा का वर दो !
परित्राण कर सकूँ
दैन्य-जर्जर भू-जन का—
उन्हें हृदय आसन दे,
करुणा सहृदयता दे !
क्या वे नहीं धरा पर
ईश्वर ही के प्रतिनिधि ?—
देश-काल के घाव
भर सकूँ उनके उर के,—
यही मुझे सर्वाधिक
दिव्य प्रसाद चाहिए !
वह तथास्तु कह,
अन्तर्धान हुई अन्तर में—
भावोच्छ्वसित स्वरों में
बोली उर के भीतर—
जन-मन में अब
कविता लिखना स्वीकृत तुमको,
और काव्यमय रूप
धरा-जीवन का रचना—
एवमस्तु ! मैं
आशीर्वाद तुम्हें देती हूँ !

छप्पन

कवि का रे कर्तव्य—
करे प्रस्तुत भू-मन का
वह भूगोल—विचारों,
द्वन्द्वों, संघर्षों का !

कौन नये बाधा के
पर्वत खड़े हुए अब,
कौन नये प्रेरणा-स्रोत
सिंचित कर उर को—
मैत्री से शस्य-स्मित
करते भू-देशों को !

वैमनस्य का कहाँ
अवर्षण सुखा रहा है
जन-भू के पोषक
कृषिफल को ! कहीं युद्ध की
आग भड़क उठी हो
असमय ! सन्धि-शान्ति के
श्वेत कपोतों के उड़ने की
अन्तरिक्ष में
सम्भावना निकट हो !
भीषण ध्वंसास्त्रों की
किन देशों में वृद्धि
हो रही ?—कहाँ परीक्षण

अणु-विस्फोटों के
दूषित कर जगत्-प्राण को
वातावरण विषाक्त बनाते
भू-जीवन का !—
समाधान भी
विश्व समस्याओं का उसको
देना है जाग्रत्
नर को, जन गण के हित जो
श्रेयस्कर हो !

नव युग-जीवन के प्रश्नों पर
सहृदयता से कर विचार—
भू-जन को स्वीकृत !
इसमें क्या सन्देह,
बाह्य युग संघर्षों का
समाधान सम्भव न
बहिःस्पर्धा के भीतर !

मानव को युग की
सीमाओं से ऊपर उठ
अपने अन्तर के जग में
अन्वेषण करना
उन मूल्यों का—
मनुष्यत्व के वाहक हों जो !

अन्तःस्थित हो
संचालन करना युग-नर को
बाह्य जगत्-जीवन का—
उसका मूल्य आँककर
अन्तःसुख-सौष्ठव को
आँखों के सम्मुख रख !—
मानव-गरिमा का दर्पण हो
बहिर्जगत् पथ,
अन्तश्चेतन हो आरूढ़
बाह्य जड़-पशु पर !

सत्तावन

न्याय सत्य कैसे हो सकता
ऐसे जग का,
घोर विकृतियों
विकट विषमता से जो पीड़ित
दया-क्षमा ही
मापदण्ड हो यहाँ न्याय का !
अभी शैशवावस्था ही में
रे मानवता !

सूक्ष्म भावना के
स्वर्णिम तारों से विरचित
मानव-उर की वीणा यह,
संवेदन झंकृत !—
सहृदयता की अंगुलि से
छूएँ जन-मन को,
वह कठोर आघात
सहन करने में अक्षम !

क्रूर विवशता का वह ग्रास
बना है सम्प्रति
दारुण अनगढ़ अभी
परिस्थितियाँ जन-भू की
एकांगी द्वन्द्वों से मर्दित
विश्व-सभ्यता !
वह विकास पथ पर
न अभी आरूढ़ हो सकी !—
बहिरन्तर के जीवन को
निज संयोजित कर !
अन्धशक्ति के पाट
पीसते रहते उसको,

राग-द्वेष के, लोभ-मोह के
कटु आक्रामक
अरियों से वह रही
पराजित क्षुद्र स्वार्थवश !'

घिरी घोर अज्ञान
तमस से, मार्गभ्रष्ट जो
उसे निरन्तर करता रहा,—
हटा सत्पथ से !

ऐसे दुर्बल मन के
प्रतिनिधि भू-मानव को
क्रूर दण्ड के योग्य
समझना भला न्याय है ?

उसे क्षमा करना ही
सत्य नहीं क्या संगत ?
स्तन्यदान दे मातृ-दया का
उसके तन-मन
जीवन का पोषण करना ही
मनुज-धर्म है !

जिससे तम से ज्योति
असत् से सत्-पथ पर वह
सहज अग्रसर किया जा सके—
जग को ऐसे
युग-प्रबुद्ध न्यायाधीशों की
आवश्यकता !

अट्ठावन

अनजाने ही एक सहज
स्वर - संगति में जब
बँध जाते मेरे
मन-प्राण-देह के रजकण,—

तब मुझको लगता
तुम हो आ गयी हृदय में—
मधुर ज्योति-सी उतर
कहीं अन्तरतम नभ में
लगता, बैठी हो तुम
सित आनन्दकमल पर
मेरे मानस को भरकर
स्वर्गीय सुरभि से !

अन्तःस्थित हो
संचालन करना युग-नर को
बाह्य जगत्-जीवन का—
उसका मूल्य आँककर
अन्तःसुख-सौष्ठव को
आँखों के सम्मुख रख !—
मानव-गरिमा का दर्पण हो
बहिर्जगत् पथ,
अन्तश्चेतन हो आरूढ़
बाह्य जड़-पशु पर !

सत्तावन

न्याय सत्य कैसे हो सकता
ऐसे जग का,
घोर विकृतियों
विकट विषमता से जो पीड़ित
दया-क्षमा ही
मापदण्ड हो यहाँ न्याय का !
अभी शैशवावस्था ही में
रे मानवता !

सूक्ष्म भावना के
स्वर्णिम तारों से विरचित
मानव-उर की वीणा यह,
संवेदन झंकृत !—
सहृदयता की अंगुलि से
छूएँ जन-मन को,
वह कठोर आघात
सहन करने में अक्षम !

क्रूर विवशता का वह ग्रास
बना है सम्प्रति
दारुण अनगढ़ अभी
परिस्थितियाँ जन-भू की
एकांगी द्वन्द्वों से मर्दित
विश्व-सभ्यता !
वह विकास पथ पर
न अभी आरूढ़ हो सकी !—
बहिरन्तर के जीवन को
निज संयोजित कर !
अन्धशक्ति के पाट
पीसते रहते उसको,

राग-द्वेष के, लोभ-मोह के
कटु आक्रामक
अरियों से वह रही
पराजित क्षुद्र स्वार्थवश !'

घिरी घोर अज्ञान
तमस से, मार्गभ्रष्ट जो
उसे निरन्तर करता रहा,—
हटा सत्पथ से !

ऐसे दुर्बल मन के
प्रतिनिधि भू-मानव को
क्रूर दण्ड के योग्य
समझना भला न्याय है ?

उसे क्षमा करना ही
सत्य नहीं क्या संगत ?
स्तन्यदान दे मातृ-दया का
उसके तन-मन
जीवन का पोषण करना ही
मनुज-धर्म है !

जिससे तम से ज्योति
असत् से सत्-पथ पर वह
सहज अग्रसर किया जा सके—
जग को ऐसे
युग-प्रबुद्ध न्यायाधीशों की
आवश्यकता !

अट्ठावन

अनजाने ही एक सहज
स्वर - संगति में जब
बँध जाते मेरे
मन-प्राण-देह के रजकण,—

तब मुझको लगता
तुम हो आ गयी हृदय में—
मधुर ज्योति-सी उतर
कहीं अन्तरतम नभ में
लगता, बैठी हो तुम
सित आनन्दकमल पर
मेरे मानस को भरकर
स्वर्गीय सुरभि से !

अन्तर्मन ही नही,
निखिल बाहर का जग भी
एक मौन सौन्दर्य-कान्ति से
भर-सा जाता !

निखिल सृष्टि संगीत-
स्वरों से ही ज्यों विरचित !—
कौन विकृतियाँ हैं वे
जो निष्कलुष प्रकृति की
स्वरलय को कर छिन्न-भिन्न
जीवन के मुख को
गुण्ठित कर जातीं ?
उसकी स्वर्गिक शोभा को—
आच्छादित कर
क्षण विषाद के अन्धकार में !

या वे विकृति नहीं ?
विकास-क्रम की सीढ़ी-भर ?
जिनसे होकर आरोहण
करता मन अविरत
उस अनिन्द्य सौन्दर्य-
लोक की ओर जहाँ तुम
अपने ही में स्थित रहती !

केन्द्रीय सूर्य-सी
परिक्रमा करते जिसकी
सुख-दुख के उपग्रह—
विजय-पराजय,
विविध सृजन-संघर्षों में रत !
जहाँ सूर्य की ज्योति
वहाँ छाया भी होगी !

उनसठ

जब विकास-क्रम को
सम्मुख रख, जगत् द्वन्द्व के
दुर्जय जीवन-संघर्षों का
गहन मनन कर
सोचा करता [illegible]
ईश्वर [illegible]
[illegible] पर—

सृष्टि और स्रष्टा
दो नहीं, अभिन्न, एक हैं !
सृष्टि कर्म करने में
निश्चय ईश्वर ही का
कार्य सतत करते हम !
ईश्वर शोक-ताप से
पाप-पुण्य से ग्रस्त
नहीं होता ! जग-जीवन
संघर्षण में वही
निरत रहता नित अ-विरत !
वही शक्ति दुर्बलता भी है !
राग-द्वेष में
सन, जन-मन के,
वही निखर उठता विचार में,
औ' प्रज्ञा में ! लोक-कर्म से
पृथक् ध्यान के
गगन मात्र में
ईश्वर का अस्तित्व खोजना
बुद्धिभ्रान्ति है ! वही
सृष्टि का केन्द्र, परिधि है !
हमको नित्य अखण्ड भाव से ही
ईश्वर का
पूजन करना है
जीवन में, सृजन-कर्म मे
लोक-श्रेय हित !
जीवन-ईश्वर ही ईश्वर है ! —
भक्ति-ज्ञान ईश्वर ही के
प्रिय अंग असंशय !
विश्व-कर्म ही
मात्र योग है,—जिसके द्वारा
रूप प्रकट होता ईश्वर का—
अभिव्यक्ति पा !

साठ

सदा खोजते रहे प्राण
उस महापुरुष को
जिसको मैं तन-मन
चुपके कर सकूं समर्पित
भूल निखिल कटु
जीवन-संघर्षों को अपने !
ऐसे विश्व पुरुष कुछ
मुझे मिले भी सम्भव !

'पर तन्मय हो गया न उर
उनके चरणों पर—
जान नहीं क्यों? सम्भव, वे
पाने को मुझसे
अधिक प्यार करते थे
अन्तर में अनजाने!
या जो कुछ भी कारण हो,
मैं नहीं जानता!

मुझमें ही कुछ कमी
रही हो—चूक गया जो!
मैंने नहीं कहा जीवन
अपने प्राणों की,
अपने से भी स्वयं
छिपा रखी जो मैंने,
अथवा मेरे अन्तर में,
मेरे प्राणों में!
पावक के दोने में
जग की अमृत बूँद जो
उतर पड़ी चिन्तन
दर्शन के मेघों से झर—
शून्य, वाष्प बन उड़ी
नहीं वह,—रससागर-सी
उद्वेलित रहती अहरह,
मज्जित कर उर के

छोरों को! तुम पैठ गयी हो
स्वयं हृदय में
आने देती नहीं किसी को!
मुक्ताफल-सी
झलका करती हो
अन्तर की मुक्त सीप में,—
साहस होता नहीं
बुलाऊँ और किसी को!

आज तुम्हारी महिमा से
प्रेरित होकर मन
आत्मनिवेदन करता यह,
यदि कृपा करो तुम
बनो सहायक पथ की,
आशीर्वाद मुझे दे।

अगीत

इकसठ

छन्द क्या छूट गया?
तन्मय स्वर टूट गया?
ओ अशब्द,
नया शब्द बन आओ,
नया छन्द बन आओ!
व्योम का उभार बन,
नया दिक् प्रसार बन,
नये भाव बन, गाओ!
ओ समग्र,
अंश-वाक्य में छाओ!
नयी दिशा ओर ही
काल को सदा जाना,
जो अतीत में खोये
उन्हें लौटकर आना!
दिग्भ्रान्त युग को
नया मार्ग दिखलाना!
छन्द नहीं छूटा जी,
स्वर नहीं टूटा जी,
क्षिप्र छन्द-रथ पर
मुक्त स्वर-पथ पर
नया शब्द अब सवार,
नये युग की पुकार!

बासठ

तरुण आग से खेलो,
रक्त फाग से खेलो!
भू-पथ के शोक-ताप
हँसते-हँसते झेलो!
यह अरण्य अग्नि है,
जड़ अतीत जल रहा,
ब्रह्मा का एक दिन
स्वयमेव ढल रहा!
यह समुद्र बाड़व है
जल रहा, बढ़ रहा,
प्राणों का वह्नि-ज्वार
फूलों पर चढ़ रहा!
सृजन अग्नि से खेलो,
सागर-संघर्ष झेलो,
नयी सृष्टि होने दो,
पथ संकट ठेलो!

तिरसठ

ऊर्ध्वमुखी लपटों की
एक ध्वजा फहरावे,
विश्व शान्ति छाया में
संगठित हो जावें!

गूढ़ मर्म-वेदना
मर्म-आह्वान है,
विश्व-संवेदना
नवयुग का गान है!
आओ, मन, लपटों से
लिपट-लिपटकर न्हावें,
सत्य की अग्नि में
कुन्दन, स्वर्ण बन जावें!

संघर्ष विफलताएँ
सामूहिक सफलताएँ—
लोकमुक्ति याग में
प्रत्याश्रम त्याग में,
हवि बनें रूढ़ि रीति,
सत्य पर हो प्रतीति!

प्रतिबिम्बित ध्वज फहरें
जन मानस शिखरों पर,
नव युग के हर्म्य बनें
गत युग खंडहरों पर!

चौंसठ

संघर्षण क्रान्ति है,
मनुजप्रेम शान्ति है...
और सब भ्रान्ति है!

ये तो नये सैनिक,
नये मूल्य, नये तत्त्व,—
इन्हीं को लड़ना है
हृदय-अन्धकार से,
युगों के भार से,—
नया मनुज गढ़ना है!

विश्व में समता फैले,
मानव प्रति ममता फैले—
घर-घर हो संगठन,
सैनिकों को आमन्त्रण!—
अस्त्र-शस्त्र से सज्जित
वस्त्रों में नव भूषित!

नवादर्श अस्त्र हैं,
भू-सौन्दर्य वस्त्र हैं,
लोक-कर्म सृजन-युद्ध,
विश्व-मन हो प्रबुद्ध !

पैंसठ

प्राणों के आग की ध्वजा,
विश्व-अनुराग की ध्वजा !
मेरुदण्ड पर फहराती
जनसंकल्प की थाती !
दिशा-दिशा में लहराती
निखिल भू-जन इसकी प्रजा !

यही वसन्त पावक है,
सौन्दर्य जावक है,—
इसे घट-घट में भरो,
भू-जीवनप्रेमी बनो,
भवसिन्धु तरो !

विरक्त मत हो,
जीवन-अनुरक्त बनो,
न निराश हो,
न विभक्त बनो !

यह अन्तःसौन्दर्य की
आग है,
तुम इसी की
अभिव्यक्ति हो,—
तुम जो समाज,
तुम जो व्यक्ति हो !

छियासठ

पाप-पुण्य त्रस्त,
स्वर्ग-नरक ग्रस्त—
मध्ययुगीन कापुरुषों में
नया पौरुष भरना है !
शवों को
हमें जीवित करना है !

अतीत के खँडहरों में
रहनेवाले,
धारा के विरुद्ध
बहनेवाले,—

तिरसठ

ऊर्ध्वमुखी लपटों की
रक्त ध्वजा फहरायें,
विश्व शान्ति छाया में
संगठित हो जायें!

गूढ़ मर्म-वेदना
धर्म-आह्वान है,
विश्व-संवेदना
नवयुग का गान है!
आओ, हम, लपटों से
लिपट-लिपटकर न्हायें,
सत्य की अग्नि में
कुन्दन, स्वर्ण बन जायें!

संघर्ष निरतायें
सामूहिक सक्रियतायें—
लोकमुक्ति याग में
अन्तःक्रम याग में,
हवि बनें रूढ़ि रीति,
सत्य पर हो प्रतीति!

अग्निजिह्व ध्वज फहरें
जन मानस शिखरों पर,
नव युग के हर्म्य बनें
गत युग खँडहरों पर!

चौंसठ

संघर्षण क्रान्ति है,
मनुजप्रेम शान्ति है…
और सब भ्रान्ति है!

ये लो नये सैनिक,
नये मूल्य, नये तत्त्व,—
इन्हीं को लड़ना है
हृदय-अन्धकार से,
युगों के भार से,—
नया मनुज गढ़ना है!
विश्व में समता फैले,
मानव प्रति ममता फैले—
घर-घर हो संगठन,
सैनिकों को आमन्त्रण!—
अस्त्र-शस्त्र से सज्जित
वस्त्रों में नव भूषित!

नवादर्श अस्त्र हैं,
भू-सौन्दर्य वस्त्र हैं,
लोक-कर्म सृजन-युद्ध,
विश्व-मन हो प्रबुद्ध !

पैंसठ

प्राणों के आग की ध्वजा,
विश्व-अनुराग की ध्वजा !
मेरुदण्ड पर फहराती
जनसंकल्प की थाती !
दिशा-दिशा में लहराती
निखिल भू-जन इसकी प्रजा !

यही वसन्त पावक है,
सौन्दर्य जावक है,—
इसे घट-घट में भरो,
भू-जीवनप्रेमी बनो,
भवसिन्धु तरो !

विरक्त मत हो,
जीवन-अनुरक्त बनो,
न निराश हो,
न विभक्त बनो !

यह अन्तःसौन्दर्य की
आग है,
तुम इसी की
अभिव्यक्ति हो,—
तुम जो समाज,
तुम जो व्यक्ति हो !

छियासठ

पाप-पुण्य ग्रस्त,
स्वर्ग-नरक ग्रस्त—
मध्ययुगीन कापुरुषों में
नया पौरुष भरना है !
शवों को
हमें जीवित करना है !

अतीत के खँडहरों में
रहनेवाले,
धारा के विरुद्ध
बहनेवाले,—

इन्हें लोक-कर्म का
मन्त्र देना है,
विश्व-शासन का
तन्त्र देना है !

मन के झरोखे खोल,
जागृति के सुना बोल,
भू-प्रभात दिखाना है,
यन्त्रयुग के क्लीवों में
नया विश्वास जगाना है !
इतिहास के पंजर,
सौधों के खँडहर,
इन्हें कुटियों में
सौन्दर्य बसाना है,
धरा-कर्म का
आह्वान सुनाना है !

सड़सठ

कर्म ही ज्ञान,
कर्म ही ध्यान,
कर्म ही
सृष्टिविधान है !
कर्म का सेतु बाँध
जीवन-सागर तरो,
कर्म का केतु उठा
आर-पार दूरी हरो !
विश्व-कर्म
मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र है !
कर्म करने को जीव
सर्वदा स्वतन्त्र है !
लो, युद्ध-दुन्दुभि
बज उठी,
सैन्य सज उठी !
कर्म-अस्त्र ग्रहण कर
दुःख-दैन्य पराजित करो,
कर्म-शंख फूंककर
दिग् तमस दीपित करो !
लोक-कर्म नींव पर
सामाजिक भवन बनाओ,
सृजन-उपकरण जुटा
संस्कृति का सौध उठाओ !'

अड़सठ

मन में भँवर पड़ गया !
लोग अपनी ही परिक्रमा करते,
अपनी ही अहंता वरते !

साँसें आँधी बन गयीं
आवेशों की आँधी !
यह आँधी ही का भँवर है,
सर्वत्र ह्रास, विघटन,
मृत्यु का डर है !

मन के डाल-पात
झर रहे,
बासी आदर्श
मर रहे !
चरित्र-नग्न लोग
ठूँठ-भर पतझर के,
बाह्य आडम्बर के !

भू-जीवन में
सदियों की धूल जमी,
न जाने, कहाँ क्या कमी !

यह प्रलय की आँधी है,
कौन जाने,
कहाँ छिपा गांधी है,
मत डरो, धैर्य धरो,
रात अभी आधी है !

उनहत्तर

जब तक आवेश है,
सन्ताप है,
मन की निहाई पर
विचारों को ठोक-पीटकर
नया आकार दो,
नम्र संस्कार दो !

चोट पर चोट,
चोट पर चोट,—
इसी की ओट
मन अरूप को ग्रहण करता,
नये मूल्य को रूप दे
वरण करता !

प्यार ही
मूल-सृष्टि-शक्ति है,
वज्र कठोर,
कुसुम कोमल !
युग ने
अचेतन संस्कार
मनोविकार
बदलने को
हाथ में हथौड़ा लिया,
क्या बुरा किया ?
भू-जीवन को
नये ढांचे में
ढाल रहा वह,—
जड़ को
चेतन स्पर्श दे
सँभाल रहा वह !
यही तो सामान्य
मनोविज्ञान,
जिसके लिए
प्रकृति का दण्ड विधान !

सत्तर

तोपें गरजतीं
गरजने दो,
आग बरसती
बरसने दो !
हम धुएँ की ध्वजा में
एकत्र होंगे,
अपने ही संकल्प से
स्वतन्त्र होंगे !
काल कराल है,
जन-ऐक्य ढाल है !
देशों की सीमाएँ
टूट रहीं,
क्षितिज-रेख
छूट रही !
धरती का जीवन
करवट बदल रहा,
मनुष्य
नयी दिशा को चल रहा !
दिशाबोध ही
उसका बल रहा !

वायुयान
मृत्यु उगलते,
प्रबुद्ध जन
मौत निगलते !
मृत्यु क्षय है,
जीवन अक्षय है !—
यही मनुष्य की विजय है !

इकहत्तर

सीटी सहसा
किसने बजायी ?
क्या पुलिस आयी !
अन्धकार छाया घोर,
कहाँ छिपा चोर ?
अन्धकार रे अछोर,
मन में छिपा चोर !
पकड़ो पुलिस बन स्वयं
पकड़ो मन का चोर,
खोजो निज खोया धन,
होने को नया भोर !

अच्छे जीवन को
अच्छा मन चाहिए,
महत् कर्म को
सच्चा प्रण चाहिए !
मन के कानों में
सीटी यदि सुनायी दे,
अपने को टटोलो,
चोर पकड़ाई दे !

बहत्तर

दूषित वायु, दूषित जल,
कैसे हो जीवन मंगल ?
क्षीण आयु, क्षुब्ध पल
कैसे हो जन्म सफल !

आत्महीन, बहिर्भ्रान्त
मानव-जीवन अशान्त,
क्रूर यन्त्र-चक्र वह
देह प्राण चित्त क्लान्त !

सभ्य नर, संस्कृत बन
सभ्यता बहिःशुद्धि,
जन हों अन्तःप्रबुद्ध,
संस्कृति ही अन्तःशुद्धि !

धरा स्वर्ग स्नेह-पाश बद्ध
महत् समन्वय,
बहिरन्तर पूर्ण बने
मानव जो, हो विजय !
विश्व-क्षितिज पर प्रशस्त
ऊषा का मुक्त हास
भू का मुख चूम रहा,
नया चेतना-प्रकाश !

तिहत्तर

अग्नि-पर्व मनायें,
युद्ध के गीत गायें !
अग्नि-पर्व के उल्लास में
प्राणों की भेरी बजायें !

क्या हम मृत्यु से डरेंगे !
कायरों की मौत मरेंगे ?
नहीं;—आग से खेलेंगे,
असंख्य घात झेलेंगे,
देह-मन घायल हों,—
भग्न नहीं मनोबल हो !
संकल्प अजेय शक्ति हो,
जीवन अशेष भक्ति हो,
असमंजसता से विरक्ति हो !

आओ, सूरज को
गेंद की तरह उछालें,
सागर को
मदिरा घट-सा ढालें,
मन में
कोई भ्रम नहीं पालें !
अन्तरिक्ष को चीरकर
ज्योति-द्वार दिखायें,
नया संसार बसायें,
अपने को खोयें, फिर पायें !
हम अमृत सन्तान हैं
मृत्यु से महान् हैं
अनन्त प्राण हैं !

आओ, अग्नि-पर्व मनायें
युद्ध के गीत गायें,
अग्नि-पर्व के उल्लास में
साँसों की भेरी बजायें !

चौहत्तर

किसके लिए युद्ध करें ?—
प्रबुद्धता के लिए,
अन्तःशुद्धता के लिए,
अन्धकार को मिटाने,
प्रकाश को लाने,
हम बार-बार जियें-मरें !

और किसके लिए
युद्ध करें ?
आत्म-दैन्य का
बहिष्कार करने,
भू-जीवन का
संस्कार करने !
ज्योति-शिखरों पर
विहार करने,
हम युद्ध करें
तनिक नहीं डरें !

घृणा-द्वेष से लड़ें,
मानव प्रेम-पथ पर बढ़ें !
भवसागर में डुबकी लगा
सम्पूर्ण बन कढ़ें !
हम तपे सोने से निखरें,
समुद्र की तरह
त्याग के तट पर बिखरें,—
मृत्यु मौन भंग करें !

पचहत्तर

अणु बम दहाड़ता हो
दहाड़ने दो !—
यह प्रलयंकर का
अट्टहास है,
जिनकी मुट्ठी में
नया विकास है !

हृदय - परिवर्तन
नहीं हो सका,
नहीं हो सका !

मन का दैत्य
नहीं सो सका,
नहीं सो सका!
पथराई मानवता को
मरना है,
नयी चेतना को
उबरना है!
ओ युद्धभीरु
संकल्प के कान
बहरे होते हैं!
चेतना के खेत
सदैव हरे होते हैं!
छोड़ भय, हाहाकार,
फेंक विगत युगों का भार,
तैर पारावार...
युद्ध अनिवार्य नहीं,
देख आगे का संसार,
भावी का विस्तार!

छिहत्तर

काला बाज़ार, काला बाज़ार,
पत्रों में छपते
रात-दिन समाचार!...
पाशविक बलात्कार...
सामूहिक संहार!...
कहाँ गया चरित्र?
साथी या मित्र?
स्वार्थरत संसार,
भ्रष्टाचार, दुराचार!...
काला धन, काला मन,
काला जीवन, यौवन!
दूषित अब खाद्यान्न,
दूषित जल पवमान!
रुग्ण देह-मन-प्राण!!
यहाँ कविता मत खोजो,
यथार्थ से जूझो,
दारुण यथार्थ से जूझो!
ह्रासोन्मुखी वास्तविकता यह,—
आदर्श कल जन्म लेगा,
यथार्थ का धक्का खा
कविता जागेगी,
मनुष्य चेतेगा!

सतहत्तर

अणु-दैत्य के मुँह से
आग उगलो,
धरती का जीवन निगलो !—
साहस है ?
तुम्हारे वश है ?
सर्वनाश सम्भव है ?
भव अमृतोद्भव है !

तुम्हें देता चुनौती,
विनाश नहीं तुम्हारी बपौती !
शक्ति का अभिमान
मत करो,
अपना गुण-गान
मत करो !
मर्यादा में रहो,
विवेक-दंश सहो !

तुम्हारा शत्रु नहीं बाहर,
वह तुम्हारे ही भीतर—
शत्रु तुम्हारे ही भीतर !
उससे डरो,
विश्वमैत्री करो !
नर को प्यार दो,
पर का दुःख हरो !

अठहत्तर

झूठा आकर्षण
बाँधे है मन !
मनुष्य बाध्यता
अनुभव करता,
एक-दूसरे से डरता !
बाहर दिखावा
मन में पछतावा !

यही तथाकथित समाज,
मुख देखे की लाज !
भीतर ह्रास,
बाहर हास,
कहीं नहीं
प्रगति, विकास !

यही सामान्य जीवन,
आत्मबोध-हीन,
पानी से बहते क्षण
आयु होती क्षीण !

उनासी

अणु-दानव गर्जन,
भय शंकित भू-जन !

देश-देश के नेता
बनने स्वयं विजेता,—
मन में हो हताश
गये ब्रह्मा के पास !
बोले, शत्रु को पराजय दो,
देव, हमें विजय दो !
प्रचुर अन्न-वस्त्र दो,
हिंस्र अस्त्र-शस्त्र दो !
धन दो, जन दो,
निश्चिन्त जीवन दो !

हमें राष्ट्र-स्वाभिमान
जीता रहे विज्ञान ?

शेष बौद्धिक आडम्बर
हमें किस भड़ुवे का डर !
जय हो जय ब्रह्मन् !
यही मात्र निवेदन !

अस्सी

ह्रास शिरोधार्य है,
विघटन अनिवार्य है!
यह परिवर्तन की आँधी—
जिसे झेलने
हमने कमर बाँधी!

सब-कुछ जाता
जाने दो,
अन्धकार आता
आने दो!
क्षण को
विजय मनाने दो!

शहर हो गाँव,
सर्वत्र अभाव!
हृदय में घाव,
मन में न चाव!

ध्वंस का अन्धड़?
धूल बवण्डर?—
मुझे ज्ञात,
यह अवगुण्ठन-भर!
पतझर के भीतर
युग वसन्त सुन्दर,
भविष्य
और भी मनोहर!

इक्यासी

विनाश का चाव
क्या मानव-स्वभाव?
या यथार्थ का दबाव,
सौमनस्य का अभाव?

यथार्थ को बदलना,
नये अर्थ में ढलना!
राग-द्वेष का मन
पिछले युगों का जीवन!

तब नर निर्बोध था,
ध्येय हिंस्र-शोध था,
उसमें पाशव क्रोध था!
मानव न था, दानव-भर,
मूर्त पराभव-भर!

अब यह नयी चेतना,
विश्व प्रति संवेदना !
उसे निर्माण करना,
सबका कल्याण करना !
वैषम्य में समता भरनी,
दुर्बल में क्षमता भरनी !
अणु बम
खिसिया जायेंगे,
प्रबुद्ध जन
जब आगे आयेंगे !

बयासी

दमकल लाओ,
दमकल लाओ !
आग बुझाओ !
मानव का मन
झुलस रहा है,
घर-आंगन
सुलग रहा है !
जल बरसाओ !
जल बरसाओ !
घन-घन घन-घन
करती दिक् स्वन,
दमकल आती
जल बरसाती !
पर न चित्त की
आग अघाती !
बाह्य प्रयत्नों ही से
क्या वह बुझ पायेगी ?
और न अधिक
भड़क जायेगी ?
आग सभ्यता की यह बर्बर,
छिड़को
संस्कृति का जल इस पर !
यत्न करो भीतर से
मन को समझाने का,
बहिर्भ्रान्त जन-मन को
सत्पथ पर लाने का !
हृदय-सरोवर ही का रे जल
आग बुझाता मन की विह्वल !

तिरासी

संसार असार नहीं,
अनन्त का प्रसार!...

यहाँ सृजन प्रलय होते,
मनुष्य हँसते-रोते!
प्रत्येक संकट
विकट लगता,
मन में
भय-क्षोभ जगता!
दूसरे क्षण
भूल जाता मन,
ऐसा ही जग का सम्मोहन!

यहाँ सब कुछ नवीन,
सब कुछ प्राचीन!
नित्य वही उषा आती
नये स्वप्न लाती,
मन को लुभाती!

नित्य वही रात आती,
दुखती रग सहलाती,
दुःस्मृतियाँ भुलाती!
संसार संसार है,
अस्तित्व का सार!
भले को स्वर्ग,
बुरे को नरक-द्वार,
कारागार!

चौरासी

ओ विरक्त मन
इन्द्रियचारी बन!
इन्द्रिय - पथ से ही सुलभ
ईश्वर-दर्शन!
मन
तू इन्द्रियविहारी बन!

नेत्र सौन्दर्य - दर्पण
श्रवण संगीत - भुवन!
नासा सौरभ - द्वार
रसना रस - भण्डार!

हस्तकुशल कर्म-शिल्पी
चरण - गति विचरण !
तू भी तो इन्द्रिय, मन,
विरक्त मत बन !

यह विश्व-मन्दिर भर
स्थापित करनी मूर्ति,
नाम पर्याप्त नहीं
रूप रच करनी पूर्ति !
नाम-रूप का संसार
ईश्वर ही साकार !
इन्द्रिय ही मन्दिर-द्वार
मुक्त कर अभिसार !

पिचासी

गरीबी न हटाओ
न हटाओ !
वह अमीरी से अच्छी
राजनीति-सी झूठी नहीं
श्रम-तप-सी सच्ची !

किसके बल रहता अमीर ?
उसके पास
दावों के तरकस
पेचों के तीर !
किसके बल रहता गरीब ?
उसे श्रमबल की
ढाल ही नसीब !

अमीरी गरीबी से परे
और भी एक स्थिति
जो न अथ न इति !—

उसे कहते मध्य पथ,
व्योमयान नहीं
धरती ही का रथ !
आस्था ही उसका आधार
स्वर्ग तक जिसका विस्तार !
न धनं, न जनं,
इसी के बल चलता
संसार !
गरीबी भले हटाओ,
अमीरी न बढ़ाओ !

छियासी

दहेज प्रथा
पुरानी कथा,
मां-बाप की व्यथा !

अब तो आइ० ए० एस०
इंजीनियर, डाक्टर,
प्रोफेसर, एडवोकेट तक
मूल्य हो गया निश्चित !
तिलक स्थित,
कमी न किंचित् !

पढ़ी-लिखी कन्या
यौवन-ज्वार ढल रहा,
न जाने
किसका पाप फल रहा !

यौवने पितु अनर्थकारिका...
दारिका हृदयदारिका बन गयी !
अम्मा गुमसुम हो गयी
पिता की सुधबुध खो गयी !...

देखी न जा सकती पीड़ा
व्यर्थ सताती व्रीड़ा !
कुमारी कुएँ में डूब मरी
एक प्रकार, समझिए तरी !...

कन्या मरणं
तत्काल दुःखं
परिणाम सुखं...
चरितार्थ कर गयी
हां, सखियों को आर्त कर गयी !
किन्तु जूं भी नहीं रेंगी
रीति-बधिर कानों में...
रत्ती फर्क नहीं पड़ा
तिलक के मानों में !

सतासी

लूट लिया, लूट लिया,
रेल के डाकुओं ने
लूट लिया !
लत्ते गये, कपड़े गये !
गहने गये, पहने गये !

युग - नर को
नयी दुनिया गढ़नी है,—
विषमताएँ हरनी हैं !
कौन आज नहीं डाकू ?
कौन नहीं चोर ?

युग के अन्धकार में
लाना अब नया भोर !
डाकू भी खूब हैं बेचारे,
भाग्य के मारे !

नवासी

सुनता,
आराम हराम !
शहर - भर में भटका
मिला नहीं काम !!

जो हैं बड़े नाम
गया उनके पास !
बोले, कैसे आये,
क्यों लगते हताश,
क्यों लगते उदास ?

कहा, मुझे काम की तलाश !
घुड़के, काम किसके पास ?
कैसे मिले काम ?
किसके पास छदाम ?
विधाता ही वाम !!

ठीक कहा,
काम के लिए चाहिए पुल,
सोर्स,
शादी के लिए कुल
रुपये का फ़ोर्स !
दोनों नहीं पास,
मन मारे,
बैठे रहो निराश !

आराम ही आराम,
भले न सही काम,
सबके दाता राम !

धन गया,
यौवन गया,
सामान,
स्वाभिमान गया!

छि: जो किया
पाशव कर्म था,
मानव धर्म नहीं,
दानव कर्म था!

चार बच्चों की मा हूँ,
लाज नहीं, हया नहीं,
ऐसा कभी होता कहीं!!

क्या करे परिवार नियोजन?
संयम का स्तर टूट गया,
दुराचार का डर छूट गया!
हाय, भाग्य फूट गया,
फूट गया!

अठासी

डाकू भी खूब हैं बेचारे,
नृशंस, हत्यारे!
भीषण स्थितियों का भँवर···
डाकू बन जाता नर!

बाहरी अभाव कुछ,
भीतरी स्वभाव कुछ,
उन्हें बनाता निडर,
बनाता कठोर,—
हथेली में प्राण धर
दुष्कर्म करते घोर!

क्या उनमें
दया - ममता नहीं?
आत्मदर्शन - क्षमता नहीं?
होगी अवश्य ही,
हैं तो मनुष्य ही!

न जाने बिचारों को
क्या भोगना पड़ा,···
दिल को पत्थर कर कड़ा
टूट पड़ते हैं,
लूट खाते हैं!

युग - नर को
नयी दुनिया गढ़नी है,—
विषमताएँ हरनी हैं!
कौन आज नहीं डाकू?
कौन नहीं चोर?

युग के अन्धकार में
लाना अब नया भोर!
डाकू भी खूब हैं बेचारे,
भाग्य के मारे!

नवासी

सुनता,
आराम हराम!
शहर - भर में भटका
मिला नहीं काम!!

जो हैं बड़े नाम
गया उनके पास!
बोले, कैसे आये,
क्यों लगते हताश,
क्यों लगते उदास?

कहा, मुझे काम की तलाश!
घुड़के, काम किसके पास?
कैसे मिले काम?
किसके पास छदाम?
विधाता ही वाम!!

ठीक कहा,
काम के लिए चाहिए पुल,
सोर्स,
शादी के लिए कुल
रुपये का फ़ोर्स!
दोनों नहीं पास,
मन मारे,
बैठे रहो निराश!

आराम ही आराम,
भले न सही काम,
सबके दाता राम!

नब्बे

न आया आयी
हरजाई !
न महरी आयी
बहरी !

बरतन गन्दे पड़े,
रसोई में छिलके सड़े !
अब चलो,
बरतन मलो—
झाड़ू लगाओ,
चूल्हा सुलगाओ !

उन्हें दफ्तर जाना,
जल्दी खाना बनाना !
नल में बूँद पानी नहीं
उन्हें अभी नहाना !
हज़ार काम,
किसे है आराम !

मध्यवर्ग का जीवन,
सर्वत्र विघटन ही विघटन !
दाम आसमान पर चढ़ रहे,
हम नरक की ओर बढ़ रहे !

माली चार रोज से नहीं आया,
उसके गाँव मातम छाया !
पौधे सूखे जाते
गुलाबों को दीमक खाते !

...लो, बैठक में दोस्त आ गये,
यम के दूत छा गये !
उन्हें चाय पिलाओ,
और नाश्ता खिलाओ !

घर की लाज रखनी है,
उनकी राह तकनी है !
उस पर ढेर सारे बच्चे,
इससे निःसन्तान ही अच्छे !

अह, मध्यवित्त का जीवन,
जीवन नहीं, मरण !
मृत्यु ही शरण !

इक्यानवे

गति, अविराम गति,···
सिद्धि नहीं साधना की परिणति !

तीन जन साधक थे,
ध्यान के गगन में
गूँज उठी नारद वीणा,
अनहद नाद-सी,—
अन्तर्मन में !
तीनों ने छुए चरण,
किया मुनि का अभिवादन !

बोला एक
माथा टेक—
आप्तकाम श्रीमन्,
मैं सहस्र वर्ष से
साधना-रत प्रतिक्षण !
मुक्त हो गया हूँगा
मुझे नहीं संशय !
और कितना तपूँगा
हरि से करें विनय—
मुझे दें अभय !
आपको सान्निध्य प्राप्त,
दिव्य गति सर्वत्र व्याप्त !
नारद ने सन्देश लिया,
मन्दस्मित आश्वासन दिया !

दूसरे ने कहा,
मुझे सैकड़ों वर्ष हुए
योग में
अनेक उत्कर्ष हुए,—
श्रीहरि से पूछिए
मुक्ति में कितनी देर ?
यह क्या न अन्धेर ?

नारद का शीश हिला,
उसको सन्तोष मिला !

तीसरा बोला नत स्वर
मस्तक धर चरणों पर,—
प्रार्थना यह मेरी
मुझको नहीं देरी,—
इसी भाँति रहूँ सतत
प्रभु पद पर भक्ति प्रणत ?
श्रीहरि का करूँ स्मरण,
सार्थक हो यह जीवन !

संक्रान्ति

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७७]

नारद ने कहा, धन्य
तुझ-सा न साधु अन्य !

पहुँच ऋषि विष्णुधाम
लेते प्रिय हरि नाम !
तीनों कहे सन्देश,
रक्खा न कुछ शेष !

हरि ने सुने निवेदन,
हँसे मन्द मन-ही-मन !—
ऋषिवर को दे आसन !

बोले, मुनि, तुम्हें ज्ञात
सब रहस्य आत्मसात् !

पहिले ने
किया नहीं समारम्भ,
व्यर्थ उसे मुक्ति-दम्भ !

दूसरे को
साधने हैं हृदय-तार
फूट सके भक्तिद्रवित झंकार !

तीसरा
कभी का मुक्त हो चुका
कर्म-बन्ध खो चुका !

धन्य, किया नारद ने
गुणगान
अन्य नहीं समाधान !

तीर-सी अखण्ड गति
लक्ष्य प्रति
अनन्य रति—
यही सिद्धि
साधना की परिणति !

संक्रान्ति

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९७७]

जनवादी ये खादी के स्वर
विजयी जन पर सहज निछावर !

दो शब्द

इन रचनाओं की प्रेरणा मुझे सन् १९७७ के चुनाव से मिली है। हमारी जनता अब युग प्रबुद्ध होकर मनोनुकूल राजनीतिक निर्णय ले सकती है, यह बात इस निर्वाचन से स्पष्ट हो गयी है।

इसे मैं अपने देश ही की नहीं, विश्व इतिहास की एक महान् घटना मानता हूँ। इतने विशाल पैमाने में इतनी बड़ी शान्तिपूर्ण रक्तहीन क्रान्ति एवं राज्य परिवर्तन का सम्भव होना मन को आश्चर्यचकित कर देता है।

'ग्राम्या' में मैंने ग्राम देवता के निकट से दर्शन कर उसे प्रणाम किया था। प्रस्तुत संग्रह 'संक्रान्ति' में उसे दूर दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। गाँव, निःसन्देह ही हमारे इस विराट् देश के अभिन्न अंग हैं और हमारे लोकतन्त्र की एकमात्र शक्ति। गाँवों के जागरण से भारत पर मेरी आस्था और भी बढ़ गयी है, कभी उनका युग के अनुरूप विकास हो सकेगा।

मानव भविष्य के सम्बन्ध में अपनी पिछली रचनाओं में मैं जो आशा प्रकट करता आया हूँ उसकी पूर्वसूचना इस निर्वाचन से मुझे मिली है। राजनीतिक महत्त्व से भी अधिक इस घटना का मानव जगत् के लिए सांस्कृतिक महत्त्व है, इसमें मुझे सन्देह नहीं। ये रचनाएँ २४-३-७७ से ७-४-७७ के बीच लिखी गयी हैं।

१८/बी० ७, के० जी० मार्ग
इलाहाबाद
७-४-७७

सुमित्रानंदन पंत

एक

शान्ति ! शान्ति !
यह रक्त हीन जन क्रान्ति !
अहिंसक युग संक्रान्ति !
शान्ति ! शान्ति !
यह निर्वाचन नहीं,
नये युग का आवाहन !
धन्य हे भारत के जन !
तुमने प्रस्तुत किया निदर्शन
आज विश्व के सम्मुख
निःस्वर लोक क्रान्ति का नूतन !
नैतिकता का बीज
युगों से
सन्तों की वाणी से सिंचित
आज हो उठा आत्म पल्लवित—
निर्वाचन को दिशा बोध दे,
नव जीवन कर कुसुमित,
भू अन्तर कर सुरभित !
जनता जाग प्रबुद्ध हो गयी,
राजनीति
छल छन्द छोड़
क्या शुद्ध हो गयी ?
शान्ति ! शान्ति !
निःशब्द अहिंसक क्रान्ति !
मिटी सब भ्रान्ति !
शान्ति ! शान्ति !

दो

दया करो,
हे क्षमा करो !
दया धर्म है,
दिव्य क्षमा
निष्काम कर्म है !

दया क्षमा हैं लम्बे हाथ
मनुज आत्मा के—
आलिंगन कर निखिल विश्व को
ये धाता के—
जीव सृष्टि का करते पोषण,
हर भू-रज के दूषण !

दुष्कर्मों को लाओ सम्मुख,
दुराचार के चित्त हो विमुख,—
बिना द्वेष के, प्रतिहिंसा के
धोओ करुणा की धारा से
मानव जीवन का मुख !
स्खलन मुक्त हो दोषी प्रतिक्षण,
रोग मुक्त हो अपराधी मन,
सहृदयता से पूजो
जन के कुण्ठा के व्रण !
दया करो,
हे क्षमा करो !
जन धरा अविकसित,—
प्रेम शक्ति से करो
मनुज जीवन को शासित !

तीन

भारत आत्मा को भेजो देशों देशों में,
भारत आत्मा को जीवित युग सन्देशों में—
मण्डित कर जीवन मूल्यों में, नव वेशों में !

सिन्धु-सत्य का सार बिन्दु है, जन समाज का व्यक्ति—
मनुष्यत्व सामूहिकता की बने अकुण्ठित शक्ति !
मनुज चेतना मूर्तित हो नव परिवेशों में।

रचना करनी भू जीवन की,
रचना नव युग-मानव मन की,
स्वर्ग सृजन के स्पर्श मिलें नव उन्मेषों में !

हृदय-सत्य से हो संचालित जीवन, मनुज-प्रेम से प्रेरित,—
सर्व श्रेय हो अभिव्यक्त जन आवेशों में !
भारत आत्मा को भेजो भू के देशों में !

चार

शुष्क सभ्यता की रेती में हृदय स्रोत खो गया,
बुद्धि भ्रान्त मानव निर्मम पाषाण हो गया !

प्रलयंकर शस्त्रों से सज्जित शिखर-देश अब,
मृत्यु विचरती धरा गगन में अह, अशेष अब !!

भारत से सीखो जीवन की कला धरा-जन,
अन्तःस्थित व्यक्तित्व गहन सागर संघर्षण !
साधारण हो वेश असाधारण हो जीवन,
उन्नत बुद्धि विवेक, नम्र श्रद्धार्पित हो मन !

बहिर्विभव से कहीं महत् अन्तर का वैभव,—
स्वार्थ सिद्धि से कहीं श्रेष्ठ भव जीवन अनुभव !
वस्तु भोग के पीछे भू-नर मत हो पागल,
भव विकास का क्षेत्र, भविष्यत् भू का उज्ज्वल !

पाँच

भारत का मुख देखो, भारत का मुख भू-जन,
शान्त क्रान्ति का जन ने प्रस्तुत किया निदर्शन !

भले ग्राम हों यहाँ निरक्षर पर प्रबुद्ध अब जन का अन्तर,—
सीधा सादा रहन-सहन, नित आदर्शों के प्रति आकर्षण !

हृदयवान भारत भू के जन, ईश्वर के प्रति आस्था ही धन,
सभ्य न हों आधुनिक अर्थ में संस्कृति के वे जीवित दर्पण !

दया क्षमा सहृदयता प्रेरित विश्व श्रेय के प्रति मन अर्पित,
संघर्षण में शान्ति, शान्ति में संघर्षण उनको प्रिय प्रतिक्षण !

युग-युग से जग को आश्वासन देते आये द्रष्टा ऋषिगण—
दिव्य क्षेत्र होगा आत्मा का प्रीति-स्वर्ग जन भू का आँगन !
भारत का मुख देखो भू-जन !

छः

नया मूल्य दो हे
भौतिक विज्ञान शक्ति को,
पश्चिम का मत करो अनुकरण—
वहाँ ध्वंस लाने को जग में
यान्त्रिक स्पर्धा पीड़ित जीवन !

शान्ति न शंकित-जन के मन में
जीवन कटु आर्थिक संघर्षण,
राजनीति के दाँव पेंच से
उद्वेलित जन सागर प्रतिक्षण !

पूँजीवादी सुविधाओं से
संचालित युग. जीवन दर्शन
मध्यवर्ग की आकांक्षाएँ
टकराती रहतीं नित भीषण !
अभी भूत विज्ञान शक्ति
बन सकी नहीं जन सुख का साधन,—
गृह उद्योगों, कृषि में उसको
लाना मौलिक युग परिवर्तन !

मानवीय सुख सुविधाओं का
धरा स्वर्ग में हो नव वितरण,
लोक-रूप विज्ञान शक्ति का
भू में भर दे नया सन्तुलन !

सात

तृप्ति नहीं देता मन को बाहर का वैभव,
सत्य आत्म सन्तोष विभव—जग जीवन अनुभव!

स्वल्प सुलभ इच्छाएँ, स्वच्छ सरल हो जीवन,
लोक कर्म में निरत प्रेरणा ग्राही हो मन !

ईश्वर प्रति आस्था, यथार्थ-निर्माता हों जन,
सृजन शील हो बुद्धि रूप के प्रति आकर्षण !

शोभा प्रेमी लोचन, संस्कृत मानव अन्तर,
कला शिल्प के प्रति अभिरुचि हो, आत्म जयी नर!

मानव श्रम से शस्यस्मित हो जग का आँगन,
हृदय स्वर्ग संगीत बन सके भू का रोदन !

आठ

महिमामयी जगत् जननी
श्री भारत माता,
जीवन दाता,
मानवता की भाग्य विधाता !
अन्तश्चेतन में निवास
करती यह जन के,
समाधान करती
वैषम्यों का क्षण-क्षण के,—
घाव पूरती मन के,
दुर्बल जन की त्राता !
आत्म शक्ति की सागर-गरिमा
इसमें निश्चित,
भू जीवन के सुख दुख
जिसमें होते मज्जित !
आत्मसात् करती द्वन्द्वों को
रह अन्तः स्थित,
यह वसुधैव कुटुम्बमयी
जग में विख्याता !
उच्चादर्शों से निर्मित
अन्तर्मन प्रांगण,
मूल्य हृदय के—
श्रद्धा आस्था करती वितरण !

संकट स्थितियों में
जन का करती संरक्षण,—
लीला भूमि इसे बतलाते
द्रष्टा, ज्ञाता !

नौ

कर्म-जगत् जीवन निर्माता
मुक्ति अभय दाता,
ज्ञान कर्म गति का संयोजन
प्रिय भारत माता !

व्यक्ति स्वयं में पूर्ण मुक्त हो,
सामाजिक कर्त्तव्य युक्त हो,
व्यक्ति समाज उभय का
जग में अविच्छिन्न नाता !

ईश्वर दोनों ही से ऊपर
व्याप्त सृष्टि में अव्यय अक्षर,
आस्था पथ से मन
ईश्वर का सूक्ष्म स्पर्श पाता !

ईश्वरमय रे सकल चराचर,
व्यक्ति, विश्व वह पूर्ण परात्पर,
ईश्वर भक्त वही जो
भू जीवन को अपनाता !

जीवन मंगल में वह मूर्तित,
कवि की रस वाणी में कीर्तित,—
ज्ञान कर्म सन्तान प्रकृति के,
वे जुड़वाँ भ्राता !

दस

भारत मा को पहचानो हे भारतवासी,
नव जीवन निर्माण करो ले मा का थाती !
अन्तर्जीवन का वैज्ञानिक भारत निश्चय,
जरा मरण, सुख दुख, भय पर उसने पायी जय !
क्षण भंगुर भव क्रम में वह अमरत्व प्रयामी !

ईश्वर के प्रति कर निज जीवन आस्था अर्पित,
मुक्त जूझता वह भू जीवन से अंत: स्थित !
राग द्वेष लहरों पर नित आनन्द विलासी !

मत भटको हे पश्चिम के भौतिक प्रवाह में,
अन्ध अनुकरण नहीं तुम्हारे दृढ़ स्वभाव में,
जड़ पर चेतन की जय के तुम चिर अभ्यासी !

यान्त्रिकता के दास बनो मत खो मानवपन,
विद्युत् अणु अश्वों पर करो अभय आरोहण,—
यन्त्र तुम्हारे सेवक, भूत प्रकृति पद दासी !

बुद्धि भ्रष्ट जग, हृदय मूल्य उसको दो नूतन,
बहिरन्तर भू जीवन में भर नव संयोजन,—
रोको एकांगी विनाश को हे अविनाशी !

ग्यारह

भारत के अन्तस को वाणी दो हे कवि मन,
गूँज उठे संगीत विश्व श्रवणों में पावन !

उद्वेलित हो सिन्धु पुलिन पिछले कर मज्जित,
मौन गगन नादित हो अक्षर शब्द उच्छ्वसित !

दिशा काल के पार सृष्टि में जगे अनाहत
अमर भाव लहरी—नव क्षण बन विचरे शाश्वत !

भारत चेतस को कवि, करो स्वरों में छन्दित,—
युग-युग से क्या सोच रहा वह भाव समाधित !
भू मंगल पीयूष हृदय-घट में कर संचित
उत्सुक वह रस तृषित विश्व में करने वितरित !

बहिरन्तर को, जड़ चेतन को कर संयोजित
मौन प्रतीक्षा रत, नव जीवन करने निर्मित !

भंगुर उपकरणों से शाश्वत छवि कर मूर्तित
मृत्यु सिन्धु तिरता वह श्रद्धा आस्था अर्पित !

बारह

अपने ही में पूर्ण स्वयं जो क्यों हो खण्डित,
व्यक्ति विश्व, जड़ चेतन के पाटों से मर्दित !
आओ, अपनाएँ हम भारत का मध्यम पथ,
बढ़े विकास चरण धर नव मानवता का रथ !
अपनेपन को करें विश्व जीवन प्रति अर्पित,
निखिल विश्व जीवन को अपनेपन से रंजित !
सिद्ध नहीं हम साधक, श्रमिक नहीं, युग सर्जक,
मनुष्यत्व के प्रतिनिधि, लोक श्रेय संवर्धक !
सुख दुख तट पर वाहित चित् आनन्द स्रोत हम,
तम सागर में आत्म ज्योति से दीप्त पोत हम !
ध्वंसास्त्रों के युग को दें हम नव आश्वासन,
कालजयी हम, मृत मानव को दें नव यौवन !

तेरह

जनता के मन के शासक, जय!
हम जनता के प्रगति चरण धर
बढ़ें भविष्यत् पथ पर निर्भय!

परिवर्तन ही जग का जीवन,
सार्थक हो जन मन का स्पन्दन,
अन्तरिक्ष के वातायन से
नव प्रभात हँसता, क्या विस्मय!

सब से श्रेष्ठ आत्म अनुशासन,
मानवीय गौरव का दर्पण,
दुराचार के प्रतीकार को
नम्र अवज्ञा अस्त्र असंशय!

निर्मित करना जीवन प्रांगण
जन को दे सुख सुविधा साधन,
सृजन कर्म रत हो भू का पथ
यही सृष्टि का गोपन आशय!

मानव को बनना संस्कृत नर,
प्रकृति विकृतियों से उठ ऊपर,
जन मन को कर्तव्य निष्ठ रे,
भू शासन को होना सहृदय!

देख रहे सुर अपलक लोचन
मानव भावी का सम्मोहन,
बाधा विघ्नों में अप्रतिहत,
भू विकास पथ शुभ से परिणय!

चौदह

हमें सिखाओ ग्राम निवासी!
पश्चिम के अनुकरण मूर्त
ये नगर हमें अब लगते बासी!

हमको जीवन कला सिखाओ,
नगरों को फिर मार्ग दिखाओ,
ओ भारत आत्मा के प्रतिनिधि,
चिर पुराण, चिर नव, अविनाशी!

भूल गये स्वाभाविक जीवन,
आर्थिक स्पर्धा से पीड़ित मन,
कृत्रिम उपकरणों से वेष्टित,
रोगी, वैभव भोग विलासी!

हमें दृष्टि दो भू-यथार्थ में,
लिप्त रहे मन नहीं स्वार्थ में
श्रम तप की महिमा पहचाने
बने न नर पर-संचय ग्रासी !

बीज प्रेम के बोयें भू पर,
सत्कर्मों से रज हो उर्वर,
श्री शोभा की हरीतिमा की
निर्निमेष ग्रांखें हों प्यासी !

करें दूसरों का भी पोषण,
दुर्बल का हम करें न शोषण,
प्रकृति क्रोड़ में खेलें, वह मा,
उसे नहीं हम समझें दासी !

भेद करे मन रज्जु व्याल में,
व्यर्थ न उलझे तर्क जाल में,
ग्रन्तरिक्ष के बदले हम हों
भू पर चलने के ग्रभ्यासी !

पन्द्रह

धरती का ग्रांगन इठलाता !
शस्य श्यामला भू का यौवन
ग्रन्तरिक्ष का हृदय लुभाता !

जौ - गेहूँ की स्वर्णिम बाली
भू का ग्रंचल वैभवशाली,
इस ग्रंचल से चिर ग्रनादि से
ग्रन्तरंग मानव का नाता !

ग्राग्रो, नये बीज हम बोयें
विगत युगों के बन्धन खोयें,
भारत की ग्रात्मा का गौरव
स्वर्ग लोक में भी न समाता !

भारत जन रे धरती की निधि,
न्योछावर उन पर सहृदय विधि,
दाता वे, सर्वस्व दान कर
उनका ग्रन्तर नहीं ग्रघाता !

किया उन्होंने त्याग तप वरण
जन स्वभाव का स्नेह संचरण,
ग्रास्था ईश्वर के प्रति ग्रक्षय
श्रम ही उनका भाग्य विधाता !

सृजन-स्वप्न से हो उर प्रेरित
नव श्री शोभा से उन्मेषित,
हम वसुधैव कुटुम्ब ध्येय रख
बनें नये युग के निर्माता !

सोलह

श्रद्धांजलि दें हम भू जन को !
भाव-सुमन कर स्नेह समर्पित
बाह्य अभावों के जीवन को !

उनका निर्णय हमको स्वीकृत,
उर-आकांक्षाओं में मूर्तित,
वे निर्माण करें जन युग का
हम सम्बल दें उनके मन को !

महा क्रान्ति का यह अवाक् क्षण,
गत युग का नव पट परिवर्तन,
देश काल निःस्तब्ध देखते
लोकतन्त्र के नव प्रांगण को !

अभी नहीं आया वह युग क्षण
गहराई से पैठ सके मन,
थाह सके जन की क्षमता को
मूल्य दे सके निर्वाचन को !

निःस्वर सामूहिक आन्दोलन,
लोक एकता का यह दर्पण,
कौन शक्ति वह हिला सके जो
जन अंगद के पद रोपण को !

यह निर्णय रे जन मन का पण,
मानवीय उनको प्रिय शासन,
सूक्ष्म दृष्टि चाहिए मर्मस्पृक्
देख सके जो जन उर व्रण को !

सत्रह

आओ, अपने मन को टोवें !
व्यर्थ देह के सँग मन को भी
निर्धनता का बोझा न ढोवें !

जाति-पाँतियों में बहु बँटकर
सामाजिक जीवन संकट वर,
स्वार्थ लिप्त रह, सर्व श्रेय के
पथ में हम मत काँटे बोयें !

उजड़ गया घर द्वार अचानक,
रहा भाग्य का खेल भयानक,
बीत गयी जो बीत गयी, हम
उसके लिए नहीं अब रोवें !

परिवर्तन ही जग का जीवन
यहाँ विकास ह्रास सँग विघटन,
हम हों अपने भाग्य विधाता
यों मन का धीरज मत खोवें !

साहस, दृढ़ संकल्प शक्ति, श्रम,
नव युग जीवन का रच उपक्रम,
नव आशा से, नव आस्था से
नये भविष्यत् स्वप्न सँजोवें !

नया क्षितिज अब खुलता मन में
नवोन्मेष जन - भू जीवन में,
राग द्वेष के, प्रकृति विकृति के
युग-युग के घावों को धोवें !

अठारह

कैसा करुणा श्यामल बादल !
प्रीति द्रवित हो भू अंचल को
अभिषेकित करता उर्वर जल !

यह प्रतिनिधि क्या जन के मन का ?
या प्रतीक निर्धन के धन का,
पुलकित, शस्य हरित हो उठता
शीतल रस स्पर्शों से भूतल !

अति उदार इसका अन्तस्तल
अनुशासित इससे दिङ् मण्डल,
यह शासक-व्यक्तित्व तपोज्वल
वज्र कठोर, कुसुम-सा कोमल !

जन भू का करता नित पोषण
अग जग में वितरित कर जीवन,
दया क्षमामय, सहज न्याय रत,
जन्मजात मानव रज-दुर्बल !

देख हरित जन भू का वैभव
उर को अनुभव होता अभिनव,
सृष्टि चेतना परम प्रेममय
वह ही निश्चय निर्बल की बल !

सलिल अनल घन में संयोजित,
स्थूल सूक्ष्म तत्वों से पोषित !
वैर प्रीति ही का विलोम रे
प्रेम हीन भू जीवन निष्फल !

उन्नीस

मुझे गर्व, मैं भारत का जन !
द्रष्टाओं की भूमि अलौकिक
ज्योतिर्मय भू जीवन दर्शन !

गुह्य वेद मन्त्रों से गुंजित
देश काल नित रहते स्पन्दित,
फहराता प्रांगण में पावन
यज्ञ धूम का सुरभित केतन !

दृष्टि रही जन की भौगोलिक,
बीते गाथा युग पौराणिक,
दृढ़ निष्काम कर्म-पण इसका
रहा विश्व मंगल का साधन !

टोहा इसने अन्तरतम मन,
टोहा रहस सृष्टि का कारण,
किया सत्य अन्वेषण गोपन
अन्तःकेन्द्रित कर अवगाहन !

क्रूर रहा इतिहास असंशय,
मानी जन ने नहीं पराजय,
आत्मजयी भू—देखो फिर से
मधु मुकुलित इसके दिक् प्रांगण !

कर्म भूमि, जन धरणी के प्रति
आज लोक-मन की निष्ठा रति,
सत्य अहिंसा मूल्य करेंगे
बहिरन्तर जग जीवन शासन !

लोक तन्त्र प्रेमी जन निश्चय
ग्रहण करेंगे सिंहासन, जय !
अन्तर्मन की क्रान्ति बनेगी
भू विकास के लिए निदर्शन !

बीस

कौन तुम्हारे गुण गा सकता ?
ओ तेजोमयि भूमि,-पराजित
आज जगत के सारे वक्ता !

तुम अन्तर ऐश्वर्यमयी भू
जीवन धन्य पवित्र चरण छू,
लोक जागरण की, इस युग में
जन धरणी को आवश्यकता !

स्थापित कर युग-भू में समता
जीवन की हर क्रूर विषमता,
पुनः परीक्षा लेती अपनी
छिपी तुम्हारे जन की क्षमता !

विश्व प्रेम ही लोकतन्त्र है,
अन्तर क्रान्ति महान् मन्त्र है,
सृजन कर्म के प्रति अर्पित मन
कभी न जीवन मग में थकता !

तुम अकूल करुणा की सागर,
मानव ममता की भर गागर
देश काल अनुरूप सतत तुम
देती जन को नयी महत्ता !

इक्कीस

नव युग चेतन हों भारत जन !
मध्य युगों के मानस सागर में
हम गहन करें अवगाहन !

जाति-पाँति के बन्धन दुर्गम,
रूढ़ि रीतियों का जड़ कर्दम,
अतिक्रम कर पिछले पुलिनों को
करें चेतना सिन्धु सन्तरण !

उपनिषदों की दृष्टि जगाकर
आलोकित कर युग का अन्तर,
जन जीवन की उर्वर भू पर
करें नये बीजों का रोपण !

भू-मानवता के हम प्रतिनिधि
यही हमारी जीवन गतिविधि
हाँ, वसुधैव कुटुम्बक ही का
ध्येय हमारा रहे चिरन्तन !

नयी प्रेरणाओं से प्रेरित
हृदय क्षितिज हो पुलक पल्लवित,
नव श्री शोभा के स्वप्नों से
स्वर्ण मंजरित हो भू प्रांगण !

हृदय मूल्य कर जग में वितरित
अमृत पिला बौद्धिकता को मृत,
चेतन श्रम का ले अवलम्बन
भरें विश्व गति में संयोजन !

बाईस

धन्य तुम्हें हे भारत जननी !
झाड़-फूँस कुटियों में रहती
आयी तुम—भव संकट शमनी !

बाहर से तुम जर्जर खँडहर,
चिदैश्वर्य से दीपित अन्तर,
भावोद्वेलित भव सागर में
तुम अक्षय आस्था की तरणी !

ध्यानावस्थित चेतस तन्मय,
तुम आनन्द स्वरूपिणि सहृदय,
दिव्य ज्ञान नग से पद-निःसृत
मधुर भक्ति रस की निर्झरिणी !

नव रूपों भावों में विकसित
नव जीवन में होती मूर्तित,
अतिक्रम कर गत युग सीमाएँ
द्वन्द्व जनित भव बाधा हरणी !

आज मुक्त नव युग चेतन मन
श्रद्धा नत करता आवाहन,
झंकृत हो नव स्वर छन्दों में
कवि प्रतिभा पद गति अनुसरणी !

तेईस

आओ, हम नव युग निर्मायें,
विद्युत् को, परमाणु शक्ति को
मानवीय हम मुक्ति बनायें !

अणु विद्युत् हों मानव वाहन,
मानव उनका बने न साधन,
जड़ पर आरोही हो चेतन
मानव स्वयं न जड़ बन जाये !

यन्त्र चक्र अब उसका जीवन,
हृदय हीन नर निर्मम पाहन,
मानव मर न जाय मानव का
वह न हाथ मल-मल पछताये !

भूत शक्तियों को वश में कर
भू समाज हम रचें महत्तर,
जन न श्रमिक, सर्जक शिल्पी हों
जग को हम नव दिशा दिखायें !

मनुष्येत्व के स्वर्ण निकष पर
भौतिक युग का मूल्यांकन कर,
हम मानव दानव का अन्तर
भोग अन्ध नर को समझायें !

निकट आ रहा अब प्रबुद्ध जग,
कुश कंटक कुण्ठित जन-भू मग,
आओ, हम भू-मानव उर से
बाधाओं के शूल निराएँ !

जड़ विज्ञान महान् शक्ति रे,
पर भस्मासुर बना व्यक्ति रे,
संयोजित विज्ञान ज्ञान कर
विश्व ध्वंस से उसे बचायें !

चौबीस

नव स्वप्नों से उन्मेषित मन !
नये बोध के चरण मिलाकर
आओ, करें धरा पर विचरण !

भू-जन के भावों की धरती
(हाय, रही यह अब तक परती !)
नयी प्रेरणाओं से पुलकित
शस्य स्मित अब जीवन यौवन !

खुला क्षितिज में नव वातायन,
निर्निमेष भू जन के लोचन,
भू पर पड़ते नहीं चरण अब
उड़ता स्वप्न पंख मन प्रतिक्षण !

यह आनन्द कहाँ था अब तक
सोच रहे जन शोभा-अपलक
मन के भीतर उड़ मन गाता
नव जीवन का कर अभिवादन !

दमन मुक्त जन जीवन निर्भय,
प्रकृति सहज अपने में सहृदय,
जीवन शिल्पी लोक चेतना
श्रम तप ही जीवन के साधन !

व्यक्ति समाज रहें संयोजित
पारस्परिक भावना पोषित,
जन स्वतन्त्रता ही रे जग में
मानव आत्मा का अमूल्य धन !

पच्चीस

यह जीवन का नव युग दर्शन !
जन समता पर हो आधारित
मनुज एकता का संवर्धन !

लोग सभ्य के सँग हों संस्कृत,
निज अन्तर स्फुरणों से प्रेरित,
रचनात्मक हो जन स्वतन्त्रता
कृच्छ्र त्याग तप से जो अर्जित !

भू जीवन श्रम हो सम्मानित
श्रम ही मानदण्ड नर का नित,
स्वर्ग यही भूखण्ड, मनुज
सत्कर्मों का हो उज्ज्वल दर्पण !

देशों में भू रहे न खण्डित,
बनें विविध भूभाग समन्वित,
बँधे विश्व-वैचित्र्य ऐक्य में
मनुज प्रेम का पा आलिंगन !

सर्वोपरि आस्था ईश्वर पर,
करे उन्नमित मानव अन्तर,
द्रष्टा, भोक्ता, शिल्पी, कर्मी
धरें मुक्ति सँग शुद्ध आचरण !

छब्बीस

यह महान देश रे, महान् देश है !
यह पुनः युवा हुआ, नवीन वेश है !

राज्यवाद अब न यहाँ लोक तन्त्र है,
लोक साम्य लोक प्रेम मूल मन्त्र है !

यहाँ कर्म कौशल, समत्व योग है,
आत्म ज्ञान यज्ञ त्याग युक्त भोग है !

भव विकास शील उदित नया वृत्त लो,
विश्व बोध से प्रदीप्त मनुज चित्त लो !

अन्तरिक्ष अब मनुष्य को रहा पुकार,
स्वर्ग रचें भू पर हम खोल हृदय द्वार !

देवों के संग करे मनुज अब विहार,
जीवन का सत्य सृजन कर्म, धर्म प्यार !

सत्ताईस

कहाँ छिपा था प्रबुद्ध
जन मन में न्याय,
पूर्ण हुआ अब समग्र
जीवन का दाय!

धरती पर चलते वे—
आत्मा के अंश,
धन्य हुआ अब उनसे
मानव का वंश!

धरती है कामधेनु
कल्पलता श्याम,
देती वह भाव वृद्धि
देती धन धाम!

धरती की धूलि में
भरा यथार्थ ज्ञान
पोषित करती जन तन
हर्षित मन प्राण!

भू की हरियाली हँस
देती सन्देश,
जीवन के श्रम तप को
मानो मत क्लेश!

पग-पग पर करती भू
हमें सावधान
भुला न जाय कहीं
हमें वस्तु ज्ञान!

धरती की धूलि सने
चरण भाग्यवान,
मुक्त हृदय करता कवि
उनका जय गान!

अट्ठाईस

आस्था प्राण धरा जन भारत!
घातियों के अत्याचारों से निकली वह अक्षत, अप्रतिहत!
बर्बर थे जब अन्य धरा जन वह थी सभ्य, सुसंस्कृत, चेतन,
नर पशुओं के आक्रमणों से भले रही हो आहत, उन्मन—
ध्यान मग्न वह पैठी भीतर परवश जर्जर थी जब बाहर
उसे ज्ञात था, विजय सत्य की होगी, बाधाएँ अतिक्रम कर!

खोया उसने नहीं आत्मबल जीवन, उसका रहा तपोज्ज्वल,
अन्तर्जीवन के चिन्तन में बीते उसके कालजयी पल !

भू विकास के नव युग में अब फहरा आत्म विजय का केतन,
भौतिक शक्ति मदान्ध विश्व को देती अनुभव गर्भित प्रवचन !

सावधान, ओ ध्वंसोन्मुख नर, शान्त चित्त हो करो विवेचन—
जड़ विज्ञान चिदात्म ज्ञान में भरो मानवोचित संयोजन !

हृदय-मूल्य को प्रथम स्थान दो बुद्धि भ्रान्त मन बने न चंचल,
यन्त्र-तन्त्र सेवक हों जन के निहित इसी में जीवन-मंगल !

उनतीस

महाप्राण यह देश, प्राण मन मेरे पद नत !
यह भविष्य की जगत् ज्योति, आस्था रत भारत !

इसके पावन रज तन के जड़ कण विभूतिवत्,
मूर्तिमान इसके अन्तर्जीवन में शाश्वत !

अन्न प्राण मन के खेतों में हँसती अक्षय
जीवन की हरियाली चिन्मय, श्रीशोभामय !

समाधिस्थ इसका तन्मय मन करता चिन्तन
स्वर्गिक वैभव का कर भू पर रहस अवतरण !

यह व्यवहार कुशल, युग-युग से अनुभव गर्भित,
मानव की क्षमता से दुर्बलता से परिचित !

करुणा सागर इसका अन्तर अन्तः केन्द्रित
प्रकृति विकृतियों, रज दोषों को करता प्रशमित !

मानव प्रेम अमोघ अस्त्र रे इसका अविजित,
रक्तहीन रण में हो उठते शत्रु पराजित !

आओ, हम नव आस्था को कर पूर्ण समर्पण
शान्त करें पिछले युग मूल्यों का संघर्षण !

तीस

अन्धकार का सागर जीवन !
आत्मबोध की ज्योतिर्मय
सित रजत तरी
भारत का दर्शन !

उठते गिरते ज्वार भयंकर,
बाड़व वात्या से न तनिक डर
रत्न निकाले ऋषि मुनियों ने
अथक गहन कर सागर मन्थन !

ऊँच-नीच दुस्तर लहरों पर
आस्था के उन्मेषित पग धर,
देश काल के पार सत्य का
कूल अकूल किया अन्वेषण !

आओ, अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर
थाहें युग-यथार्थ का अन्तर,
यह परिवर्तन की आँधी रे
काँप रहे जड़ चेतन थर-थर !

जन्म ले रहा नव संवत्सर
सृष्टि रहस्य निगूढ़ सूक्ष्मतर,
कलश अमृत विष का कर बाहर
जग को दें नूतन उद्बोधन !

द्वन्द्व न सत्य जगत के निश्चय,
मानव ऊपर उठ, हो सहृदय
प्रेम पाश में बाँध जगत् को
भव जीवन का करे सन्तरण !

इकतीस

आओ, नव युग को उन्नति सोपान बनायें,
जीवन पद्धति को विकास-विज्ञान बनायें !

विद्युत् अणु में भर मानव उर का संवेदन
यन्त्र चक्र बनने से जन को आज बचायें !

स्वयमपि अपने ऊपर रख अपना अनुशासन
नव यौवन को सृजन कर्म रत, रखें प्रतिक्षण !
नये राष्ट्र उद्भव में वे निज हाथ बटायें !

सामाजिक जीवन का करें नवीन संगठन,
कर्मों का फल हो मानव भावी को अर्पण !
भोगवाद को हम संयम का मूल्य बतायें !

भौतिकता के मद से निर्मम भू मानव मन
छिड़ा देव दानव मूल्यों में युग संघर्षण,—
मनुष्यत्व का दिशा बोध दे उन्हें जगायें !

बाँध देश देशों में खण्डित भू जीवन को,
स्वर्ण सूत्र में पिरो एकता के भू जन को,
विश्व प्रेम का संजीवन रस उन्हें पिलायें !

मनुष्यत्व को दे सर्वोपरि मन में आसन
उद्धत यन्त्रों को नत बना मनुज का वाहन,
आत्मान्वेषण की ज्योतिर्मय दिशा दिखायें !

बत्तीस

ये भारत जन !
सरल सुबोध स्वभाव,
सहज साधारण जीवन !—
शाश्वत को प्रिय इनका आँगन !

सीधा रहन सहन
महान् जन-भू का दर्शन,
आस्था प्रिय ये,
त्याग भोग का पावन साधन,—
ये भारत जन !

चरण धरा पर स्थिर रख निश्चय
भ्रमा न सकता मन को संशय,
शीत ताप, सुख दुख में इनको
देता रहता विधि आश्वासन !
ये भारत जन !

छोटा इनका जगत्—खेत,
जो मन को रखता श्रम-रत, चेतन,
कुशल कर्म शिल्पी ये,
कर कौशल ही परम्परागत शिक्षण !

ये यथार्थ के ज्ञाता,
उसके प्रति इनका सम्पूर्ण समर्पण,
खेत द्वार बिक जाय
न करते स्वाभिमान निज कभी विसर्जन !
महाबाहु ये,
निखिल विश्व को
मुक्त प्रेम का दे आलिंगन
भारत को भूलते नहीं,
वह बीज, मूल, अंकुर, आकर्षण !

अमृत योनि ये,
मुग्ध देवगण
मनुज रूप धर करते विचरण,
नारायण ही नर बनने को
युग-युग में करता संघर्षण !
जन्म मरण के बीच
सेतु स्पन्दित साँसों का
बाँधे प्रतिक्षण
पार आयु करते अनजाने,
कर्म निरत तद्गत भव जीवन !
ये भारत जन !

तैंतीस

सीमा ही में अब असीम के मिलते दर्शन,
भारत ही रे निखिल धरा का जीवित प्रांगण !

राष्ट्रवाद संकीर्ण न, व्यापक दृष्टि, मुक्त मन,
भारत ही में निखिल विश्व का रे सम्मोहन !

भंगुर जग में कौन सत्य का कर अन्वेषण
मानव को अमरत्व दिलाता उसका शोषन ?

सुख-दुख के द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर प्रतिक्षण
कौन कराता शाश्वत की सित भू पर विचरण !

ध्यानस्थित, आनन्द समाधित तद्‌गत अन्तर
कौन देखता व्याप्त चराचर जग में ईश्वर ?

ईशावास्यमिदं सर्वं का दिव्य घोष कर
कौन त्याग को बना भोग सुख का साधन वर—

पूर्ण समर्पण करना सिखलाता प्रभु के प्रति—
भारत ही, वह भारत, श्रद्धार्पित जीवन गति !

चौंतीस

यह अनादि से रे मानव जीवन का अनुभव—
यह मेरा तेरा कैसे हो सकता सम्भव !

यहीं हुए द्रष्टा अन्तर्मन के वैज्ञानिक,
भेद सकी रे जिनकी अन्तर्दृष्टि मर्मस्पृक्—

आर-पार जग का रहस्य, द्वन्द्वों से ऊपर
निखिल विश्व में व्याप्त जिन्होंने देखा ईश्वर !

हृदय कमल में भी मानव के वह प्रकाश स्थित,
जिसके प्रति जीवन को करना पूर्ण समर्पित !

यह मेरा ही नहीं, प्राज्ञ ऋषियों का अनुभव,
युग-युग में भव जीवन होता रहता अभिनव !

जग विकास, प्रिय रे, रहस्य संचरण अनामय,
हर विरोध द्वन्द्वों के युग-युग में कर परिणय !—

नव जीवन में मूर्त जगत् जीवन होता नित,
प्रति युग में नव जीवन द्रष्टा आते निश्चित !

उनके अगणित कर पद बनते जन-भू के जन
शीर्ष सहस्र उन्हीं के भू के युग प्रबुद्ध मन !

आओ, हम भी नव युग रचना में हों दीक्षित,
हम अविनाशी जीव, अंश ईश्वर के निश्चित !

पैंतीस

भारत के जन ग्राम निवासी !
चलें गाँव की ओर,
बने हम रहें न कृत्रिम नगर प्रवासी !

हाथी दाँत नगर ये निरुपम
महत् कर्म करने में अक्षम,
इनकी श्री शोभा बनावटी
जीवन मधु प्रिय, भोग विलासी !

पश्चिम के ये शुष्क अनुकरण,
टीम टाम भर में खोये जन,
भू-जन का शोषण करने के
व्यवसायों के चिर अभ्यासी !

बाह्य सभ्यता रिक्त प्रदर्शन,
नहीं सत्य के प्रति उर चेतन,
संस्कृति से ये दूर, अनेकों
छल छन्दों के कूट प्रयासी !

सरल हृदय रे गाँवों के जन,
अथक कर्म ही जीवन साधन,
धँसे पाँव धरती में इनके,
वृत्ति नहीं इनकी आकाशी !

धरती के उर का कर मन्थन
श्रम तप का ले सित अवलम्बन,
नगरों का ये करते पोषण
सेवा भाव निरत संन्यासी !

प्रिय न बाहरी इनको सजधज,
मोहित करती मन को भू रज,
शस्य स्मित दिक् श्यामल धरणी
हरती उर की मौन उदासी !

कर्म चित्त को रखता निश्चल,
विधि पर आस्था ही इनका बल,
सहृदय सभ्य नागरिक जन से
ये सद्भावों के अभिलाषी !

जन-भारत रे ग्राम निवासी !

छत्तीस

रुको, रुको, जनता आती है !
यह युग-युग की परम्परा की
भारत की अक्षय थाती है !

प्रथम बार हो जाग्रत् निर्भय,
लिया प्रबुद्ध जनों ने निर्णय,
वे स्वतन्त्र अनुभव करते, लो,
फूली अब चौड़ी छाती है!

नव वसन्त छाया जीवन में,
रक्त ज्वार आया यौवन में,
उर के अन्तरिक्ष में पुलकित
स्नेह प्राण कोयल गाती है!

भू गौरव से उन्नत मस्तक,
युग स्वप्नों से आँखें अपलक,
धीर, आत्म संगठित, भाग्य की
लक्ष्मी उन पर मुसकाती है।

एक दिशा को बढ़ते सब पग,
अब कृतार्थ उनसे जीवन मग,
कूट राजनीतिक, दाम्भिकता
उनके सम्मुख भय खाती है।

वे विनम्र, कर्मठ, श्रम साधक,
सत्य न्याय सद्‌गुण आराधक,
जय, जन जागृति भारत भू में
नयी चेतना अब लाती है।

अन्तरिक्ष लज्जित-सा मन में,
नव आकर्षण भू जीवन में,
पराजयों पर विजयी होकर
मुक्ति ध्वजा उठ फहराती है।

जिन्दाबाद! जिन्दाबाद!
गूँज उठे लो दिग् दिगन्त सब
भूल गये जन मूक विषाद!

आया नव युग का निर्वाचन
आया जन के निर्णय का क्षण,
मुखर हो उठे गूँगे, देखो,
विजय दर्प का भरा निनाद!

चौपालों पर जुटते दृढ़ पण,
पथ चलते सहलाते उर व्रण,
जीवन-मृत भू, हँसमुख जीवित
जन से लगती फिर आबाद!

हानि लाभ के प्रति जन चेतन,
सब कुछ उनके मन में गोपन,
छिपता नहीं दृगों से उत्सुक
अन्तर का निःस्वर आह्लाद!

चलते क्या परिचित धरती पर
उड़ते अम्बर में—गति दुस्तर !
अन्न वस्त्र आवास समस्या
अब उनको लगती अपवाद !

अपने बल का पा नव परिचय
तुले हुए वे पाने को जय,
यह रे जन्म - मरण का निर्णय,
यह न चुनावों का उन्माद !

बना मिटा सकते वे निश्चय
शासन को भी, यदि वह निर्दय,
लोक तन्त्र में अपने बल का
मिला उन्हें अब बहुमत स्वाद !

अड़तीस

मंगलप्रद हो जन-मन निर्णय !
मध्य युगों के भारत को
आधुनिक शक्ति अब बनना निश्चय !

विश्व प्रेम हो भारत का बल,
दया क्षमामय भू का अंचल,
त्याग तपोमय धरा रही यह,
जो अनादि से इसका परिचय !

अन्तर्मन की अपलक साधक,
नित्य सत्य पथ की आराधक,
युग संकट का करे सामना
साहस संयम से वह निर्भय !

भारत का कर्त्तव्य धरा प्रति,
ध्वंसास्त्रों के प्रति जग की रति,
रक्त हीन कर भाव क्रान्ति वह
मेटे जन-मन का भय संशय !

आने को अब स्थिति वह भीषण
होगा स्वयं हृदय परिवर्तन,
काल चक्र गति से वह परिचित
जग का शिक्षक, रक्षक सहृदय !

आत्म ज्ञान का गह वह असि-पथ
हाँक रहा मानवता का रथ,
बहिरन्तर का, जड़ चेतन का
नव भू-जीवन में कर परिणय !

उन्तालीस

ओ भारत जन !
तुम्हें बदलना है भू जीवन !
मुक्त तुम्हें करना है
जर्जर रूढ़ि रीतियों में जकड़ा मन !

जन-भू मध्य युगों की खँडहर,
इसको देना नव युग का वर,
आत्म ज्योति से दीपित हो मन,
विद्युत् दीपित हो दिक् प्रांगण !

शतियों की जड़ निद्रा त्यागो,
जागो गाँवो, नगरों जागो,
नहीं देखते ? महत् क्रान्ति का
जग में बहता मत्त प्रभंजन !

भौतिक मद से अन्ध विश्व जन
छेड़ न बैठें, प्रलयंकर रण,
पिछले मन का नव आस्था का
यह दिगन्त व्यापी संघर्षण !

पावक लपटों का ले केतन
कमर कसो, यह अस्त्रहीन रण,
कूद चेतना की ज्वाला में
दो, हे दो फिर अग्नि परीक्षण !

अन्तर्मुख हो बहिर्भ्रान्त मन,
आत्म सत्य के पाये दर्शन,
प्रलय क्षेत्र नव सृजन क्षेत्र हो
जड़ पर विजयी हो नव चेतन !
ओ भारत जन !

चालीस

जन धरणी पर
गंगा की शुचि धारा बहती !
मुखर लहरियों में उठ-गिर वह
युग-युग की जनगाथा कहती !

वह आस्था की धारा उज्ज्वल,
उसे ज्ञात मानव रज-दुर्बल,
प्रकृति विकृतियों को वह धोती,
जन-मन का अघ कल्मष सहती !

कूलों में एकत्रित हो जन
अन्तस्तल में डूब एक क्षण,
आत्मबोध पाते,—पवित्र स्मृति
निर्मल मन में संचित रहती !

उसका गुह्य स्रोत रे भीतर,
वह प्रतीक भर केवल बाहर,
हृदय चेतना ही जन गंगा,
पापहारिणी क्षमता महती !

वह प्रभु की करुणा की धारा,
मिलता जिसका नहीं किनारा,
बाधा विघ्नों के बालू के
रुद्ध कगारों को वह ढहती !

अपने पर विश्वास दिव्य बल
छूता उसे नहीं संशय छल,
श्रद्धार्पित की बाँह स्नेहवश
बाँह बढ़ा प्रभु करुणा गहती !

इकतालीस

आओ, मिल गायें जन मंगल !
बरसें देव सुमन अम्बर से,
भावों से दीपित हो भूतल !

विहँसें कुटियों के लघु आँगन,
मुखर मंजरित हों जीवन क्षण,
अपलक रक्खें नत चितवन को
हास्य स्मित श्री हरित दिगंचल!

बढ़े सहज सहयोग जनों में,
राग द्वेष हो नहीं मनों में,
युग जीवन निर्माण करें जन
श्रद्धार्पित श्रम प्रति अन्तस्तल !

सत्कर्मों का हो मधु संचय
विश्व प्रेम में अन्तर तन्मय,
बहिरन्तर के भाव विभव से
गूँज उठे मुकुलित दिङ्मण्डल !

करें मुक्त भू पर जन विचरण
देश काल से कर सम्भाषण,
शोषण से वंचित, संरक्षित
सार्थक हों भू जीवन के पल !

आओ, गाओ भू जन मंगल,
भावों से मुकुलित हो भूतल !
बरसें सुरगण सुमन गगन से
मनुज प्रेम हो जन भू सम्बल !

बयालीस

जग के प्रति दायित्व बोध से
प्रेरित हों भारत जन!
भूल न जायें वे अपना
वसुधैव कुटुम्बक का पण!

भेद अन्न मन प्राणों के स्तर
तद्गत सूक्ष्म दृष्टि अर्जित कर
किये तुम्हीं ने तम से पर
आदित्य वर्ण आत्मा के दर्शन!

मानव को अमरत्व दान कर
जग की भंगुरता का भय हर
अमृत तत्व कर पान, सृष्टि का
समझाया रहस्य चिर गोपन!

देख अनेक एक के भीतर
व्याप्त जगत में पाया ईश्वर,
बाँध एकता में भू-जन को
दिया प्रेम का सित परिरम्भण!

धरा विविध देशों में बँटकर
विश्व ध्वंस को रे अब तत्पर,
विरत् चेतना के प्रकाश से
भौतिकता से अन्ध मनुज मन!

बुद्धि भ्रान्त नर को कर जाग्रत
मूल्य हृदय के दें हम उन्नत,
पूर्ण सृष्टि अभिमत हो जिससे
चिद् दीपित हो जन भू प्रांगण!

तैंतालीस

नयी दिशा यह,
नया बोध यह,
नया लोक मन!
नव युग के प्रति
करें हृदय हम पूर्ण समर्पण!

मूल हमारे हों
गाँवों की भू के भीतर,
शाखा जग में,
बोध शिखर हो
जग से ऊपर!

नव जीवन निर्माण करें हम
भू जन के हित,
हों अतीत मन के मूल्यों से
नहीं पराजित !

स्वर्ग नहीं ऊपर
वह अनगढ़ इसी धरा पर,
जग में मूर्तित देखें
ईश्वर का मुख भास्वर !

रूप करें निर्माण,
बनें भू-शिल्पी चेतन,
सृजन शील मन,
श्री शोभा प्रेमी हों लोचन !

हम अनेक में एक
सत्य का करते दर्शन
अगणित जन रे
मनुष्यत्व ही के प्रिय दर्पण !

नयी दिशा यह,
नया बोध यह,
नया विश्व मन,
मनुज प्रेम से
परिरम्भित हो
जन-भू प्रांगण !

चौवालीस

यह भारत भू का सम्मोहन !
बाहर से यह जर्जर खँडहर
भीतर स्वर्गिक वैभव गोपन !

राज्य त्याग कर बुद्ध बना मन
करुणा द्रवित हृदय संवेदन,
भिक्षापात्र हाथ में लेकर
आत्मदान को दिया निमन्त्रण !

क्षुधित प्राण, भगवत् रस भोजन,
वास वस्त्र से भार मुक्त तन,
जटा बढ़ाये, भस्म रमाये,
आत्म नग्न हो करता विचरण !

कौन मिली इसको अमूल्य निधि,
भूल गया भव जीवन गति विधि,
राग द्वेष से हीन, खोजता
सृष्टि रहस्य निगूढ़ चिरन्तन !

यह योगी त्यागी चित् साधक,
कर्म लिप्त मन तप में बाधक,
खुले निखिल त्रिगुणात्मक बन्धन,
त्याग तप निरत निःस्पृह जीवन !

द्रष्टा, सत्य दृष्टि कर अर्जित
यह ध्यान स्थित, भाव समाधित,—
पुनः अवतरित हो जीवन में
धन्य बने जन-भू का आँगन !

पैंतालीस

हाय, दासता का भारत मन !!
उसे न भाती निज भाषा,
संस्कृति, साहित्य, शिल्प औ' दर्शन !

सहज आत्म विश्वास खो चुका
जड़ कायर मतिमन्द हो चुका,
खिसिया मन में, बात-बात में
करता वह निर्जीव अनुकरण !

कृत्रिम अब उसके जीवन क्षण,
कृत्रिम उर का शंकित स्पन्दन,
तिक्त, प्रेरणा शून्य भावना,
मौलिक रहा न बौद्धिक चिन्तन !

जग से अब सम्पर्क न जीवित
वह सब कुछ कर लेता स्वीकृत,
परोन्मुखी वह, आत्म - ग्लानि-हत,
गौरव करता रिक्त प्रदर्शन !

पाटों में पिस जाय कभी वह,
संकट की स्थिति हो वह दुःसह,
मित्र शत्रु बन जायँ, पराजित
वह अपने को करे किसी क्षण !

सावधान हो सोचे भारत,
कर्म निरत हो उद्यत, जाग्रत
अपने पैरों पर स्वतन्त्र हो खड़ा,
मिटे मस्तक का लांछन !

छियालीस

किससे किसका क्या नाता है !—
ऐसा कहकर मध्य युगी मन
अब मन ही मन पछताता है !

व्यक्ति समाज सहज सम्बन्धित
एक दूसरे से हों प्रेरित,
मनुज प्रेम ही विश्व सत्य रे
नर स्वभाव ही से दाता है !

जन हों भू जीवन प्रति उन्मुख
भू रचना ही में समस्त सुख,
मुक्त प्रेम बाँहों में
श्रम तप का दुख, सुख बनता जाता है !

लोक क्रान्ति का यह महान् क्षण,
करवट बदल रहा भू जीवन,
भू भविष्य का द्रष्टा युग कवि
जन जीवन की जय गाता है !

देश काल पर विजयी युग-नर,
उसे जीतना अपना अन्तर
विगत बोध व्यवधान खड़े कर
मनुज नियति को झुठलाता है !

मनुष्यत्व का हो संवर्धन
सृजन कर्म हो नव युग चेतन
भेद मिटा देशों के मन के
नव मानव भू पर आता है !

सैंतालीस

भू का नव निर्माण करो,
भारत जन का कल्याण करो !

तुम्हें उन्होंने माना अपना
भंग न हो जन-मन का सपना,
उनके उर के घृणित घाव
जीवन का क्रूर अभाव भरो हे !

तुम्हें जान दुर्बल संरक्षक
चुना उन्होंने अपना शासक,
दुरुपयोग मत करो सहज
आस्था का,—विघ्नोंसे न डरो हे !

कठिन समस्याएँ है सम्मुख
सदियों का है लदा दैन्य दुख,
निर्धनता का बोझ पर्वताकार
पीठ पर,—मत बिसरो हे !

गहन निरक्षरता का तामस
उन्हें बनाये पशु-सा परवश
श्रद्धानिष्ठा - से प्रयत्न कर
सिर का अमिट कलंक हरो हे !

देख सकें वे पीछे आगे
समझ सकें नव युग की माँगें
सहृदय शासक वन, सेवक वन,
जन के संग भव सिन्धु तरो हे !

अड़तालीस

शपथ ग्रहण की,
भूल न जाना !
शासक बनकर, अन्य जनों-सा
तुम भी मत करना मनमाना !

साक्षी बापू की समाधि बन
देखा तुम्हें करेगी प्रतिक्षण,
कर्तव्य च्युत हो जाओ तुम—
ऐसा न हो, पड़े पछताना !

देख दुर्वलों को दुख कातर
आँसू सहसा आते हों भर,
हृदय शिराओं में बढ़ता हो
रक्त वेग का आना-जाना !—

तो समझो अपने को निश्चित
जन की सेवा के प्रति अर्पित
हृदय भावना ही द्योतक है
मनुज प्रकृति, कर्मों की नाना !

महादेश यह, श्रम तप साधक,
बनी काल गति पथ की बाधक,
इसे उठाना गत कर्दम से
दुष्कर नहीं,—कठिन यह माना !

संग्रह यदि कर सको मनोबल
ले संकल्प शक्ति का सम्वल,
नव भारत का जन्म जगत हित
हो वरदान,—तुम्हें जो लाना !

उनचास

ओ भारत जन,
थोड़े बच्चे अच्छे,
सम्भव जिससे पालन
पोषण शिक्षण !

स्वेच्छा का परिवार नियोजन,
बल का जिसमें हो न प्रदर्शन,
सर्वोपरि संयम, निरोधु का
वाह्य प्रयोग दूसरा साधन !

इन्द्रिय निग्रह उत्तम जीवन,
मानवीय रे राग उन्नयन,
अधोमुखी यदि प्राण शक्ति हो
सम्भव नहीं ऊर्ध्व आरोहण !

जन-भू मन को करना संस्कृत,
जीवन वैभव करना अर्जित,
श्री शोभा, प्रतिभा, गरिमा से
मण्डित करना दिग् भू प्रांगण !

कला शिल्प में कर उर दीक्षित
सृजन चेतना के प्रति प्रेरित,
धरा स्वर्ग रचना श्रम तप रत,—
जीवन श्रम हो प्रभु का पूजन !

पचास

संगच्छध्वं महा मन्त्र रे,
साथ बढ़ें, सोचें, प्रिय बोलें,
रचें देव प्रिय लोक तन्त्र रे !

जन-जन को सहयोग सिखायें,
कर्म योग का मार्ग दिखायें,
विश्व ऐक्य में बँधें धरा जन,
रहें साथ ही सब स्वतन्त्र रे !

सृजन कर्म रत हो प्रसन्न मन,
स्वर्ग बने धरणी का आँगन,
खोलें जन नयनों के सम्मुख
हम नव जीवन का दिगन्त रे !

तत्परता से कर्म करें जन,
मुक्ति बने स्वेच्छा से बन्धन,
जटिल प्राविधिक आवश्यकता
हमें बनाये नहीं यन्त्र रे !

संस्कृत जीवन, नर हो सहृदय,
प्रभु प्रति आस्था, उर हो निर्भय
हम संयुक्त करें श्रम अर्जन
मानव की क्षमता अनन्त रे !

बहिरन्तर जीवन के ज्ञाता
आत्म ज्ञान के हों हम दाता,
भू मंगल प्रति हो मन अर्पित
यह चिर-परिचित लोकपन्थ रे !

इक्यावन

कब भर सकते जन-मन के व्रण ?
स्पर्श न जब तक मिले प्रेम के
ईश्वर का—भव दारुण कानन !

यह भारत की खोज सनातन
द्वन्द्व मुक्त सच्चिदानन्द घन,
देश काल पाटों में पिसकर
पूर्ण नहीं बचता कोई जन !

अतिक्रम कर अस्मिता प्रतिक्षण
धरा कर्म प्रति अर्पण कर मन,
जग जीवन श्रम से ही मानव
ईश्वर का कर सकता पूजन !

यदि न आरम अनुशासित हों जन,
(वे हों छात्र, व्यक्ति साधारण)
ईश्वर भी होगा न सहायक
जो सहयोग नहीं दे जन-मन !

भू विकास शुभ से ही सम्भव,
अशुभ जगत में लाता परिभव,
अमृत गरल बनता व्यतिक्रम से
जीवित नरक धरा का प्रांगण !

बावन

चिर अकूल चिन्मय सागर
भारत भू अक्षय,
खीचो इससे अमृत शक्ति
भू साधक निर्भय !

अमृत पुत्र,
अमृतत्व करो
तुम अपना सार्थक,
अधोमुखी तृष्णा हो नहीं
सिद्धि में बाधक !

दो, दो, दो, तुम
निखिल विश्व के वन संरक्षक,
भू भविष्य को देख
मनोनयनों में अपलक !

त्याग करो, श्री जीवन ईश्वर के
आराधक,
धरा-स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं हो
भू पर जब तक !

सृजन कर्म में तन्मय,
भाव समाधित अन्तर—
डूबो, गहरे डूबो,
चेतस पावक सागर!

पुनः करो युग मन्थन,
रत्न निकालो चेतन,
नये सूर्य शशि उगकर
भू पथ करें प्रदर्शन!

श्री आनन्द कुमार स्वामी के प्रति

आज आपकी जन्मशती के शुभ अवसर पर
श्रद्धांजलि अर्पित करते हम नत मस्तक हो,
कभी न कुम्हलानेवाले स्मृति के सुमनों का
हार गूँथ भावों की भीनी अंगुलियों से!

कौन दृष्टि देता निगूढ़तम कला लोक के
अन्तरिक्ष में, सूक्ष्म सूक्ष्मतम सौन्दर्यों की
छायाओं से कल्पित मूर्त कलाकृतियों में,—
जो मन की चेतना भूमि में उन्मेषित हो
स्वतः प्रेरणा स्पर्शों से रूपायित होती
रूप रंग रेखाओं में नव अभिव्यक्ति पा!

कौन अकूल पूर्व पश्चिम की संस्कृतियों के
अम्बुधियों में अवगाहन कर, सेतु बाँधता
विश्व एकता का, स्वर्णिम मानव मैत्री का,
भूत भविष्यत् के युग छोरों को अतिक्रम कर!

इसे आप ही तो सम्भव कर सके, मनीषी
परम कलाविद, प्रिय कुमार स्वामी,—जीवन को
बना कलात्मक यज्ञ, सर्व कल्याण के लिए,
शोभा समिधाएँ संचित कर, आत्मबोध की
अग्नि प्रज्वलित कर, रसमय चरु की आहुति दे!
जरा मरण भयहीन आपकी यशः काय का
मानवता, देवों के सँग, अभिवादन करती!

नये संकट

[दिसम्बर १९७७ में लिखित कविताएँ]

एक

एक ग्रौर भी जगत् है
छाया का जगत्
जिसे मैंने नहीं छुग्रा—
न छायावाद ने छुग्रा,
जो प्रकाश का मुख देखता रहा—
ग्रपने ग्रस्तित्व को
प्रकाश मानता रहा !

छाया का जग मेरे भीतर
ग्रनेक बार उमड़ा
मेरी ग्रँगुलियों ने
उसे मसल दिया !

दे ग्रनुभूति की ग्रँगुलियाँ थीं
छाया-जग उपचेतन जग था !
जब वह मेरी कल्पना को
नहीं रँग सका,
तो उसके ग्रर्धगोचर पंख
मेरे सिर पर से हटकर
पैरों तले बिछ गये !
मेरे सूर्य ग्रस्तित्व से ही
उसका बिम्ब व्यक्तित्व बना था !

दो

श्मशान ने
जब सौन्दर्यबोध की ग्राँखें खोलीं
तो ग्रनेक ग्रस्थिपंजर
ग्रनेक हड्डियों के हिलते ढांचे
नाच उठे !

सियार हुग्रा-हुग्रा कर उठे !
मौन चीत्कार भरना चाहता था
उसका गला रुँध गया !

वह मृत्यु-लोक का मौन बन गया !
अन्धकार साँसें पीकर
सृजनशील बन गया !

उसने प्रकाश के मुख पर
कालिमा पोत दी,
अस्ति नास्ति बन गया !
उसने असीम विश्राम का
अनुभव किया !

पशुओं सरीसृपों के आकार
उसे विचलित नहीं कर सके—
नरक, हत्याकाण्ड, बलात्कार
सबका भय जाता रहा !
अन्धकार का अस्तित्व, कहने को—
अधिक घना, अधिक ठोस निकला !

तीन

एक नयी ज्योति उतरी है
विश्व चेतना में—
छायाएँ उसी ज्योति की
उसी नयी ज्योति की छायाएँ हैं !

अतीत की छायाओं से
कहीं अधिक गहरी,
अधिक कराल, अधिक भयंकर !

उन्हें गर्व है, वे नयी ज्योति की छायाएँ है !
ज्योति जितनी प्रखर
जितनी उन्मेषमयी है,
छायाएँ उतनी ही अनबूझ
गहन, भयावह !

विश्वमन को उनसे
संघर्ष करना कठिन हो गया है
वह उनके तामस पाश में
बुरी तरह फँस गया है !

उसने मन को
अधोमुखी बना दिया है !
सर्वत्र काम-पिपासा, तृष्णा
उद्दाम आवेश !
सर्वत्र उसी का हाहाकार है !

पिछला सूर्य विघटित हो रहा है,
घने अन्धकार से अवगुण्ठित !
उसी को वह सुख मानता है,
आलस्य, प्रमाद, राग-द्वेष का नाग
उस दिवान्ध सूर्य की
शिरोमणि बन बैठा है !

नये यौवन को
टाँगों में जकड़े
वह अन्धकार निराशा का आवरण,
अनास्था का विश्राम बन गया है !

मन के अन्तरिक्ष में
अभी नयी ज्योति का जन्म हुआ है !
ठहरो, ठहरो,
अतीत वर्तमान ढह रहा है,
यथार्थ विकीर्ण हो रहा है !

अभी मूल्यों की दिशा
भावों की धनी उषा
नहीं दिखायी देगी
नहीं दिखायी देगी !

चार

आज उपहास, विरक्ति,
घृणा वैमनस्य ने
नया परिवेश निर्मित किया है,
नया वातावरण संगठित किया है !

श्रद्धा विश्वास
आत्महत्या करने की सोच रहे हैं,
मनुष्यत्व मूर्छित पड़ा है !
शत्रु मित्रता का मुखौटा लगाये हैं,
गरल ही तो खिलखिलाकर
अमृत घट से छलक रहा है !

सर्वत्र सन्त्रास,
शंकारुद्ध निःश्वास !
मर्यादाएँ लुट रही हैं
विनाश की सेना जुट रही है !

यह बाहरी आपात स्थिति नहीं,
अन्तर की संकट स्थिति है,
भीतर,
यह अन्तर की संकट स्थिति है !

नयी आस्था
    नया यौवन चाहती है,
        आत्मानुशासन माँगती है!

पाँच

यथार्थ
देश काल के पट पर
निरन्तर
बदलता रहता है!
मन की तृष्णा को
छलता रहता है!

मानव
अपना विधाता है,
विश्व जीवन का निर्माता है,
जीवन तृष्णा का
उससे क्या नाता है?

ब्रह्मा का दिन
पुनः बदल रहा है,
विगत कल्प ढल रहा है!
और धरती का मन
अतीत का अन्धकार उगल रहा है!

कितना घिनौना
बौना लगता है मनुष्य
जो परम्परागत
टाँगों से चल रहा है—
अपने को छल रहा है!

आज नया यथार्थ गढ़ना है,
भविष्य की ओर बढ़ना है!
रूढ़ियों के कर्दम से
जीवन को बाहर कढ़ना है!

द्रोह नहीं, मोह नहीं
लोभ नहीं, क्षोभ नहीं
यही यथार्थ का इतिहास है,
जीवन का अर्थ विकास है!

छः

कहाँ से उतरी नयी ज्योति?
हमारे भीतर से ही,
    भीतर से ही!

बासी मन से ऊबकर
देश काल को लाँघकर
नयी ज्योति उदित हुई !

आज का दिग् भ्रान्त जीवन
उसी से प्रेरणा ग्रहण करेगा
वह कल के स्वप्नों को वरेगा !

अनति दूर खड़ा भविष्य
अपना रेशमी आँचल फहराता है—
नयी किरणों से बुना
आँचल का छोर लुभाता है !

कल की प्रतीक्षा में अपलक
कितने जन, कितने मन,
उसका करते हैं अभिवादन !

अश्रु भरे नयन, उर के व्रण
उसे देते हैं आमन्त्रण !
नयी आशा, नयी अभिलाषा
यही हृदय की भाषा—
ओ तृषित प्राणों के मरु
बुझाओ चिरन्तन पिपासा !
पी लो अमृत श्वासा !

यह नये भू जीवन का वर्ष है,
बाहर से अधिक भीतर संघर्ष है !
भीतर संघर्ष है !
धूपछाँह उत्कर्ष,
हर्ष विमर्श !

सात

हाय, कविता प्यास बुझा सकती
संस्कृति यदि
भूख मिटा सकती !
कितना अच्छा होता !

यह अधूरा विकास है,
ऊपर-ही-ऊपर···ऊपर-ही-ऊपर···
नीचे का स्वर्ग निराश है—
सदियों का खँडहर !

उसे अँधेरा ही रहने दिया
अँधेरा ही रहने दिया—
बहुत बुरा किया !

आज धरती के अन्धकार को
नयी दृष्टि मिल गयी है,
जिससे पुरानी संस्कृति की नींव
हिल गयी है !

ऊपर से नीचे
नीचे से ऊपर
एक ही प्रकाश
अब बहता निरन्तर !

दृष्टि व्यापक हो गयी
जघन्यता नहीं रह गयी—
एक ही सत्य के प्रतीक हैं
कीचड़ और कमल—
दोनों ही परम उज्ज्वल,
परम निर्मल !
जीवन कृतार्थ हो,
सत्य चरितार्थ हो !

आठ

कुण्ठाएँ, कुण्ठाएँ !
काली-कलूटी कुण्ठाएँ !

मैं सिर के बल क्यों न चलूं ?
हाथों से पाँवों का काम क्यों न लूं ?
कहाँ है हाथों के लिए काम ?
पैरों के लिए चलने को भूमि !

मैं आकांक्षाओं के मरुथस्ल में
खो गया हूँ।
भूख-प्यास के मरुस्थल में
मुझे चारों ओर
रेगिस्तान ही रेगिस्तान दीखता है !
केवल बालू का भयंकर प्रसार !

यह अभावों का समुद्र है,
जहाँ रोज नये आँधी-तूफान
नयी तृष्णाओं के ज्वार उठते हैं !

मैं श्मशान में क्यों न रहूँ
जहाँ सब अभाव जल जाते हैं
सुखभोग के स्वप्न पछताते हैं !
जलकर राख बन जाते हैं !

नौ

कैसा जीवन जिया
न जाने पिछली पीढ़ियों ने
स्त्री को उन्होंने
शय्या ही में पहचाना !

उसका दूसरा रूप ही
उन्होंने नहीं जाना !
मा-बाप ने अँगूठा
थमवा दिया
दोनों को पड़ा निभाना !

अब हम क्वारी कन्याएँ हैं
किशोरी नव-यौवनाएँ हैं !
न हँसो, न बोलो,
न अपना मन खोलो !
सभी को शंका है, भय है,
यौवन निर्दय है,—

(अपूर्ण)

बुरूँश

सार जंगल में त्वि ज केन्हा रे केन्हाँ
फुलन छै के बुरूँश ! जंगल जस् जलि जाँ !

सल्ल छ, दयार छ, पईं, अयाँर छ,
सबनाक फाङन में पुङनक भार छ;
पै त्वि में दिलैकि आग, त्वि में छ ज्वानिक फाग,
रगन में नयी ल्वे छ प्यारक खुमार छ !

सारि दुनी में मेरी सू ज, लै क्वे न्हा,
मेरि सू कै रे त्योर फूल जै अत्ती भाँ !

काफल, कुसम्यारु छ, आरु छ, आँखोड़ छ,
हिसालु-किलमोड़ त पिहल सुनुक तोड़ छ,
पै त्वि में जोवन छ, मस्ती छ, पागलपन छ,
फुलि बुरूँश ! त्योर जंगल में को जोड़ छ ?

सार जंगल में त्वि ज के न्हाँ रे के न्हाँ,
मेरि सू कैं रे त्योर फूलनक म' सुहाँ !

० ० ०